उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा-गायन शैलियों के विशेष संदर्भ में

इलाहाबाद विश्वविद्यालय को संगीत विषय में 'डॉक्टर ऑफ फिलासफी' की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

निर्देशिका
डॉ० स्वतन्त्र शर्मा
एम०ए०, डी०लिट्० (संगीत गायन)
अध्यक्षा,
संगीत व प्रदर्शन कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्त्री
श्रीमती शानू केसरवानी
एम०ए० (संगीत गायन)
संगीत व प्रदर्शन कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
'संगीत प्रभाकर'
प्रयाग संगीत समिति,
इलाहाबाद

सितम्बर, 2002

डॉ० स्वतन्त्र शर्मा
एम०ए०,डी०लिट०,
अध्यक्षा, संगीत व प्रदर्शन कला विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रमाण-पत्र

*मैं प्रमाणित करती हूँ कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **"उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा, गायन शैलियों के विशेष सन्दर्भ में" श्रीमती शानू केसरवानी** का मौलिक शोध कार्य है, जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संगीत विषय में **"डॉक्टर ऑफ फिलासफी"** की उपाधि हेतु प्रेषित किया जा रहा है। यह सम्पूर्ण कार्य मेरे निर्देशन में सम्पादित हुआ है। शोधकर्त्री ने विश्वविद्यालय के नियमानुसार निर्धारित उपस्थिति पूर्ण की है।*

Sharma
(डॉ० स्वतंत्र शर्मा)
निर्देशिका

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

भारतीय संगीत का इतिहास प्रारंभ से ही उपलब्धियों का इतिहास रहा है और इन उपलब्धियों का आधार तथा विकास मुख्यतः शास्त्रीय संगीत की समृद्धशाली परंपरायें रहीं हैं। संगीत में इन परंपराओं का संबंध प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक विकसित गायन व वादन शैलियों से रहा है। अर्थात् संगीत की सभी गायन व वादन शैलियाँ मूल रूप से किसी न किसी परंपरा या संप्रदाय या आगे चलकर घरानों के ही घेरे में फली–फूली और समृद्ध हुई जब भी संगीत की परंपरा और गायन शैलियों की चर्चा होती है तो स्वाभाविक रूप से उत्तर प्रदेश का स्थान अग्रणी हो जाता है और एक तरह से हम कह सकते हैं कि अधिकांश गायन शैलियों की जन्म स्थली के रूप में उत्तर प्रदेश का नाम लिया जाता है। गायन शैलियों के साथ–साथ अधिकांश घरानों का जन्म भी उत्तर प्रदेश में हुआ और कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण केन्द्र जैसे–अवध, रामपुर, वाराणसी, इलाहाबाद, किराना, आगरा, ब्रज भी यहाँ रहे जिसमें कलाकारों ने संगीत साधना की और एक लंबी शिष्य परंपरा संगीत जगत को दी, जिनकी वजंह से आज भी उत्तर प्रदेश का नाम संगीत के क्षेत्र में राष्ट्रीय स्तर पर लिया जाता है। आज भी ये स्थान उसी परंपरा के अंतर्गत अनेक महान कलाकारों से भरे हुये हैं। यद्यपि इस शिष्य परंपरा में बहुत से कलाकार उत्तर प्रदेश छोड़कर अन्य महानगरों में केन्द्रित हो गये हैं किन्तु फिर भी उनके साथ अभी भी इस प्रदेश का नाम बड़े आदर और गर्व के साथ लिया जाता है। परंपरागत संगीत की यहाँ अमूल्य निधि है और मैं उस परंपरागत संगीत धारा के माध्यम से इन सभी कलाकारों का हार्दिक सम्मान करते हुये अपने शोध विषय में उनका वर्णन करना चाहूँगी।

उत्तर प्रदेश की भूमिका शास्त्रीय संगीत में अहम् रही है और कुछ रियासतें जैसे–जौनपुर, रामपुर, आगरा, लखनऊ आदि जो कला प्रेमी सम्राटों और नवाबों की पूर्व राजधानियाँ थी, उसी प्रकार उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक केन्द्र अयोध्या, वृन्दावन, मथुरा

और काशी रहे है। स्वामी हरिदास और तानसेन का नाम किसने नहीं सुना? ध्रुपद, धमार, हवेली संगीत, समाज संगीत, ठुमरी, ख्याल के उत्कृष्ट कलाकारों ने यहाँ संगीत साधना की और भारतीय शास्त्रीय संगीत को दिशा प्रदान की। यदि जौनपुर ख्याल को आगे लाने में अग्रणी था तो लखनऊ और बनारस में ठुमरी का रूप सँवारा गया और ब्रज क्षेत्र में ध्रुपद गायन को एक निश्चित आकार प्रदान किया गया। किन्तु खेद है कि उत्तर प्रदेश में ही संगीत की शिक्षा प्राप्त कर संगीत साधकों को कलाकार बनने के लिये उत्तर प्रदेश छोड़कर जाना पड़ा। काल के प्रवाह में राजाश्रय समाप्त हो गये। आज उत्तर प्रदेश में शास्त्रीय संगीत की वर्तमान स्थिति क्या है? राजाश्रय समाप्त होने से संगीतज्ञ अपनी कला का अभ्यास करने के स्थान पर सामान्य विद्यालयों व संस्थाओं में अध्यापन कर रहे हैं। आज जो मूल प्रश्न हमारे सामने है वो ये कि क्या इस संस्थागत प्रणाली से संगीत की महान और कलात्मक परंपरा सुरक्षित रह पायेगी। इन सभी प्रश्नों का समाधान हमें ढूँढ़ना है। चाहे वह प्रशासक हो, शिक्षक हो, कलाकार हो या विद्यार्थी या फिर अभिभावक। ये सही है कि राज्य सरकार द्वारा संगीत के प्रचार–प्रसार में कुछ कलाकारों को सहायता दी जा रही है। लखनऊ, इलाहाबाद, वाराणसी में उच्चस्तरीय शास्त्रीय संगीत सम्मेलन आयोजित होते रहते हैं। किंतु 15–20 लाख से ऊपर आबादी वाले इन शहरों में 300–400 से अधिक श्रोता मुश्किल से दिखते हैं। वैसे तो उत्तर प्रदेश में अभी भी अनेक गुरू हैं किन्तु उनके ज्ञान से आज की युवा पीढ़ी अपेक्षाकृत कम लाभान्वित है। आज के परिवेश में उत्तर प्रदेश में संगीत का भविष्य संस्थागत शिक्षण पर ही निर्भर है। यदि उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को जीवन्त रखना है तो गुरूकुल पद्धति से संगीत शिक्षण की व्यवस्था का विचार हम सबको करना होगा।

प्रस्तुत शोध प्रबंध का चयन करते समय मेरी यही परिकल्पना रही है कि जब उत्तर प्रदेश संगीत के क्षेत्र में इतना महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है और संगीत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण कड़ीं के रूप में इस प्रदेश की गणना होती है और फिर आज भी यहाँ के प्रमुख नगर वाराणसी, इलाहाबाद, लखनऊ, रामपुर, आगरा, मथुरा, वृन्दावन संगीत

के बड़े–बड़े कलाकारों और उनकी शिष्य परंपरा से परिपूर्ण है और आज भी संगीत सीखने के लिये अनेकों शिष्य इस प्रदेश के गुणी, विद्वानों से शिक्षा प्राप्त करने आ रहे हैं तो ऐसे महत्वपूर्ण प्रदेश और उसकी समृद्धशाली सांगीतिक परंपरा को एक शोध प्रबंध के रूप में चिरस्थायी रूप दिया जाय, जिससे आगे आने वाले संगीत के शोध विद्यार्थी, विश्वविद्यालयों व संगीत शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थी अपनी ही परंपरा से वंचित न रहे, उन्हें गर्व हो सके कि उत्तर प्रदेश संगीत के क्षेत्र में कितना अहम् रहा है।

मैंनें अपने शोध प्रबन्ध में परंपरागत गुरूओं व उनकी शिष्य परंपरा, उत्तर प्रदेश के अधिकांश घरानों व उनकी गायन शैलियों पर विस्तृत रूप से चर्चा करने का प्रयास किया है। मैंने अपने शोध प्रबन्ध को मुख्यतः ग्यारह अध्यायों में बाँटा है–

प्रथम अध्याय :

''**विषय प्रवेश**'' के अन्तर्गत मैंने भारतीय संगीत की गायन शैलियों के अन्तर्गत भारतीय संगीत की गायन शैलियों का क्रमिक विकास, उद्‌भव गीति, जाति गायन, प्रबन्ध, ध्रुपद, धमार इत्यादि, वर्तमान तक प्रचलित अधिकांश गायन शैलियों के बारे में वर्णन करने का प्रयत्न किया है। इस पृष्ठभूमि के उपरान्त शोध प्रबन्ध के विषय में प्रवेश करते हुये खंड 'ब' के अन्तर्गत हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के विकास में उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा एवं उसके योगदान की चर्चा की है, जिसके बाद श्रृंखला रूप से अन्य अध्यायों में गायन शैलियों की वृहद चर्चा उत्तर प्रदेश के संबंध में कड़ी के रूप में जुड़ सकी है। इस अध्याय के अन्त में एक प्रमुख विचार बिन्दु उभरकर सामने आया है कि आज के परिवेश में शास्त्रीय संगीत की वर्तमान स्थिति क्यों प्रभावित हो रही है? किस प्रकार उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को आगे बढ़ाया जाय?

द्वितीय अध्याय :

''उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा के सन्दर्भ में ध्रुपद गायन शैली का योगदान'' के अन्तर्गत ध्रुपद गायन का महत्व, उद्‌भव, विशेषताएँ और ध्रुपद की बानियों की पृष्ठभूमि में स्वामी हरिदास, तानसेन, इनकी शिष्य परम्परा और ध्रुपद के प्रमुख केन्द्र वृन्दावन, आगरा, रामपुर, अतरौली, सहारनपुर, फतेहपुर सीकरी, बनारस का बेतिया ध्रुपद घराना इत्यादि की चर्चा की है साथ ही कुछ प्रमुख ध्रुपद स्वरलिपि सहित भी लिये गये हैं और कुछ ऐसे कलाकारों का भी वर्णन किया है जिनका जन्म और शिक्षा तो उत्तर प्रदेश में ही हुआ किन्तु अन्य प्रदेशों की रियासतों के आमंत्रण पर जीविकोपार्जन के उद्‌देश्य से वे अन्य दरबारों से जुड़ गये।

तृतीय अध्याय :

शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय **''सांगीतिक विरासत के रूप में धमार शैली का स्थान व योगदान''** के अन्तर्गत मैंने ये स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि धमार गायन शैली के सन्दर्भ में ब्रज क्षेत्र की अद्वितीय भूमिका रही है अर्थात् धमार भी ब्रज भूमि के वृन्दावन क्षेत्र की देन है इसलिये धमार की भाषा भी हिन्दी मिश्रित ब्रज होती है। धमार की विषय–वस्तु बरसाना क्षेत्र से, जो ब्रज का है, सम्बद्ध है। इसके उपरान्त मैंने धमार गायन शैली की विशेषताएँ और धमार से सम्बन्धित स्थानों एवं घरानों में सहारनपुर, रामपुर, फतेहपुर सीकरी घराने और वृन्दावन क्षेत्र एवं यहाँ के कलाकारों का वर्णन करके धमार गायन शैली को उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित दिखाया है। धमार की परिभाषा, उसकी विषय–वस्तु, धमार के प्रकार एवं धमार की कुछ स्वरलिपियों को मैंने इस प्रबंध में सम्मिलित किया है।

चतुर्थ अध्याय :

''सर्वाधिक प्रचलित गायन शैली के रूप में ख्याल का विकास व प्रचार'' के अन्तर्गत मैंने ख्याल का उद्‌भव, विकास, अर्थ, घरानों के रूप में ख्याल शैली का विकास, ख्याल के विविध घराने जैसे–आगरा, सिकंदराबाद का रंगीला घराना, अतरौली

घराना, खुर्जा घराना, मथुरा का घराना, किराना घराना एवं सहसवान घराना, रामपुर घराना आदि का वर्णन किया है। जैसा कि सर्वविदित है कि ख्याल का विकास जौनपुर के शर्की सुल्तानों के दरबार से प्रारंम्भ हुआ। अतरौली घरानों की तरह आगरे घराने में भी ख्याल को प्रमुखता दी गई और फिर सहसवान और रामपुर घराने भी उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा में अत्यंत महत्वपूर्ण रहे। उत्तर प्रदेश में ही किराना घराना अत्यन्त प्रसिद्ध घराना हुआ और वाराणसी के ख्याल गायन से तो अनेक विधाओं का विकास हुआ, जिसकी परंपरा में बड़े रामदास जी, छोटे रामदास जी, श्यामसुन्दर मिश्र, राजन–साजन मिश्र आदि है। मैंने इस अध्याय के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के मूर्धन्य कलाकार गायकों जैसे अब्दुल करीम खाँ, उ० फैयाज खाँ, उ० विलायत खाँ, श्री कृष्ण नारायण रातनजंकर, भास्कर राव बखले, गुलाम अब्बास खाँ, मुहम्मद खाँ, कुतुब अली खाँ, फिदा हुसैन खाँ इत्यादि का वर्णन किया है। अन्त में मैंने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि यद्यपि ख्याल आज की सर्वाधिक प्रचलित शैली है किन्तु ख्याल के घराने आज लगभग लुप्त प्रायः से है।

पंचम् अध्याय –

''**उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में ठुमरी का स्थान व विकास**'' के अन्तर्गत मैंने उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में समृद्धशाली परंपरा के रूप में ठुमरी की विशेष चर्चा की है। अधिकतर विद्वानों ने ये स्वीकार किया है एवं ऐतिहासिक तथ्य भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि ठुमरी के उद्‌भव, विकास तथा प्रचार में उत्तर प्रदेश की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। साक्ष्य के रूप में उत्तर प्रदेश के दो प्रमुख सांगीतिक केन्द्र लखनऊ और बनारस में ठुमरी का रूप सँवारा गया। लखनऊ की ठुमरी गायकी का श्रेय पं० बिन्दादीन महाराज, नवाब वाज़िद अलीशाह और अन्य कलाकारों को है और लखनऊ उभरा हुआ ठुमरी अंग का रूप ही बाद में बनारस की पूरब अंग की ठुमरी का आधार माना जाने लगा।

इस अध्याय के अन्तर्गत मैंने ठुमरी का संबंध नृत्यकला से जोड़ते हुये कालांतर में नृत्य से पृथक होकर गीत की विशेष विद्या के रूप में ठुमरी का वर्णन किया है। साथ ही ठुमरी में प्रयुक्त रागों जैसे बरवा, पहाड़ी, काफी, भैरवी, देस, पीलू आदि में ब्रजभाषा का प्रयोग बताया है। ठुमरी की कुछ स्वरलिपियाँ भी देते हुये ठुमरी के कुछ प्रमुख कलाकारों का वर्णन किया है। फर्रूखाबाद निवासी ललनपिया का ठुमरी के क्षेत्र में विशेष योगदान है साथ ही काले खाँ उ० अब्दुल करीम खाँ एवं बेग़म अख़्तर की विशेष रूप से चर्चा की है।

षष्टम् अध्याय :

''**टप्पा–शास्त्रीय संगीत की एक क्लिष्ट शैली एवं उत्तर प्रदेश में उसका विकास**'' के अन्तर्गत मैंने लिखा है कि उद्गम की दृष्टि से यद्यपि इस शैली का पंजाब प्रांत से अटूट सम्बंध है किन्तु विकास और प्रचार की दृष्टि से उत्तर प्रदेश में लखनऊ और बनारस की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि टप्पा गायन शैली के प्रवर्तक गुलाम नबी शोरी मियाँ युवावस्था से ही लखनऊ आ बसे और बाद में वाराणसी आ गये, जहॉ टप्पा शैली का उन्होंने खूब प्रचार–प्रसार किया। इसके बाद मैंने टप्पा गायन की विशेषताएँ, लोकगीत के रूप में टप्पा, टप्पे के उपशास्त्रीय रूप का विकास, टप्पा गायन शैली के अंग, उसके घराने, टप्पा शैली का अन्य शैलियों पर प्रभाव और अन्त में टप्पे की कुछ स्वरलिपियाँ दी हैं।

सप्तम् अध्याय :

''**गायन शैलियों के विकास में कुछ सांगीतिक परंपराओं का विशेष योगदान**'' के अन्तर्गत मैंने काशी की संगीत परंपरा, रामपुर की संगीत परंपरा, हवेली संगीत की परंपरा का विशद् वर्णन किया है। जैसे–काशी की संगीत परंपरा में जो प्रमुख बिन्दु है वो है काशी का पियरी घराना, शिवदास –प्रयाग मिश्र घराना, श्री जगदीप मिश्र घराना, जयकरन मिश्र घराना, जिसके प्रतिनिधि शिष्य श्री बड़े रामदास मिश्र हुये। काशी की

गायन परंपरा के अन्य विविध घराने और उनके प्रख्यात समकालीन संगीतज्ञ सुप्रसिद्ध गायिकाओं इत्यादि का वर्णन किया है।

रामपुर की संगीत परंपरा में प्रमुख केन्द्रों के साथ–साथ रामपुर की परंपरा से प्रभावित विविध घरानों की भी चर्चा की है जैसे– रामपुर से प्रभावित सहसवान घराना, ग्वालियर घराना, मैहर, आगरा घराना, महाराष्ट्र के संगीतकार और रामपुर, अवध के कलाकार और रामपुर इत्यादि का वर्णन किया है। इस अध्याय के अंत में उत्तर प्रदेश की अत्यंत महत्वपूर्ण एवं पुष्ट परंपरा हवेली संगीत के रूप में मन्दिरों की संगीत परंपरा का वर्णन किया है। हवेली संगीत की ये परंपरा उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा का आधार है जिसमें मथुरा, वृन्दावन, नाथद्वारा और कांकरौली के मन्दिरों को संगीत की दृष्टि से अधिक समृद्ध माना गया है और इस परंपरा के अवशिष्ट रूप आज भी विद्यमान है। पुष्टिमार्गीय मन्दिरों के संगीत का उद्‌गम व विकास तथा हवेली गान शैली के ध्रुपद और विष्णुपद का सोदाहरण वर्णन किया है। हवेली संप्रदाय के गायकों जैसे कुंभनदास, कृष्णदास, सूरदास, परमानंददास इत्यादि का वर्णन किया है।

अष्टम् अध्याय :

''आज के परिवेश में उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में शिक्षण संस्थाओं व संगीत अकादमी का महत्वपूर्ण योगदान'' के अन्तर्गत मैनें उत्तर प्रदेश की संगीत शिक्षण संस्थाओं द्वारा संगीत के प्रचार–प्रसार, यहाँ के सांगीतिक सम्मेलनों की परंपरा, आकाशवाणी, दूरदर्शन एवं प्रेस, पुस्तकें तथा पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से इस प्रदेश की संगीत परंपरा के विकास में सहायता आदि का वर्णन किया है।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार द्वारा प्रत्येक प्रदेश में शिक्षा प्रणाली एवं पाठ्यक्रम का विस्तार किया गया। आज उत्तर प्रदेश में प्रादेशिक स्तर पर 'संगीत नाटक अकादमी', 'उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र' इलाहाबाद आदि का संगीत के प्रचार–प्रसार में विशेष योगदान है। साथ ही प्रदेश में अनेक विश्वविद्यालय एवं शिक्षण

संस्थान इत्यादि संगीत के प्रचार–प्रसार में अद्भुत कार्य कर रहे हैं। संगीत संगोष्ठियाँ एवं प्रदर्शन भी इस प्रदेश में बहुत प्रचलित है। जगह–जगह संगीत की परिचर्चा, कार्यशालाओं, स्टूडियो रिकॉर्डिंग, नवोदित कलाकारों को प्रोत्साहन, पुरस्कार, इत्यादि के द्वारा संगीत के प्रचार–प्रसार वृद्धि हो रही है।

नवम् अध्याय :

''**उत्तर प्रदेश की वर्तमान सांगीतिक परंपरा में कुछ संगीत शास्त्रियों व कलाकारों का योगदान**'' के अन्तर्गत मैंने उन सभी महान् विभूतियों की संक्षिप्त चर्चा की है जिनमें वाराणसी, इलाहाबाद और लखनऊ का प्रमुख स्थान है। आज भी यहाँ गुणी कलाकार संगीत साधना में रत हैं और शिष्यों को विधिवत् शिक्षण दे रहे हैं। जिनमें श्री बलवन्त राय भट्ट **'भावरंग'**, प्रो० चितरंजन ज्योतिषि, प्रो० प्रदीप दीक्षित, प्रो० रामाश्रय झा, गीता बनर्जी, श्रीमती गिरिजा देवी, राजन–साजन मिश्र, डॉ० स्वतंत्र शर्मा इत्यादि के सांगीतिक योगदान की चर्चा मैंने की है।

दशम् अध्याय :

''**गायन शैलियों के सन्दर्भ में लोकसंगीत का महत्व**'' के अन्तर्गत मैंने उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोक संगीत की अनेक विधाओं जैसे–चैती, कजरी, सावन, रसिया, फाग व पूरबी आदि का वर्णन किया है। जिसमें बनारस, मिर्ज़ापुर, मथुरा, और ब्रज आदि स्थान अग्रणी रहा है। इस अध्याय को लिखते समय मैंने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि वास्तव में उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा इतनी विस्तृत, सहृदयी, उदार है कि शास्त्रीय संगीत के साथ–साथ इस प्रदेश ने लोकसंगीत को भी पूर्ण रूप से अपनाया और शास्त्रीय संगीत के समान ही यहाँ की लोकसंगीत की विधायें देश भर में प्रचलित है तथा लोकसंगीत के कलाकार देश के महानगरों के साथ–साथ बराबर विदेशों में भी आमंत्रित किये जाते हैं। साथ ही मैंने इस प्रदेश में प्रचलित कुछ लोक संगीत के पर्वों का भी वर्णन किया है जैसे **'बुढ़वा मंगल'**, **'गुलाब बाड़ी'** और ब्रज में

फाग, होरी, रसिया के अनेक आयोजन अत्यंत प्रचलित है। आगरा और उसके समीप ही लोकसंगीत की एक आकर्षक विधा **'ख्याल लावनी'** का विकास हुआ जो हिन्दी उर्दू भाषा–भाषियों के मध्य अत्यंत लोकप्रिय हुई है। आज लोकसंगीत की ये सभी विधायें उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को समृद्ध कर रही हैं।

एकादश अध्याय :

'शोधकार्य का निष्कर्ष एवं उपलब्धि' के' अन्तर्गत मैंने भारतीय संगीत के क्षेत्र के विकास में उत्तर प्रदेश की अहम् भूमिका के बारे में बताने का प्रयास किया है साथ ही इस बात को प्रमुखता से दर्शाया है कि आज जो भी गायन शैलियाँ प्रचार–प्रसार में है उनमे से अधिकतम् शैलियों का मूल उत्तर प्रदेश में मिलता है। इसके अतिरिक्त शोध प्रबन्ध के ग्यारह अध्यायों के बारे में संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए निष्कर्ष एवं सुझाव दिये हैं।

शोधकार्य के दौरान मुझे अनेक समस्याओं एव जटिलताओं का सामना करना पड़ा जिससे मैं कई बार निराश भी हुई। किन्तु ऐसे समय में मुझे प्रेरणा देने वाली मेरी भगिनीवत् निर्देशिका, संगीत जगत की महान विभूति, अत्यन्त विदुषी, स्नेही, वात्सल्यमयी एवं उदार ह्दया श्रीमती डॉ० स्वतंत्र शर्मा, अध्यक्षा संगीत व प्रदर्शन कला विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद है। जिनके सदैव सुलभ निर्देशन में मैंने यह शोधकार्य किया। आपने अपने स्नेही व उदार ह्दय से मेरे प्रति वात्सल्यभाव रखते हुये इस कार्य में आने वाली अनेक कठिनाईयों एवं निराशाओं से लड़ने का साहस व लक्ष्य तक पहुँचने के लिये प्रेरणा प्रदान किया। यद्यपि इसके लिये मुझे आपसे मातृभावमयी प्रसाद स्वरूप डाँट भी खानी पड़ी, जिसने मेरे शोध कार्य को प्रगति देने में जादू सा असर किया। शोध प्रबन्ध जो आज इस रूप में है वह उन्हीं की स्नेहमयी कृपा का प्रतिफल है। आपने अपने संग्रहीत पुस्तकालय से अनेक पुस्तकों को अध्ययन व मनन के लिये प्रदान किया, आवश्यकता पड़ने पर आपने प्रकाशन केन्द्रों से भी कुछ अनुपलब्ध पुस्तकें मँगवायी और साथ ही साथ दिशा निर्देश भी प्रदान किया। आपके

इस महान उपकार असीम कृपा, स्नेह, अत्यंत उदारता व अनुकम्पा को शब्दों में व्यक्त कर पाना तो असंभव है क्योंकि शब्दों की क्षमता तो सीमित है। इसे तो केवल अपने ह्रदय से ही अनुभव कर सकती हूँ।
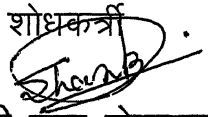
इस सत्य को भी नहीं नकारा जा सकता है कि मानव जीवन में उसके लक्ष्य तक पहुँचाने वाले कुछ प्रेरणास्रोत होते हैं। इसमें परिवार का सहयोग सर्वोपरि होता है। यहाँ सर्वप्रथम मैं अपने पूज्य माता–पिता स्व० जवाहर लाल केसरवानी व श्रीमती निर्मला केसरवानी के प्रति श्रृद्धा से अभिभूत हूँ। पिता जी ने तो मुझे कभी भी अपने किसी भी कार्य से संतुष्ट ही नहीं होने दिया और उसी असंतुष्ट प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप मैं शोधकार्य की ओर अभिमुख हुई। शोधकार्य के दौरान ही पिता जी की अकस्मात मृत्यु से मेरे जीवन की गति ही थम गई, शोधकार्य में रूकावट आना तो स्वाभाविक ही था। ऐसे समय में पुनः प्रेरणा संबल के रूप में मैंने अपने सामने पाया, मेरी आदरणीया श्रीमती स्वतंत्र शर्मा जी को, जिन्होंने मुझे प्रेरित करते हुए जागरूक किया। रही माता जी की बात तो उनकी गुनगुनाहट सुनकर ही मेरे ह्रदय में संगीत के प्रति एक संस्कार व आदर की भावना जागृत हुई व जिनकी कृपा व स्नेहाशीष से मेरा संगीत से संबंध स्थापित हुआ। इसके अतिरिक्त मेरी अनुजा सुरीली केसरवानी ने भी इस कार्य को पूर्ण करने के लिये मेरी हर संभव मदद की, जिसके लिये मैं विशेष स्नेह व्यक्त करती हूँ।

शोधकार्य के दौरान ही परिणय–सूत्र में बँध जाने के कारण मेरे इस कार्य में कुछ और स्नेही लोगों का सहयोग मुझे प्राप्त हुआ, जिनमें सर्वप्रथम माता–पिता स्वरूप सास–श्वसुर श्रीमती हीरामनी व श्री रघुनाथ सिंह केसरी के प्रति मैं ह्रदय से कृतज्ञ हूँ। मेरे पुत्र 'चैतन्य' के जन्म होने पर एक बार मैं पुनः निराशा से घिर गई और मुझे अपना शोध कार्य पूर्ण होना स्वप्न सा प्रतीत होता दिखाई देने लगा। उस समय आपने मुझे पढ़ने व शोधकार्य पूर्ण करने के लिये उत्साहित व प्रेरित किया। आप दोनों के प्रति में ह्रदय से श्रृद्धा एवं आभार व्यक्त करती हूँ। इसके अतिरिक्त मैं अपनी जेठानी श्रीमती मीना केसरी व भतीजी अग्रिमा केसरी के प्रति भी आभार व स्नेह व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मुझे सहयोग दिया।

इन सबके अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण सहयोग मुझे मेरे देवतुल्य पति श्री राजेश सिंह केसरी से प्राप्त हुआ। उनकी इच्छा व सहयोग के विरूद्ध यह कार्य पूर्ण होना असंभव ही था। इस शोधकार्य के दौरान जहाँ कहीं भी मुझे जाना पड़ा वह अपने साथ ले गये और उन्होंने हर कदम पर मेरा साथ दिया। यहाँ तक कि शोध–प्रबन्ध के प्रणयन तक तक अपना बहुमूल्य समय देते हुये मुझे अनेक प्रकार से प्रेरणा, परामर्श व सहयोग देकर मेरी सहायता की है। उन्हें लिखित धन्यवाद देना मात्र औपचारिकता होगी। उनके इस योगदान को सदैव याद रखना ही मेरी उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता है।

इस शोध कार्य को करते समय मैंने संगीत जगत के अनेक विद्वानों की पुस्तकों एवं लेखों का अध्ययन किया है, जिससे ये शोधकार्य पूर्ण हो सका है। मैं उन सबके प्रति ह्दय से आभारी हूँ।

शोधकर्त्री

दिनांक
30.09.2002

(श्रीमती शानू केसरवानी)

प्रथम अध्याय

विषय–प्रवेश

(स) भारतीय संगीत की गायन शैलियों का क्रमिक विकास–शास्त्रीय दृष्टि से

(रे) हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के संदर्भ में उत्तर प्रदेश का महत्वपूर्ण योगदान

विषय-प्रवेश

(अ) भारतीय संगीत की गायन शैलियों का क्रमिक विकास–शास्त्रीय दृष्टि से

यद्यपि भारतीय संगीत की गायन शैलियों की उत्पत्ति, उद्भव विभिन्न स्थानों पर हुई परन्तु इनके विकास की दृष्टि से उत्तर प्रदेश की पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण स्थान रखती है। चाहे वह ध्रुपद हो अथवा टप्पा, ख्याल, ठुमरी आदि। कुछ गायन शैलियाँ तो उत्तर प्रदेश में उत्पन्न भी हुई जैसे–धमार, हवेली संगीत, ठुमरी, लोकसंगीत की कजरी, पुरबी, चैती आदि गेय विधाएँ । भारतीय संगीत की गायन शैलियों के विकास में उत्तर प्रदेश की क्या भूमिका रही है? ये बात मैं विभिन्न अध्यायों के माध्यम से आगे बताने का प्रयास करूँगी लेकिन अभी मैं शास्त्रीय दृष्टि से भारतीय संगीत की गायन शैलियों के क्रमिक विकास के बारे में प्रकाश डालने का प्रयास करूँगी–

शास्त्रीय दृष्टि से गायन शैलियों के क्रमिक विकास को जानने के लिये हमें गायन शैलियों के प्राचीन रूप पर दृष्टिपात करना होगा जो वैदिककाल से ही समय–समय पर परिवर्तित होती रहीं और संगीत की विभिन्न शैलियाँ अपना विविध रंगी रूप दिखाती रहीं। सामगान से लेकर आज तक अनेक गायन शैलियाँ आरम्भ हुई, विकसित हुई और समय के परिवर्तन के साथ–साथ ही वह अप्रचलित होती गई। पुरानी शैलियों से ही समय के साथ नई–नई शैलियाँ विकसित होती गई। इस प्रकार प्राचीनतम् शैली और आज तक प्रचलित शैलियों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध देखा जा सकता है।

गायन शैलियों का उद्भव :

गायन शैलियों का उद्गम कब, कहाँ, कैसे हुआ? इस पर हम विचार करेंगे। प्राचीन शैलियों के आधार पर अथवा प्राचीन तथा आधुनिक संगीत के मिश्रण से, या फिर प्राचीन शैलियों के स्वाभाविक विकास मात्र से अर्थात् क्रमिक उन्नति द्वारा इनका उद्गम हुआ। वैदिककाल से पूर्व मानव अपने मनोभावों को विभिन्न कंठ ध्वनियों द्वारा व्यक्त करता था। आज भी संगीत का आधार हम इन्हीं मनोभावों और वाणी को या स्वर को मान सकते हैं अर्थात् मधुर ध्वनियाँ ही संगीत शैली का आधार है। देवताओं को संतुष्ट करने के लिए धीरे–धीरे यज्ञ का निर्माण हुआ जिसमें ऋग्वेद की ऋचायें गाती जाती थीं। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं को गेय रूप देकर "साम **संहिता**" नाम दिया। इस प्रकार प्राचीन काल से ही स्वर–लय युक्त मंत्रों द्वारा ईश्वर की उपासना की जाती थी। प्राचीन काल के साम संगीत से लेकर आज तक की सभी शैलियों का आधार स्वर है। वैदिक संगीत से लेकर आगे के समय तक संगीत बहुत परिवर्तित हो गया और विभिन्न शैलियों का उद्भव प्रारंभ हो गया, जिसका क्रम इस प्रकार है–

गीति :

भारतीय संगीत के प्राचीन ग्रंथों में गीतियों का उल्लेख मिलता है, जो दो प्रकार की थी– 1- स्वराश्रिता, 2- पदाश्रिता। इन गीतियों की संख्या विभिन्न **शास्त्रकारों** के अनुसार बदलती गई। इन गीतियों के तत्व आज के गायन शैलियों में भी भिन्न–भिन्न प्रमाण में दिखाई पड़ते हैं, जैसे–ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, टप्पा आदि शैलियों के स्वर प्रयोगों में तथा विभिन्न रागों की स्वर संरचना में देख सकते हैं।

जाति गायन :

जाति गायन का समय पहली ई० से 800 ई० तक माना जाता है। वैसे 'रामायण' में भी जाति का उल्लेख मिलता है और 13 वीं शताब्दी के **'संगीत रत्नाकर'** ग्रंथ में भी जाति का वर्णन मिलता है। जातियाँ **''नाट्यशास्त्र''** में वर्णित ध्रुवा गीतों की स्वरलिपि या सांगीतिक अंग थी। वे गीति साहित्य या संगीत की मिश्रित बंदिशें थीं जो नाटक के दो भागों के बीच में गायी जाती थीं। इस प्रकार ये जातियाँ 18 जातियों में विकसित हुई और जाति व गीति शैलियाँ कुछ समय के लिये लगभग साथ–साथ चलीं। समय परिवर्तन के साथ–साथ आगे आने वाली पीढ़ियाँ इन्हीं शैलियों को अपनाती रहीं। जातियों के पश्चात् लगभग दो–तीन सौ वर्ष तक संगीत की कोई भी शैली सामने नहीं आई। कोई सात–आठ सौ ई० तक भारत छोटे–छोटे राज्यों में बँट गया था। विभिन्न राज्यों के राजाओं में द्वेषभाव रहने के कारण कलाकरों की मनोवृत्ति संकीर्ण हो गयी जिसके कारण संगीत का विकास कुछ अवरूद्ध हो गया। आठवीं शताब्दी में हिन्दू गायकों, शिल्पियों, दार्शनिकों से मुसलमानों का संपर्क हुआ जो व्यापार के लिये भारत आये थे। मुसलमानों ने भारतीय भाषा व लोकाचार अपनाया और हिन्दू व मुसलमानों का मेलजोल बढ़ता गया।

प्रबन्ध :

11 वीं शताब्दी के लगभग राजपूत काल में ही संगीत दो धाराओं विभाजित हो गया उत्तर भारतीय संगीत व दक्षिण भारतीय संगीत। इसी काल में सर्वप्रथम 'प्रबन्ध' का विकास हुआ। डॉ० स्वतन्त्र शर्मा जी के अनुसार–

" Prabandh was a vocal composition form, a systematic and organised type of Giti (song) with sanskrit texts. The word "Prabandh" literally means anything well KNIT or well fitted Pra + Bandh + Dhatra = Prabandh .In music Prabandh means a combination of Dhatu and Ang. Prabandh form of vocal music emerged in the 11th century because Jaideo has written "Geet-Govind" in the style of Prabandh.

Sarangdev also devoted a whole chapter to Prabandh in his "Sangit-Ratnakar". He maintains that there are four components of a prabandh, viz........udgraha, Melapaka, Dhruva and Abhoga. The prabandh style of music enjoyed great popularity upto the 13th Century. From the 14th Century Dhrupada began to take its place. The present form of Dhrupada is an envolved form of prabandh style."[1]

जयदेव द्वारा लिखित पुस्तक **'गीत-गोविंद'** प्रबन्ध शैली में है। ये प्रबन्ध संस्कृत भाषा में है जिसमें राधा–कृष्ण का वर्णन है। संगीत में प्रबन्ध का प्रयोग एक गायन शैली के रूप में किया गया। पं० शारंगदेव की **'संगीत रत्नाकर'** नामक पुस्तक का तीसरा अध्याय **''प्रबन्धाध्याय''** नाम से ही लिखा गया है, जिसमें प्रबन्ध की ही चर्चा है। 1000 ईसा पूर्व से लेकर 1290 ईसा तक प्रबन्ध प्रचलित रहे और इस बीच भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होते रहे। व्यापार के साथ–साथ मुसलमानों ने भारत में अपने धर्म का प्रचार भी आरंभ कर दिया। भारत के राजाओं में द्वेषभाव रहने के कारण उनकी हार हुई और इस प्रकार मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव भारत में बढ़ गया। कलाकारों, संगीतज्ञों और विद्वान लेखकों को मुस्लिम संस्कृति के बारे में ही लिखने के लिये बाध्य किया जाने लगा और इस प्रकार जिस संगीत का इस काल में विकास हुआ वह मुस्लिम संस्कृति पर आधारित था। फिर भी 13 वीं शताब्दी तक कुछ संगीत सेवकों के द्वारा प्रबन्ध गायन शैली की रक्षा की गई।

ध्रुपद :

प्रबन्ध के सैकड़ों प्रकार तथा उनके भेद व उपभेद थे। उनमें एक प्रबन्ध था **''सालग सूड़''** और उसका एक भेद था **'ध्रुव'**। इसमें अक्षरों की संख्या, स्वर, ताल, प्रस्तुति ढंग सभी सुनिश्चित होते थे। संभवतः नवगीत **'ध्रुपद'** की प्रेरणा इसी 'ध्रुव' प्रबन्ध से मिली अर्थात् ध्रुवपद की उत्पत्ति 'ध्रुव' प्रबंध से हुई। ध्रुव के चार अवयव थे– उदग्राह,

---

1. डॉ स्वतन्त्र शर्मा– 'भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण' पृष्ठ–337

ध्रुव, अन्तरा और आभोग। जो आगे चलकर स्थाई, अन्तरा, संचारी और आभोग नाम से प्रचलित हुये। कुछ प्रबन्ध दो चरणों के ही होते थे। अतः कुछ ध्रुवपदों में भी दो ही 'तुक' रखे गये– **'स्थाई'** **और** **'अन्तरा'**। ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर (1486.1516 ई०) संगीत मर्मज्ञ थे। उन्होंने संगीत विषयक एक ग्रंथ लिखा था **'मानकुतूहल'**। कोई दो सौ साल बाद मुग़ल बादशाह **'औरंगजेब'** के एक संगीत रसिक सेनानायक **फ़कीरूल्लाह** ने फ़ारसी में उसका अनुवाद किया और उसका नाम **''रागदर्पण''** रखा। उसके अनुसार, मानसिंह तोमर ही ध्रुपद' के जन्मदाता थे। किन्तु उनका कथन तर्कसंगत नहीं लगता। कोई व्यक्ति विशेष चाहे जितना भी प्रतिभासम्पन्न क्यूँ न हो, किसी गायन शैली का सृजन नहीं करता। वह तो युग की रूचि के अनुकूल और निरन्तर प्रयोगों के परिणामस्वरूप अपने आप बन जाती है। हाँ, मानसिंह ने अपने दरबारी नायकों की सहायता से ध्रुपद को निखारा, सँवारा और उसे एक पहचान दी।

ध्रुपद की उत्पत्ति 'ध्रुव प्रबन्ध' से भले ही हुई हो किन्तु अन्य प्रबन्ध प्रकारों का असर उस पर पड़ा ही होगा। 'ध्रुव' का अर्थ है– नियत, विशिष्ट रूप से रचित और पद का अर्थ है–स्वर ताल से लसित काव्य। अतः ध्रुवपद वह शैली थी, जिसमें शब्द, राग, स्वर, ताल, मात्रा और लय सभी सुनिश्चित होते थे। इसकी अदायगी में कलावंत कोई फेरबदल अथवा मनमानी नहीं कर सकता था। प्रबंधों का अपना अनुशासन था, अपने नियम थे। ध्रुपद को स्वभावतः यह अनुशासन अपने पूर्वज प्रबंध से विरासत में मिले। जयेदव का **'गीतगोविन्द'** प्रबंध शैली में ही गाया जाता था। उसने भी ध्रुपद पर अपनी छाप अवश्य छोड़ी होगी।

इस्लामी सत्ता की स्थापना के साथ ही भारतीय संगीत में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। अरब, अफ़गान, फ़ारसी, तुर्क, मंगोल–ये सब जब आये तो अपने संग अपनी संगीत परंपरा भी लाये। उनकी अपनी रूचि थी, ज़ुबान थी और अपनी गायन शैलियाँ थी। जबकि

भारतीय संगीत का संस्कार व व्यक्तित्व अलग था। देशी–विदेशी सभी ने युग की माँग को स्वीकारा। परिणामस्वरूप एक ऐसी सांगीतिक सरिता का उद्गम हुआ जिसमें सभी धाराओं का सामंजस्य था। दूरस्थ दक्षिण काफी समय तक इस प्रभाव से अछूता रहा। किन्तु उत्तरी अथवा हिन्दुस्तानी संगीत अपने परिवर्तित परिवेश में उभरने लगा प्रबंध जनित ध्रुपद दो धाराओं में बँट गया। एक वह विद्या, जो मध्यकालीन मन्दिरों में फली–फूली ओर जिसे **'विष्णुपद'** अथवा **'हवेली संगीत'** की संज्ञा मिली और दूसरी वह जो राजाश्रय में दरबारों में शासकों की रूचि के अनुकूल बनती, बदलती रही। 'विष्णुपद' भक्तिपरक था और उसका उद्देश्य था–आत्मानन्द। दरबारी ध्रुपद मुख्यतः भोगपरक था और उसका उद्देश्य था आश्रयदाताओं को रिझाना। विष्णुपद के प्रतिनिधि थे स्वामी हरिदास और दूसरे के अगुवा थे अकबरी नवरत्न मियाँ तानसेन। अकबरी युग ध्रुवपद का स्वर्ण युग था। उस काल में एक से बढ़कर एक **'गायक'** और **'नायक'** हुये। जो केवल गाता था वह **'गायक'** कहलाता था और जो विद्वान गायक, कवि, संगीतशास्त्री तीनों होता था, उसे **'नायक'** कहा जाता था।

शाहजहाँ के दरबार में भी ध्रुपद को बड़ा आश्रय मिला। उसने उसके नायक बख्शू के एक हजार ध्रुपदों का एक संग्रह भी कराया। जिसका शीर्षक **'सहसरस'** था। औरंगज़ेब को संगीत में कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी किन्तु उसके यश–वर्णन में कितने ही ध्रुपद रचे गये। इस काल की पुष्टि राग दरबारी कान्हड़ा में, चौताल में निबद्ध इस ध्रुपद से होती है–

'धन-धन तू दिल्लीपति, छत्रपति,
बखत बली, औरंगज़ेब, जलालुद्दीन।''

ध्रुपद की यह शानदार परंपरा चार सौ साल चक चलती रही। मुग़ल सत्ता ज्यों–ज्यों दक्षिण की ओर बढ़ती चली गई, ध्रुपद उधर भी उभरता गया। अधिकांश ध्रुपदों की रचना मध्यकाल में हुई। 17 वीं सदी के संगीतशास्त्री भावभट्ट ने ध्रुपद की विशद् व्याख्या की है।

किन्तु अब जो ध्रुपद उपलब्ध हैं उनमें बहुत कम भावभट्ट के मापदंड पर खरे उतरते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी बदलाव आता गया। भातखंडे जी द्वारा रचित **'क्रमिक पुस्तका मालिका'** में ऐसे ध्रुपद है जिनका अर्थ ही समझ में नहीं आता। वैसे ज्यादातर ध्रुपद ब्रजभाषा में ही लिखे गये हैं। बाद की रचनाओं में अरबी–फ़ारसी शब्द भी जुड़ते गये। विषयवस्तु में विविधता रही– भक्ति,श्रृंगार, वीर सभी रसों से ओत–प्रोत। बैजू, तानसेन, स्वामी हरिदास चिन्तामणि के अनेक ध्रुपद आज भी गाये जाते हैं।

वर्तमान ध्रुपद गायकी के दो प्रमुख क्रम होते हैं। रागालाप और फिर गीत की प्रस्तुति। प्रारंभ में विशिष्ट राग के निर्धारित नियमों के अनुसार विभिन्न रोचक स्वर संगतियों द्वारा क्रम से बढ़ते हुये श्रोताओं के सम्मुख राग का आपाद–मस्तक स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। आलाप अनिबद्ध होता है। इस नोमतोम के आलाप में 'ते', 'ने', 'रे', 'री' आदि अक्षरों का प्रयोग किया जाता है। इसके पश्चात गीत प्रस्तुति होती है। गीत का पहला चरण **'स्थाई'** कहलाता है। जिसमें मन्द्र और मध्य सप्तक तक के स्वरों का प्रयोग होता है। दूसरा खंड **'अंतरें'** का होता है जो मध्यम अथवा पंचम से आरंभ होता है। तीसरा खंड **'संचारी'** जिसमें रचना बीच की मार्मिक स्वरावलियों में संचरित होती हैं। अंत में **'आभोग'** आता है, जिसमें गीत का साहित्य व संगीत दोनों अपने चरमबिन्दु पर पहुँचता है। इसी के साथ ध्रुपदिया अपने गीत गायन की प्रक्रिया समाप्त करता है। ध्रुपद अधिकतर चौताल, सूलताल और तीव्रातालों में गाये जाते हैं।

आलाप के बाद तीसरा क्रम होता है- **'लयबाँट'** का व **'उपज'** का। इसमें लय–ताल का चमत्कार प्रदर्शित किया जाता है। ध्रुपद गायकी का मर्मभेदी अंग आलाप है। प्रभावी आलाप के लिये अपेक्षित है मधुर, मँजी, पाटदार आवाज़, राग की आवृत्ति एवं प्रकृति दोनों के प्रगाढ़ परिचय, सही सटीक स्वरलगाव एवं गमकों का कल्पनात्मक एवं कुशल प्रयोग। इनके लिये प्रतिभा के साथ दीर्घकालीन तप और साधना भी अनिवार्य है।

धमार :

धमार एक विशेष गायन शैली है। इसे ध्रुपद अंग की गायकी माना जाता है क्योंकि ध्रुपद के समान धमार लयकारी प्रधान शैली में गाया जाता है। इसकी शैली भी ध्रुपद के समान है इसलिये अधिकतर ध्रुपद गायक ही धमार गाते है। धमार की धूमधाम केवल लोकजीवन एवं वैष्णव के मन्दिरों में ही नहीं थी अपितु मुग़लों के दरबार और अन्तःपुर रंगीन धमारों से शोभायमान होते थे। **'धमार', 'धमाल', धमारी** इन तीनों रूपों का मूल एक ही है। लोकसंगीत में धमार के सामूहिक गान है जो टोलियों में गाया जाता है। होली खेलने वालों की टोलियाँ रंग खेलती हुई धमार गाती है इनकी संगति प्रधान वाध ढोल द्वारा होती है। धमार का विषय होली से संबंधित होता है जिसमें राधा–कृष्ण के होली खेलने का चित्रण होता है। साथ ही गोपियाँ, सखागण, नृत्य, गान, मजीरा, मृदंग, वंशी, रंग भरी पिचकारी आदि का वर्णन होता है, जो **'होरी'** का शाब्दिक चित्र प्रस्तुत कर देता है। जन साधारण में यह 'होरी' धमार नाम से प्रचलित है।

मंदिरों में वैष्णव संतों द्वारा रचित विशिष्ट पद **'धमार'** ताल में गाये जाते हैं, जिन्हें धमार कहते हैं। इनकी संगति पखावज व झाँझ द्वारा होती है। इस गान के पीछे कीर्तनकारों की आनुवांशिक परंपरा है। अकबरी दरबार के प्रसिद्ध इतिहासकार 'अबुल फ़ज़ल' ने **''आइने अकबरी''** में कीर्तनियां' नामक ब्राह्मण संगीतजीवियों की चर्चा क़ी है। दरबार में जो धमार गाया जाता था उसमें शहंशाह को नायक के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। जहाँगीर के कथनानुसार, तानसेन अपनी रचानओं में अकबर का नाम डाल दिया करते हैं। मुहम्मद शाह रंगीले के दरबारी कलाकार नेमतखां **'सदारंग'** ने भी अनेक धमारों की रचना की है। सदारंग की रचनाओं में मुहम्मद शाह नायक थे। धमार रचना की परंपरा को आगे बढ़ाते हुये सदारंग के भतीजे और दामाद फिरोज खाँ, **'अदारंग'**, रामपुर राजवंश के संस्थापक नवाब अली मुहम्मद खाँ के पुत्र नवाब मुहम्मद सादुल्ला खाँ के आश्रय

में रहे। सदारंग के पुत्र मनरंग भी जयपुर दरबार में रहे। इनके धमार में हिन्दू दरबार का पूरा प्रभाव था। नूररंग ने भी पारंपरिक शैली में धमारों की रचना की है।

वैसे 'धमार' ताल में निबद्ध 'होरी' नामक गीत को 'धमार' कहते हैं किन्तु संगीतज्ञों ने इन दोनों में थोड़ा अंतर कर रखा है। उनके अनुसार, 'धमार' विधा केवल धमार ताल में गाई जाती है जबकि 'होरी' धमार ताल की अपेक्षा चाँचर, दीपचंदी, तीनताल में गाई जाती है तथा ठुमरी व ख्याल शैली से गाई जाती है। 'होरी' कोटि में होली के प्रसंग युक्त गीत ही होते हैं।

ख्याल :

भारतीय रागदारी संगीत की श्रेष्ठ संपदा ध्रुपद गायकी रही है, किन्तु आज वह परित्यक्त है। 18वीं शताब्दी से ध्रुपद का स्वरूप बदलता गया और उसका प्रभाव ख्याल पर पड़ा। राग के अलंकृत रूप और उसके वाणी रूप में मिलन के प्रयासों से ही ख्याल का उद्‌भव हुआ। दोनों के जैव मिलन अर्थात् गीत और रूपकालप्ति के सम्मिश्रण से एक नवीन आकार सामने आया। आरंभ में ख्याल, ध्रुपद गायकी के पथ का अनुसरण क़रता था। उसका विकास, विस्तार भी उसी पथ का आदर्श मानकर होता था इसीलिये उसमें पुरूषोचित गांभीर्य की विशेष अभिव्यक्ति थी, अलंकार बाहुल्य न था। आज ख्याल, अलंकार बहुल होता जा रहा है साथ ही ठुमरी गायकी की ओर लुढ़कता जा रहा है।.

ख्याल को प्रचार में लाने में अनेक संगीतज्ञों ने अपना योगदान दिया। 18वीं शताब्दी में सदारंग (नेमत खाँ) ने ख्याल की रचनाएँ की और अपनी रचनाओं में मुहम्मद शाह रंगीले का नाम डाल दिया। ऐसा भी कहा जाता है कि विलंबित ख्याल का आविष्कारक जौनपुर के सुल्तान हुसैन शाह शर्की द्वारा 15वीं शताब्दी में हुआ और द्रुत ख्याल का चलन अमीर खुसरो द्वारा क़व्वाली गायन शैली से हुआ। इस प्रकार ख्याल के आविष्कारक जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की थे, जबकि कुछ विद्वानों के अनुसार ख्याल

गायन शैली के निर्माता कहे जाते हैं परंतु इस बात में सभी एकमत हैं कि ख्याल का आविष्कार 15 वीं शताब्दी में हुआ और इसका प्रचार 18वीं शताब्दी में सदारंग तथा अदारंग द्वारा पूर्णरूप से हुआ। इस प्रकार अमीर खुसरो, सुल्तान हुसैन शर्की व सदारंग, अदारंग के नाम ख्याल शैली के उद्‌गम की चर्चा में सामने आते हैं।

कुछ विद्वान ऐसे हैं जो ख्याल को प्राचीन शैली पर आधारित मानते हैं और ध्रुपद की शुद्धता बनाये रखने के लिये जो बन्धन थे उनके विरूद्ध हुई प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप ख्याल का आर्विभाव हुआ। एक विद्वान ख्याल का उद्‌गम साधारणी गीँति से मानते हैं।

7 वीं–8वीं शताब्दी में प्रचलित मधुर गमकों से युक्त साधारणी गीति का स्वाभाविक विकास ही 'ख्याल शैली' बना, जिसमें सब प्रकार की गमकें, खटके, मुर्की व कम्पन आदि का मिश्रण था। फारसी में ख्याल शब्द का अर्थ है–**'कल्पना'** या **'कल्पनात्मक रंचना'**। वास्तव में ख्याल शैली न फ़ारस से आयी, न अरब से, न अमीर खुसरो ने इसका आविष्कार किया और न सुल्तान हुसैन शाह शर्की ने। हाँ, उन लोगों ने विकास में योगदान अवश्य दिया, जिसमें 18 वीं शताब्दी में मुहम्मद शाह रंगीले के समय में यह बहुत लोकप्रिय हुआ व सदारंग–अदारंग ने सैकड़ों गीतों की रचना की।

विभिन्न शैलियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि कोई भी शैली अनायास एक व्यक्ति के प्रयत्नों से आरंभ नहीं हुई बल्कि धीरे–धीरे नई शैली प्रारंभ हुई और उससे पूर्व की प्रचलित शैली कम प्रचलित होती गई। इस प्रकार सभी शैलियाँ एक दूसरे से उद्‌भूत अथवा एक दूसरे पर आधारित होते हैं, ऐसा हम कह सकते हैं। एक शैली का पतन होने से पूर्व ही दूसरी शैली प्रचलित हो जाती है अर्थात् परिवर्तित शैली का या विकसित शैली ही किसी शैली के पतन का कारण बनती है। जाति, प्रबंध, ध्रुपद, कव्वाली आदि सभी प्रकार एक दूसरे के पतन का कारण बने परंतु फिर भी प्राचीन शैली को नई

शैली एकदम समाप्त न कर सकी। एक समय में एक ही प्रकार का संगीत पूर्णतया प्रचलित रहे, ऐसा आवश्यक नहीं क्योंकि उदाहरणस्वरूप हम देखते हैं कि जाति का उल्लेख 400 ई०पू० में लिखित **'संगीत रत्नाकर'** में भी है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि यह शैली इस बीच के समय नष्ट नहीं हुई थी परन्तु अन्य शैलियों के मध्य दब गई थी। यह भी संभव है कि जो रूप उसका 'रामायण' के समय था वह 13वीं शताब्दी में पूर्णतया बदल गया हो। यही बात ख्याल के विषय में भी प्रतीत होती है।

18 वीं शताब्दी तक आते–आते ख्याल के स्वरूप को मुहम्मदशाह रंगीले के समय पूर्णतः पनपने का अवसर मिला। इस समय यद्यपि इसमें श्रृंगारिकता का स्थान बढ़ गया था। फिर भी सदारंग, अदारंग के प्रयत्नों से ख्याल का इतना अधिक प्रचार हुआ कि जिसके प्रभाव से आज तक इस शैली को मान्यता प्राप्त हो रही है।

टप्पा :

टप्पा गायन शैली उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत आती है। टप्पा शब्द पंजाबी भाषा के **'टप्पना'** शब्द से निर्मित है, जिसका अर्थ है–उछलना, कूदना, फुदकना इत्यादि। टप्पा गायन शैली का प्रारंभ गुलाम नबी शोरी के द्वारा हुआ। कुछ विद्वानों के अनुसार, ध्रुपद व ख्याल में अपनी तानें लगाने के कारण गुलाम नबी को अपने पिता गुलाम रसूल से डाँट खानी पड़ी थी, फलतः उन्होंने घर छोड़कर पंजाब जाकर टप्पे की रचना की। यह चपल गति की श्रृगांर रस प्रधान शैली है। पंजाब प्रांत में ऊँट के समान चाल वाला गाना ही टप्पा था। टप्पा गायन शैली में बन्दिशों की रचना करते समय शोरी मियाँ ने बाह्य कलेवर को और अधिक सूक्ष्म बना दिया। यही संक्षिप्तता टप्पे की विशेषता बन गई। संक्षिप्तता के कारण एक आवर्तन में स्थाई तथा दूसरे आवर्तन में अन्तरा गाने का प्रचलन हो गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार, ध्रुपद की बेसरा गीति के आधार पर टप्पा गायन शैली की रचना हुई।

ब्रजभाषा के प्रसिद्ध ग्रंथ **'चौरासी बैष्णवन की वार्ता'** के रचियता वल्लभाचार्य जी का समय 16 वीं शताब्दी माना जाता है। उनके अनुसार 16वीं शताब्दी में ख्याल एवं टप्पा अथवा टपख्याल की रचनाएँ गाई जाती थीं और बहुत लोकप्रिय भी थी। किन्तु साक्ष्य के अभाव में यह कहना कठिन है कि शोरी मियाँ के जमजमा तान लेकर गाये जाने वाले टप्पों से ये कितने भिन्न हैं । प्रसिद्ध ग्रंथकार फकीररूल्लाह ने लाहौर प्रांत के एक प्रसिद्ध प्रेमगीत के रूप में टप्पे का उल्लेख किया है। शोरी मियाँ के पश्चातवर्ती गायकों की परंपरा से हम अधुना प्रचलित टप्पे के रूप का अन्दाजा लगा सकते हैं। सदारंग ने भी टप्पे की रचना की है। शोरी मियाँ के गायन में तान, कम्पन, गिटकिरी इत्यादि अनोखे थे। टप्पे का विकास अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तर काल में ही हुआ। टप्पा के शब्दों का अधिकाधिक संकोच होता गया। इसमें स्थाई, अन्तरा दो धातु शेष रह गये। टप्पा गीतों का मुख्य विषय श्रृंगार ही होता है। शब्द अधिकांशतः पंजाबी भाषा के ही होते हैं। तान बहुत होने के कारण शब्दों की तोड़मरोड़ अधिक होती है, इस कारण काव्य सौन्दर्य के द्वारा रसानुभूति टप्पा–गायकी में संभव नहीं होती है।

टप्पा के घरानों में ग्वालियर, बनारस, गया, विष्णुपुर, इलाहाबाद, पटियाला घराना प्रमुख हैं। टप्पा गायकों में उस्ताद निसार हुसैन खाँ, शंकर पंडित, राजा भैया पूँछवाले, एल.के. पंडित, शिवसेवक मिश्र, पशुपति मिश्र, सिद्धेश्वरी देवी, रसूलनबाई, गिरिजा देवी, बड़ी मोतीबाई, बंगारीबाई, राजन–साजन मिश्र, रामप्रसाद मिश्र, भोलानाथ भट्ट, गणेश प्रसाद मिश्र आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

ठुमरी :

ठुमरी मूलतः लोकसंगीत से उपजी गान विधा है। विद्वानों की मान्यता है कि उत्तर प्रदेश में नृत्य व अभिनय के साथ गाई जाने वाली देशी शैली के रूप में ठुमरी का सूत्रपात हुआ। **'रागदर्पण'** में ठुमरी संबंधी उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक सबसे पुराना है।

फकीरूल्लाह ने अपने इस ग्रंथ में ठुमरी को राग बरवा का ही दूसरा नाम बताया है। 17वीं शताब्दी में रचित वर्णनों से यह ज्ञात होता है कि ठुमरी एक पुरातन गीत है। एक स्वतंत्र और समग्र कला विधा के वर्तमान रूप में ठुमरी का विकास लखनऊ में नवाबी छत्र–छाया में हुआ। ठुमरी के विकास और प्रचार में सर्वप्रथम जिन व्यक्तियों ने योगदान दिया उसमें लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह उनके दरबारी गायक सादिक अली खाँ और लखनऊ घराने के कथक नर्तक महाराज बिन्दादीन प्रमुख थे।

ठुमरी मूलतः नृत्यगीत भेद था जिसका कथक नृत्य शैली से घनिष्ठ संबंध था। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक विभिन्न सामाजिक उत्सवों और महफिलों में वेश्याओं द्वारा ठुमरी गान के साथ उसके बोलों का अर्थभाव कथक नृत्य शैली के माध्यम से किया जाता था। ठुमरी गान का प्रयोग नाटकों में भी किया जाता था। 19वीं शताब्दी के अंत में लेखक मिर्ज़ा नज़ीर बेग ने ऑपेरा नाटक, **'मार्कए-लंकारामायण'** लिखा, जिसमें ठुमरी का प्रयोग गाने के रूप में किया गया है। वेश्याओं द्वारा ठुमरी गान में साधारण रागों के सर्वमान्य नियम का उल्लंघन किये जाने के कारण 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक ध्रुपद व ख्याल के स्वाभिमानी संगीतज्ञ ठुमरी को उपेक्षित दृष्टि से देखते थे किन्तु अपनी कलात्मक व स्वाभाविक माधुर्य के कारण ठुमरी ने धीरे–धीरे भारतीय जनमानस को इतना प्रभावित किया कि अनेक उच्चकोटि के प्रतिष्ठित संगीतज्ञों ने उसे अपनाया और संगीत सभाओं और संगीत सम्मेलनों में गाना आरंभ कर दिया। इस प्रकार ठुमरी कोठे के परिसर से निकलकर अभिजात्य संगीत सभाओं में प्रतिष्ठित हुई।

ठुमरी गान की वर्तमान प्रचलित पद्धलियाँ उन उस्तादों से प्रारम्भ हुई जिन्होंने ठुमरी गीतों में निहित भावों को नृत्य व अभिनय की अपेक्षा विभिन्न स्वर सन्निदेशों द्वारा व्यक्त करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार की ठुमरी के प्रवर्तकों में भैया गनपतराव और मौजुद्दीन खाँ के नाम उल्लेखनीय है। ठुमरी के विकास में भैया गनपतराव के विषय में श्री दिलीप

चन्द्र बेदी ने लिखा है– ''भैया गनपत राव ने ठुमरी गान में ऐसी तराश पैदा की कि तमाम गायक उनकी तकलीद (अनुसरण) करने लगे।'' इस प्रकार ठुमरी एक विशिष्ट गान विधा के रूप में विकसित होकर समाज में लोकप्रिय व प्रचलित हुई। मूलतः नृत्यात्मक गीत विधा होने के कारण ठुमरी में प्रारम्भ से ही गीत के बोलों का महत्वपूर्ण स्थान था। इसलिये बोल को ठुमरी की आत्मा उसकी जान कहा जाता है। वर्तमान समय में ठुमरी दो अंगों से गाई जाती है– 'पूरब अंग' और 'पंजाब अंग'।

पूरब अंग :

उत्तर भारत के पूर्वी भागों में प्रचलित ठुमरी को **'पूरब अंग'** की ठुमरी कहा जाता है। पूरब अंग की ठुमरी अपने सुरीलेपन, चैनदारी और बोलबनाव आदि के लिये प्रसिद्ध है। इसके दो भेद माने जाते हैं जिन्हें क्रमशः 'लखनवी' और 'बनारसी शैली' कहा जाता है।

लखनवी शैली :

लखनवी की ठुमरी अभिजात्य संगीत परम्परा और दरबारी शान शौकत की झलक पेश करती है। लखनऊ क्षेत्र में टप्पा गान विधा का बहुत प्रचार होने के कारण लखनवी शैली की ठुमरी पर टप्पा शैली के स्वर सन्दर्भों की झलक कहीं–कहीं दृष्टिगोचर होती है। परंपरागत व मूल लखनवी ठुमरी बंदिशी ठुमरी है जिसकी रचना छोटे ख्याल की भाँति होती है, जिसकी लोकप्रियता वर्तमान समय में कम ही नहीं वरन् लुप्त हो गई है।

बनारसी शैली :

बनारस नगर और उसके निकटस्थ क्षेत्रों में मुख्य रूप से प्रचलित होने के कारण इसे 'बनारसी ठुमरी' कहा जाता है। चैनदारी बोलवृतांत की मधुरता इस ठुमरी शैली की विशेषताएँ हैं। बनारसी ठुमरी पर पूर्वी उत्तर प्रदेश में गाये जाने वाले चैती, कजरी, पुरबी आदि लोकगीतों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

पंजाब अंग :

पंजाब अंग की ठुमरी में बोल बनाव के अतिरिक्त छोटी–छोटी तानों, बोलतानों, मुर्की खटके, जमजमा आदि का अलंकरण पाया जाता है। स्वर वैचित्र्य, कण, टप्पा शैली की छोटी–छोटी खटकेदार तानों का व्यवहार पंजाब अंग की ठुमरी की विशेषता है। इस अंग की ठुमरी में पंजाब प्रदेश की हीर, माहिया, टप्पा, मुल्तानी, काफी आदि लोकगीतों की धुनों की स्पष्ट झलक मिलती है। पंजाब अंग की ठुमरी को प्रतिष्ठित करने का श्रेय स्व० अली बक्श के पुत्रों स्व० बड़े गुलाम अली खाँ और उनके छोटे भाई स्व बरकत अली खाँ को दिया जाता है। इन्होंने पूरब अंग की ठुमरी में पंजाबी लोकधुनों, टप्पे की सूक्ष्म हरकतों, स्वर वैचित्र्य और चमत्कार का समावेश करके ठुमरी की एक सर्वथा नवीन शैली को प्रचलित किया।

वर्तमान समय में ठुमरी गायन के प्रति लोकाभिरूचि बढ़ी है किन्तु उसके पद में गिरावट आई है। इतना होने पर भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि ठुमरी, जो पहले कोठे की चहारदीवारी तक सीमित थी उसे आज अभिजात्य संगीत सभाओं में मान्यता प्राप्त है। प्रत्येक युग में धीरे–धीरे इसका विकास होता रहा है। पिछले कई वर्षों से इसका मूल रूप विभिन्न परिवर्तनों के साथ इसी प्रकार का चला आया है, जैसा वह आज हमको सुनने को मिलता है।

तराना :

यह ख्याल के प्रकार की गायकी है इसमें निरर्थक बोलों का प्रयोग किया जाता है जैसे–ता, ना, री, ओदानी इत्यादि। तराने में भी स्थाई और अंतरा ये दो भाग होते हैं। तानों का प्रयोग भी इसमें होता है। तराने में राग, ताल और लय का ही आनंद है।

प्राचीन काल में तराना को **'स्तोभगान'** के नाम से जाना जाता था जिनका कोई अर्थ तो नहीं होता था परन्तु वह ओंकार की ध्वनि के वाचक होते थे और गायन में वाद्ययंत्र का आनन्द भी देते थे। तराने के शब्द निरर्थक होते हैं, उसमें उसके राग और ताल का पूरा आनंद आता है। गमक इत्यादि के साथ कहे गये तराने में बहुत आनंद आता है किन्तु अतिश्योक्ति हास्यजनक होती है। कुशल गायक के गायन में राग के स्वरों का अनोखा आनंद होता है और वह तरह–तरह से अपने राग की व्याख्या करता है। तराने में राग का आनन्द आना चाहिये, रफ्तार का नहीं। इसकी भी अपनी विशेष गायकी है जो अब सुनने में नहीं आती।

तिरवट या त्रिवट :

यह भी तराने की तरह गाया जाता है, किन्तु तराने से त्रिवट की गायकी कुछ कठिन है। किसी तराने में जब मृदंग के बोलों का भी प्रयोग किया जाता है तो ऐसे तरानों को 'त्रिवट' के नाम से जाना जाता है। वर्तमान समय में त्रिवट गायकी का प्रचार कम हो गया है।

दादरा :

एक विशेष प्रकार की गायकी को दादरा कहते हैं। इसकी चाल ग़ज़ल से कुछ मिलती जुलती है। मध्य तथा द्रुतलय में दादरा अच्छा मालुम पड़ता है। इसमें प्रायः श्रृंगार रस के गीत होते हैं।

लक्षण गीत :

लक्षण गीत में राग का संक्षेप वर्णन होता है और उसकी मुख्य विशेषताएँ बताई जाती हैं। इसमें स्वरों व शब्दों का विलक्षण संयोग होता है। कोई गीत जब किसी राग में गाया गया हो और उसमें गीत के शब्दों, उस राग के वादी–संवादी या वर्जित स्वरों का

वर्णन किया गया हो तो उसे लक्षणगीत कहते हैं। इस युग में **'चतुर पंडित'** के लक्षण गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। 'चतुर पंडित' स्व० भातखंडे जी का ही नाम था और वह संगीत में अद्वितीय होने के अतिरिक्त महान संगीत प्रचारक भी थे।

सरगम :

रागबद्ध व तालबद्ध स्वर रचना विशेष को 'सरगम' कहते हैं। इसमें किसी प्रकार की कविता नहीं होती, केवल स्वर ही होते हैं। सरगम गीत भिन्न–भिन्न तालों व रागों में बद्ध होते हैं। इनको गाने से विद्यार्थियों को स्वरज्ञान तथा राग ज्ञान में बहुत सहायता मिलती है।

रागमाला :

जब एक गीत में कई रागों का वर्णन आता है और उस गीत की पंक्ति में एक–एक राग के स्वर लग जाते हैं तथा उस राग का नाम भी आ जाता है, तो ऐसी रचना को 'रागमाला' कहते हैं।

चतुरंग :

ख्याल, तराना, सरगम, त्रिवट चार अंग जिस गीत में सम्मिलित होते हैं, उसे चतुरंग कहते हैं। पहले भाग में गीत के शब्द, दूसरे में तराने के बोल, तीसरे में किसी राग की सरगम और चौथे भाग में मृदंग के बोलों की एक छोटी सी परन रहती है। चतुरंग को ख्याल की तरह गाते हैं किन्तु इसमें तानों का प्रयोग ख्याल की अपेक्षा कम होता है।

सादरा गायन :

ध्रुपद, होरी, ख्याल तथा ठुमरी की तरह सादरा भी गायन की एक शैली है, जो बहुत कम प्रचलित रही है। आज के श्रोता जो संगीत में रूचि रखते हैं तथा बहुत से सामान्य गायक सादरा गायन का नाम भी नहीं जानते। कहा जाता है कि अवध दरबार के गायक उस्ताद दूल्हे

मियाँ ने सादरा गायन आरंभ किया। उ० दूल्हे मियाँ के पूर्वज आगरा घराने के हाजी सुल्तान खाँ के संबंधी थे और आगरा छोड़कर शाहदरा (दिल्ली) आकर बस गये। दूल्हे मियाँ लखनऊ दरबार में आ गये और उनके गायन की शैली इसलिये 'सादरा' कहलाई।

सादरा गायन ध्रुपद अंग का गायन है, जिसे झपताल में गाते हैं। इस गायन में ध्रुपद व होरी गायन से अधिक चपलता है। उपज तथा बोलतान का प्रयोग भी सादरा की विशेषता है। अतः ध्रुपद से दो सीढ़ियाँ तथा होरी से एक सीढ़ी ऊपर संगीत के विकास में सादरा का स्थान है। सादरा गायन में ध्रुपद व होरी की भाँति कविता पर बल दिया जाता है। अतः इसमें श्रोताओं को आकर्षित करने की क्षमता है किन्तु समय ने होरी तथा ध्रुपद गायन को पीछे कर दिया और इस प्रकार सादरा गायन का आज एक दम लोप ही हो गया।

(ब) हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के सन्दर्भ में उत्तर प्रदेश की भूमिका

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के विकास में वैसे तो समस्त उत्तर भारत, बंगाल, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक आदि अनेक क्षेत्रों का योगदान हैं, परन्तु इनमें उत्तर प्रदेश की भूमिका प्रमुख है। उत्तर प्रदेश में अनेक बड़े–बड़े संगीतज्ञों ने जन्म लिया, संगीत साधना की, उनकी वंश परम्परा से अनेक घराने निर्मित हुये और इन घरानों के अनुयायी आज राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय हुये हैं और संगीत की यह परंपरा प्राचीनकाल से लेकर आज तक प्रवाहित हो रही है। यहाँ के धार्मिक एवं सामाजिक परिवेश में पल्लवित होता हुआ भारतीय संगीत, विकास के एक लंबे क्रम में अपना एक अमिट तथा विशेष स्थान बना चुका है।

पुराने ज़माने में जब संचार और आने–जाने के साधन सीमित थे, उस समय जबकि कुछ गिने–चुने केन्द्रों में ही शास्त्रीय संगीत सिमटा हुआ था और घरानों में क़ैद था, उस समय भी उत्तर प्रदेश एक प्रमुख केन्द्र स्थल था। जबकि संगीत की परम्परा गुरू, उनके

परिवार और उनके कुछ शिष्यों तक ही सीमित थी, उस समय सामान्य तौर पर आम लोगों में संगीत को सार्वजनिक तौर पर प्रदर्शित नहीं किया जाता था। मध्यकाल के बाद उत्तर भारत के महान गायक, वादक और नर्तक धीरे–धीरे अलग–अलग रियासतों के आश्रय में चले गये और वहाँ रहकर उन्होंने संगीत साधना की तथा शिष्य तैयार किये। एक–दूसरे से न मिलने के कारण प्रदर्शन की शैलियों में विविधता उत्पन्न हुई और अलग–अलग घरानों ने इस प्रकार अपनी विशेषताएँ प्रचलित, प्रतिष्ठित की। इन विविध विशेषताओं के कारण हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत समृद्ध हुआ। किन्तु यदि हम विशेष रूप से जब उत्तर प्रदेश की संगीत परम्परा पर चर्चा करते हैं तो कुछ रियासतों और उनमें उत्पन्न घरानों पर सहज ही हम केन्द्रित हो जाते हैं।

उत्तर प्रदेश में जिस प्रकार सुन्दर पर्वत–मालाओं, नदियों, वनों और अनेक रीति–रिवाजों की समृद्धता है उसी प्रकार इस प्रदेश में वृन्दावन, काशी, मथुरा और अयोध्या जैसे सांस्कृतिक केन्द्र भी है इसके अतिरिक्त आगरा, लखनऊ रामपुर और जौनपुर भी है जो कला प्रेमी सम्राटों और नवाबों की पूर्व राजधानियाँ हैं। वास्तव में ये स्थान शताब्दियों से संगीत तथा विविध कलाओं के केन्द्र हैं, जहाँ ध्रुपद, धमार, हवेली–संगीत, समाज–संगीत और विविध वाद्ययंत्रों के उत्कृष्ट कलाकारों ने संगीत साधना की और भारतीय संगीत को दिशा प्रदान की। उसी प्रकार उत्तर प्रदेश में रहते हुये अनेक कलाकारों ने ख्याल, ठुमरी, टप्पा, दादरा आदि को भी विकसित किया। यदि जौनपुर, ख्याल को आगे लाने में अग्रणी था, तो लखनऊ और बनारस में ठुमरी का रूप सँवारा गया और ब्रज क्षेत्र में ध्रुपद गायन को एक निश्चित आकार प्रदान किया गया। यदि रामपुर और किराना बीनकारों के गढ़ थे तो इटावा और लखनऊ सितार के सौन्दर्य संवर्धन केन्द्र थे। उसी प्रकार इस प्रदेश में तबला, पखावज और सारंगी आदि वाद्यों के विकास केन्द्र भी उभरे। बहरहाल, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के विकास में उत्तर प्रदेश की भूमिका अद्वितीय है।

जैसे कि जब हम गायन की चर्चा करते हैं तो उसकी सबसे प्राचीन परम्परा **ध्रुपद-धमार** की है। वैसे तो ध्रुपद का प्रारंभिक विकास उत्तर प्रदेश के बाहर ग्वालियर में हुआ किन्तु उत्तर प्रदेश में ध्रुपद के विभिन्न रूप सजाये और सँवारे गये। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के संरक्षण में विकसित ध्रुपद की भक्ति पूर्ण गायकी की धारा प्रवाहित हुई क्योंकि मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और वाराणसी धार्मिक स्थान थे जहाँ से शांति की धारा प्रवाहित हुई। ब्रज क्षेत्र से सम्बद्ध तानसेन और स्वामी हरिदास के नाम है। तानसेन वैसे तो ग्वालियर के थे किन्तु मुग़ल दरबार से जुड़ने के कारण वे आगरा आ गये और इस तरह आगरा ध्रुपद गायन का केन्द्र बन गया। उनकी रचनाओं में ब्रज भाषा का प्रयोग मिलता है। इस क्षेत्र में वृन्दावन के स्वामी हरिदास का योगदान अद्वितीय है और उनकी शिष्य परंपरा बड़ी लम्बी कही जाती है।

ध्रुपद के अतिरिक्त ब्रज क्षेत्र में होली और लोकसंगीत से प्रभावित होकर, ध्रुपद को आधार मानकर '**धमार**' का विकास ब्रज में ही हुआ, इसी क्रम में **हवेली-संगीत** का उल्लेख भी समीचीन है। यह वैष्णवों का साम्प्रदायिक संगीत है जिसका ब्रज क्षेत्र में अत्यधिक विकास हुआ। ब्रज क्षेत्र के बाहर अयोध्या और वाराणसी भी ध्रुपद गायन के केन्द्र रहे। पं० बड़े रामदास जी और पं० हरिशंकर मिश्र की ध्रुपद गायन में शिष्य परंपरा बनी।

ख्याल का विकास भी जौनपुर के शर्की सुल्तानों के दरबार में हुआ। इसके अतिरिक्त अलीगढ़ से लगभग 7०5 किमी० दूर अतरौली कस्बा भी संगीतज्ञों का बड़ा गढ़ था और उ० अल्लादिया खाँ ने इसी अतरौली घराने से शिक्षा प्राप्त कर जयपुर घराने की गायकी विकसित की। अतरौली घराने की तरह आगरा घराने में भी ध्रुपद–धमार फिर ख्याल, ठुमरी, दादरे को प्रमुखता दी गई। शास्त्रीय संगीत की परंपरा में '**सहसवान**' **और** '**रामपुर**' घराने भी महत्वपूर्ण हैं, जिसमें उ० निसार हुसैन खाँ, मुश्ताक हुसैन खाँ आदि

विख्यात हुये। उत्तर प्रदेश में ही **'किराना'**, जो मुजफ्फरनगर ज़िले का प्रसिद्ध कस्बा है, प्रसिद्ध घराना हुआ जहाँ से अनेक विख्यात गायक हुये। वाराणसी भी ख्याल गायन का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। काशी नरेश के संरक्षण में शास्त्रीय संगीत की अनेक विधाओं का विकास हुआ। काशी की ख्याल गायकी परम्परा में बड़े रामदास जी, छोटे रामदास जी, श्याम सुन्दर मिश्र, राजन–साजन मिश्र आदि है। उत्तर प्रदेश के अन्य अनेक स्थानों पर भी प्रसिद्ध ख्याल गायक पैदा हुये, परन्तु **लखनऊ** की भूमिका पिछले दो–ढाई सौ वर्षों में गायन, वादन और नृत्य में महत्वपूर्ण रही है। ग्वालियर घराने की ख्याल गायकी का जो विकास हुआ वह लखनऊ के योगदान से ही हुआ।

ठुमरी के रूप का निखार भी **लखनऊ** और **वाराणसी** में भरपूर हुआ। लखनऊ की ठुमरी गायकी का श्रेय पं० बिन्दादीन महाराज, नवाब वाजिद अली शाह और अन्य कलाकारों को है। लखनऊ में उभरा हुआ ठुमरी अंग का रूप बाद में बनारस की पूरब अंग की ठुमरी का माना जाने लगा। लखनऊ घराने की ठुमरी का रूप कत्थक नृत्य के साथ उसके घनिष्ठ संबंध होने के कारण भी विशिष्ट हुआ।

वाराणसी में ही **टप्पा** गायन को भी प्रमुखता दी गई। वैसे तो टप्पा गायन शैली के प्रवर्तक गुलाम नबी शोरी मियाँ है, जो पंजाब के रहने वाले थे किन्तु युवावस्था से ही वे लखनऊ आ गये बाद में वे वाराणसी आ गये और अनेक शिष्यों को तैयार किया। इसके अतिरिक्त लोकसंगीत में, वाराणसी और मिर्ज़ापुर के कलाकारों ने कजरी और चैती को शास्त्रीय संगीत के रागों में ढाला और उच्चस्तरीय संगीत की गरिमा प्रदान की। रसूलन बाई, सिद्धेश्वरी देवी, गिरिजा देवी, पं० महादेव प्रसाद मिश्र आदि वाराणसी के ठुमरी, दादरा, टप्पा, कजरी और चैती के श्रेष्ठ गायक हुये।

आज के परिवेश में संगीत परम्परा :

प्रश्न यह उठता है कि उत्तर प्रदेश में शास्त्रीय संगीत की वर्तमान स्थिति क्या है? वास्तव में जिस प्रदेश ने गायन, वादन और नृत्य के क्षेत्र में इतने घराने कायम किये हों, वहाँ वाराणसी को छोड़कर कहीं कुशल संगीतज्ञ नहीं रह गये हैं। यहाँ के अनेक प्रख्यात कलाकार कलकत्ता, दिल्ली और बम्बई चले गये। राजाश्रय समाप्त हो जाने से संगीतज्ञ अपनी कला का अभ्यास करने के स्थान पर सामान्य विद्यालयों तथा संगीत शिक्षण की संस्थाओं में अध्यापन कर रहे हैं। (Narad 16)

अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि किस प्रकार उत्तर प्रदेश की मूल सांगीतिक परंपरा को आगे बढ़ाया जाय? जिससे कि यहाँ के कलाकार अपनी परम्परा को कायम रखते हुये उसे पल्लवित तथा और विकसित कर सके।

—◈—

द्वितीय अध्याय

सांगीतिक परंपरा के सन्दर्भ में ध्रुपद गायन शैली का योगदान

(स) ध्रुपद गान का महत्व, इतिहास, उद्‌भव, परिभाषा, विशेषताएँ, बानियाँ

(रे) उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में स्वामी हरिदास का ध्रुपद के विकास में योगदान

(ग) तानसेन और उत्तर प्रदेश में ध्रुपद परंपरा

(म) उत्तर प्रदेश में ध्रुपद गायन के प्रमुख केन्द्र

(प) कुछ ध्रुपद स्वरलिपि सहित

सांगीतिक परम्परा के सन्दर्भ में ध्रुपद गायन शैली का योगदान

ध्रुपद का प्रारम्भिक विकास तो यद्यपि उत्तर–प्रदेश के बाहर अर्थात् ग्वालियर में हुआ किन्तु इसके प्रचार–प्रसार में उत्तर–प्रदेश का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, जहाँ पर ध्रुपद के विभिन्न रूप सजाये–सँवारे गये। ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर के संरक्षण में विकसित ध्रुपद की भक्तिपूर्ण धारा उत्तर–प्रदेश में प्रवाहित हुई क्योंकि यहाँ मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और वाराणसी जैसे धार्मिक स्थान थे, जहाँ शान्ति की धारा प्रवाहित हुई है। ब्रज क्षेत्र से सम्बद्ध स्वामी हरिदास और तानसेन का नाम आता है जिनकी शिष्य परम्परा बड़ी लम्बी और विस्तृत है। स्वामी हरिदास और मुख्यतः तानसेन के कारण ध्रुपद शैली में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। तानसेन मूलतः तो ग्वालियर के थे किन्तु बाद में मुग़ल दरबार से जुड़ने के कारण वे आगरा आ गये और इस तरह आगरा ध्रुपद गायन का केन्द्र बना तथा शनैः–शनैः यहाँ से इसका प्रसार उत्तर–प्रदेश ही नहीं वरन् समस्त उत्तर भारत में हुआ। ब्रज क्षेत्र के अतिरिक्त अयोध्या, वाराणसी, रामपुर, मथुरा आदि भी ध्रुपद गायन के केन्द्र बने। इस प्रकार उत्तर–प्रदेश में ध्रुपद गायन शैली अपनी पराकाष्ठा तक पहुँची जिसका विस्तृत वर्णन मैं आगे करूँगी। इससे पूर्व ध्रुपद गायन शैली का महत्व, इतिहास, उद्‌भव, विशेषताओं और घराने (बानियाँ) आदि पर प्रकाश डालने का प्रयास करूँगी–

ध्रुपद गायन शैली का महत्व, इतिहास :

प्राचीन काल में भारतीय संगीत दिव्य और अलौकिक माना जाता था और उसका सम्बन्ध ऋषियों व मुनियों से होता था। धर्म, अध्यात्म और साधन के वातावरण में ही उसका जन्म और विकास हुआ और मन्दिरों तथा आश्रमों में उसका पालन–पोषण हुआ। वैदिक संगीत व गन्धर्वों का संगीत, इन दोनों का लगभग एक ही वातावरण में

विकास हुआ। मार्ग संगीत ने भी एक विशेष वातावरण में उन्नति की। मन्दिर, राजमहल और राजदरबार संगीत के मुख्य केन्द्र बने। राजा और महाराजा भी संगीतोन्नति के लिए और संगीतज्ञों के निर्वाह के लिए सब तरह के आवश्यक साधनों का आयोजन, प्रबन्ध करते थे और संगीत का उचित संरक्षण भी करते थे। वह उन्हें वेतन, पारितोषिक, धन और ज़मीन इत्यादि भी देते थे और उन्हें जीविका निर्वाह के आर्थिक संकटों से भी मुक्त करते थे। शान्ति पूर्वक जीवन में ही संगीत की साधना हो सकती थी। मन्दिरों और राजमहलों के वातावरण में संगीत, नृत्य और नाटकाभिनय का आयोजन आम जनता के लिए किया जाता था। संगीतज्ञों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध मन्दिरों से होता था। संगीत और धर्म का चोली–दामन का साथ था परन्तु यह बात भी सच थी की उस युग के राजे–महाराजे संगीतज्ञों के कुटुम्ब–परिवार, उनकी संतान और उनके वंशज का भी पालन पोषण करते थे तभी समाज में संगीत की उन्नति भी हो सकती थी।

पठान, सुल्तान एवं मुग़ल शासकों के साथ बहुत से हिन्दू राजाओं ने भी संगीत–संरक्षण की प्रथा का पालन किया है। इनके दरबारों में संगीतज्ञ नियुक्त किये जाते थे एवं उन्हें उचित आश्रय भी मिलता था। संगीत का प्रदर्शन भी उच्च्च श्रेणी के सम्मानित, प्रतिष्ठित श्रोताओं के सामने होता था जिनमें दरबार के बड़े–बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति भी होते थे जिनकी सांगीतिक अभिरूचि ऊँचे दर्ज़े की होती थी और इन्हें संगीत का उत्तम ज्ञान होता था साथ ही आम जनता के लिए भी सांगीतिक मनोरंजन की व्यवस्था होती थी। ऐसे ही राजाओं में ग्वालियर के **राजा मानसिंह तोमर** (1486–1516 ई०) हुए हैं जिन्होंने संगीत की उन्नति में अपना विशेष योगदान दिया है। यथार्थतः ध्रुपद की विशिष्ट पद रचना व गेय शैली के प्रदायक, उन्नायक के रूप में ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर का नाम सर्वप्रथम आता है। वे मध्ययुगीन पद शैली के प्रर्वतक भी कहे जाते हैं। राजा मानसिंह स्वयं एक संगीतज्ञ थे उन्होंने 'गूजरी तोड़ी', 'मंगल गूजरी' जैसे रागों की रचना की अतः उनकी नवीनता में प्राचीनता की उपेक्षा नहीं की गयी है; बल्कि प्राचीन शास्त्र को ही आधार मानकर इसको समयोचित ढाँचे में प्रस्तुत किया।

मानसिंह तोमर संगीतज्ञों का बहुत सम्मान करते थे और उनके अपने दरबार में अनेक संगीतज्ञ रहा करते थे। बैजू बावरा भी उनके राज्यकाल में हुए। कहते हैं कि बैजू के सहयोग से ही मानसिंह ने ध्रुपद शैली का परिष्कार कर ध्रुपद का प्रचार–प्रसार किया। मानसिंह तोमर की पत्नी मृगनयनी थी जिनको बैजू ने संगीत की शिक्षा दी थी। मानसिंह और उनकी रानी मृगनयनी ने मिलकर संगीत के क्षेत्र में जो किया वह आज भी प्रमाण स्वरूप ग्वालियर में हैं। ग्वालियर की ध्रुपद गायकी तथा ग्वालियर का विद्यापीठ आज भी मशहूर है। राजा मानसिंह का राज्यकाल यद्यपि राजैनतिक उथल–पुथल का था फिर भी उन्होंने संगीत के विकास में विशेष योगदान दिया। उन्होंने संगीत की एक संस्था स्थापित की थी जिसमें संगीत के चार श्रेष्ठ नायक थे, जिनका काम संगीत सुनाना था और गुणियों के सामने संगीत चर्चा की उत्तम गोष्ठी का आयोजन करना था जिसमें संगीत के प्रश्नों और उसकी समस्याओं पर वाद–विवाद तथा विचार–विनिमय होता था। वे सार्वजनिक रूप से भी संगीत आयोजन करते थे जिसमें वे बाहर से भी कलाकारों को बुलाते थे। ग्वालियर में आम जनता में संगीत के प्रति बहुत जागृति थी। कहते हैं कि मानसिंह तोमर ने परम्परागत **प्रबन्ध गान-शैली** के आधार पर ही एक नवीन शैली का स्वरूप सामने रखा यह नवीन शैली आगे चलकर **ध्रुपद** कहलायी। ध्रुपद के भी दो स्वरूप प्रचलित हुए, पहला– मन्दिरों आदि में भक्त कवियों द्वारा गाये जाने वाले गीत प्रकार के रूप में– यह गीत प्रकार **विष्णुपद** कहलाये। दूसरा प्रकार वह था जो राजदरबार में प्रचलित था–यह पद **ध्रुपद** कहलाये। ध्रुपद गाने वालों को **कलावन्त** कहा जाता था और वे समाज में बहुत आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। मानसिंह तोमर के दरबार में उस समय संगीताकाश के दैदीप्यमान नक्षत्र बैजू बावरा, चरजू, भगवान धोन्दू, रामदास आदि संगीतज्ञ विद्यमान थे जिनके सहयोग एवं सत्परामर्श से मानसिंह ने प्राकृत भाषा में **'मानकुतूहल'** ग्रन्थ की रचना की, जिसमें प्राचीन भारतीय रागों की विस्तृत व्याख्या की गई है। भरत संगीत को पुष्ट करने हेतु ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर ने एक बार नायक बख्शू, नायक पाण्डवीय,

देवआहंग, नायक महमूद, नायक करण सरीखे संगीत विद्वानों की विद्वत सभा आहूत की और इन विद्वानों की परिचर्चा, वाद–विवाद, विचार–विमर्श से लाभ उठाते हुए **'मानकुतूहल'** नामक ग्रन्थ की रचना की। **'मानकुतूहल'** ग्रन्थ का फ़ारसी अनुवाद औरंगज़ेब कालीन प्रसिद्ध संगीतज्ञ फ़कीरउल्लाह सन 1673 ई० में **'रागदर्पण'** नाम से किया। मानसिंह की संगीत सेवा से फ़कीरउल्लाह विशेष प्रभावित हुआ एवं उन्हें 'ध्रुपद शैली का जनक' संज्ञा देकर विशेष प्रशंसा की।

उद्‌भव :

ध्रुपद गान शैली के उद्‌भव, आर्विभाव के बारे में विभिन्न विद्वानों के भिन्न–भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं– कुछ विद्वानों के अनुसार ग्वालियर नरेश राजा मानसिंह तँवर (1486–1516 ई०) को 'ध्रुपद गायन शैली का जन्मदाता' कहा जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि ध्रुपद पहले ही उद्‌भूत हो चुका था। मानसिंह ने उसको केवल नया रूप अथवा प्रश्रय दिया था। कैप्टन विलर्ड, ध्रुपद का आरम्भ राजा मानसिंह के समय से मानते हैं जिसको ध्रुपद गायकों का पिता कहा गया है। श्री हरिप्रसाद नायक अंशुमाली, राजा मानसिंह को संगीत शास्त्र का उन्नायक व ध्रुपद का आविष्कारक मानते हैं। श्री चैतन्य देसाई के मतानुसार "भरत द्वारा वर्णित ध्रुवा गीत ही मध्य युग में ध्रुवपद तथा आधुनिक समय में ध्रुपद कहे जाने लगे। 17 वीं शताब्दी अर्थात् अकबर व मानसिंह के समय ध्रुपद–धमार गायन अपने चरमोत्कर्ष पर था।"[1]

श्री अमरेश चन्द्र चौबे का विचार है कि "आरम्भ में देवालयों में स्तुतियों तथा कीर्तनों का गायन संस्कृत भाषा में होता था। देशी, प्राकृत भाषाओं के प्रचार के साथ–साथ भक्ति गायन उन भाषाओं में भी होने लगा और इन भक्ति गीतों को ध्रुपद कहा गया। यह ध्रुपद गीत सुनियमित, सुसम्बद्ध स्वरालापों तथा लयकारी में होते थे जैसा कि गीत के **'ध्रुपद'** नामकरण से ही स्पष्ट है। इस गीत के पद ध्रुव, अचल या

---

1. Chaitanya Desai- Indian Music Ancient, Mediaevel and Modern Journal of Indian Musiecological Society, volume IV No.-3, July-Sept. 1973- page - 37.

निश्चित होते थे। गायन में उनकी स्वर रचना या लय आदि में परिवर्तन नहीं हो सकता था। कलात्मक होते हुए भी इन ध्रुपदों को ईश्वरोपासना का एक साधन मानकर ही प्रयोग में लाया जाता था। वास्तव में इनकी कलात्मक वृद्धि इनके राजदरबारों में गायन आरम्भ होने के समय भी हुई। यहाँ इनकी रचना लौकिक विषयों को लेकर भी हुई ।'' ठाकुर जयदेव सिंह का कहना है कि – राजा मानसिंह ने ध्रुपद का आविष्कार नहीं किया था बल्कि उसको आगे बढ़ाने की प्रेरणा दी थी व उसके प्रचार के लिए प्रयत्न किये थे। ध्रुपद का आविष्कार उससे पहले लगभग 14वीं शताब्दी में हो चुका होगा। संगीत शास्त्रों को पढ़ने से पता लगाया जा सकता है कि ध्रुपद शैली प्रबन्ध से ही उद्भूत थी क्योंकि ध्रुव का अर्थ है स्थिर, व्यवस्थित तथा निश्चित। इसलिए ध्रुवपद का अर्थ है, वह गीत जिसमें पद या शब्द भलीभाँति एक रूप या आकार में स्थित हो। 15वीं शताब्दी से पूर्व ध्रुपद का प्रयोग या उसका रूप जानना कठिन है परन्तु 'पदों के व्यवस्थित रूप' ने इसका अस्तित्व **'नाट्यशास्त्र'** के समान ही प्राचीन है। प्रबन्ध 13वीं शताब्दी तक बहुत ही प्रचलित रहा 14 वीं शताब्दी से ध्रुपद आरम्भ हो गया और 15वीं से 18वीं शताब्दी तक यह बहुत अधिक प्रचार में रहा। धीरे–धीरे प्राचीन प्रबन्ध लगभग समाप्त हो गया और केवल वैष्णव मन्दिर में ही उसका प्रचार रह गया।''

स्वामी प्रज्ञानानन्द के भी विचार यही है कि–15 वीं शताब्दी अर्थात् राजा मानसिंह के समय में ध्रुपद का आविष्कार नहीं किया गया था बल्कि उसे एक नया रूप दे दिया गया था, जिसमें हिन्दू और मुस्लिम संगीतज्ञों ने राजा मानसिंह का बहुत साथ दिया। स्वामी प्रज्ञानानन्द का कहना है कि अकबर के समय प्रबन्ध गीतों को गाने के चार ढंग थे जो देशी गायन अथवा देशी साहित्य पर आधारित थे। यही ढंग चार बानियों के नाम से जाने जाते थे जो इस प्रकार थे– गौड़हार, खण्डार, डागुर तथा नौहार। श्री श्रीपद बन्दोपाध्याय के विचार में 'ध्रुपद का उद्गम प्राचीन गायन शैलियों जैसे– छन्द, प्रबन्ध, जाति गायन तथा विशेषकर राग जाति से हुआ है क्योंकि उसमें सम्पूर्ण लक्षण जो कि एक राग गाने के लिए आवश्यक समझे गये हैं, या उसकी विशेषताएँ मानी गयी हैं, विद्यमान थीं।''

'ध्रुव' शब्द का वास्तविक अर्थ शान्ति, सादगी, स्थिरता, अमरत्व, तथा पवित्रता आदि को व्यक्त करता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि 'ध्रुपद' इन्हीं अर्थों को व्यक्त करता हो। ऐसा भी हो सकता है कि बाद के समय में यह पवित्रता व स्थिरता अर्थयुक्त गान न तो ध्रुवा (नाट्य गीति) से लिया गया हो जैसा कि **'नाट्यशास्त्र'** में वर्णित है और न ही उस ध्रुव से जो कि एक धातु के रूप में प्रबन्ध का विभाग था, बल्कि एक शुद्ध रूप से ध्यानमग्न तथा प्रभावशाली प्रकार का गीत जो **सालगसूड़** प्रकार का **ध्रुव** प्रबन्ध था, से लिया गया हो। ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ विद्वान ध्रुपद को उस ध्रुवा से लिया गया मानने का प्रयत्न करते हैं जो नाट्यगीति थी। वास्तव में साहित्यिक बन्दिश स्वाभाविक रूप से सुन्दर, प्रभावपूर्ण, ईश्वर तथा विशिष्ट देवी–देवताओं की स्तुति व आराधना से युक्त बंदिश के रूप में थी परन्तु बाद में ध्रुपद ऋतु व प्रकृति वर्णन से युक्त तथा राजाओं की प्रशंसा से युक्त बंदिशों के रूप में बनने लगे।

प्रसिद्ध ग्रन्थकार भावभट्ट अपने ग्रन्थ **'अनूप संगीत रत्नाकर'** में ध्रुपद के लक्षण इस प्रकार बताये हैं–

'गीर्वाणमध्यदेशीय भाषा साहित्य राजितम्।
द्वि चतुर्वाक्यसम्पन्नं नरनारी कथाश्रयम्।।
श्रृंगार रसभाववाद्यं रागालाप पदात्मकम्।
पादान्तानुप्रासयुक्तं पादान्तयुगकम् चवा।।
प्रतिपादम् यत्र बद्धमेवं पादचतुष्टयं।
उदग्राह ध्रुवकभोगान्तरम् ध्रुवपदं स्मृतम् ।।

अर्थात्–"संस्कृत अथवा मध्यदेशीय (मुख्यतः ब्रजभाषा) भाषा के साहित्य द्वारा सुशोभित, दो या चार वाक्यों से युक्त और सामान्यतः जिसकी विषय वस्तु नर–नारी की कथा हो, मुख्य रूप से श्रृंगार रस और भावों से परिपूर्ण हो रागालाप से युक्त पदों का समावेश हो, पादों के अन्त में अनुप्रास अथवा युगक हो। जिसमें चारों पाद इस प्रकार से बद्ध हो और जिसमें उदग्राह, ध्रुवक, अन्तरा, आभोग पाये जाते हो उसे ध्रुवपद कहा

गया है।'' इस कथन में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि भावभट्ट 17वीं शताब्दी में भी ध्रुपद के भागों को उद्ग्राह, ध्रुव, अन्तरा और आभोग कह रहे हैं जो कि प्रबन्ध के भागों थे नाम के जिनको **धातु** कहते थे। यह एक और प्रमाण है कि ध्रुपद का उद्गम प्रबन्ध से हुआ है।

डॉ० सुमति मुटाटकर के अनुसार–'प्राचीन भारत में संगीत का मन्दिरों से बहुत अधिक सम्बन्ध था। धार्मिक व भावमय रूप के कारण ही वह जनसाधारण के द्वारा पसंद किया गया। प्रबन्ध संस्कृत में थे जो केवल कुछ ही लोगों के समझ में आते थे परन्तु देशी भाषाओं की बंदिशें होने से संगीत की धारा जनसाधारण में पहुँच गयी। उत्तर में ब्रजभाषा और दक्षिण में तेलुगू भाषाएं संगीत को व्यक्त करने की दो अति लोकप्रिय भाषायें बनीं। उत्तर में प्रबन्ध ने ध्रुपद को जन्म दिया जिसने धीरे–धीरे अधिक से अधिक लोगों को प्रभावित किया। भावभट्ट के यह कहने से–**'गीर्वाणमध्यदेशीय भाषा साहित्य राजितम्'** ऐसा ही लगता है कि आरम्भ में ध्रुपद संस्कृत में तथा अन्य भाषाओं में ही रचे जाते थे और उनमें साहित्य को बहुत ही महत्व दिया जाता था।' डॉ० मुटाटकर के अनुसार ध्रुपद, राग, ताल आदि शास्त्रीय संगीत मंदिरों व देवालयों में ही विकसित हुआ परन्तु मुसलमानी शासन होने के बाद हमारे गायक राजदरबारों में पहुँच गये और संगीत में आध्यात्मिकता कम होकर वह एक राजदरबार की वस्तु बन गयी।

डॉ० एस०एन० रातनजंकर भी ध्रुपद को मन्दिरों और देवस्थानों के गीतों से उद्धृत मानते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनके मत में मन्दिरों आदि में गाये जाने वाले स्तुति गीतों से ध्रुपद का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। उनका कहना है कि बहुत से देवस्थानों में सूर्योदय, संध्या समय तथा रात्रि के समय पूजा–अर्चना, गायन, वादन तथा नृत्य की सहायता से होती थी और उसके साथ मृदंग बजायी जाती थी। आरम्भ में यह गीत संस्कृत भाषा में होते थे पर बाद में देशी भाषाओं में इसकी रचना होने लगी और तब यही रचनायें मन्दिरों में गायी जाने लगी। पंडित रातनजंकर ने कहा–'इन्हीं गीतों को राजनायकों ने उठाकर गायन की कलापूर्ण शैली में राज सभा में

गाना आरम्भ किया। देवालयों में गाये जाने वाले ध्रुपदों में 'देवता की भक्तियुक्त आराधना' यह उद्देश्य होता था जबकि राजसभा लौकिक ध्रुपद में 'गायन पटुता' ध्येय होता है'।[1]

इन विचारों से परे कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि ध्रुपद का उद्गम ग्वालियर व उसके आस–पास के देशी लोकगीतों से हुआ है। उनका तर्क है कि ध्रुपद और देशी लोकगीतों की प्रकृति में कुछ समानता थी और उसको प्रस्तुत करने की विधि भी केवल तानों को छोड़कर के समान थीं। प्राचीन समय के ध्रुपद के बारे में आचार्य बृहस्पति के अनुसार–'ध्रुपदों में देवताओं और महापुरूषों की स्तुतियाँ थीं। नायिका भेद के आधार पर कुछ श्रृंगारमय चित्र थे जिसमें जनता को वास्तविक जीवन की झाँकियाँ भी मिल सकती थीं। यह प्रबन्ध लोकभाषा में थे और इसमें खयालियों की भाँति अलंकार प्रधानता न होने के कारण जटिलता का अभाव था। आपने ही अबुल फ़ज़ल के विचारों के बारे में लिखा है–"अबुल फ़ज़ल ने ध्रुपद का जो लक्षण दिया है उससे यह ज्ञात होता है कि ताल और छन्द का सामंजस्य भी ध्रुपद पद्धति में न था। कवित्त और सवैये जैसे छन्द बारह मात्रा के तालों में बँधे हुए मिलते हैं, जिनका चौताले से कोई सामंजस्य नहीं है। अनेक ध्रुपद न गद्य है न पद्य उनमें अन्त्यानुप्रास है, चार चरण हैं परन्तु पद के प्रधान लक्षण विराम, गति और परिणाम का अभाव है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भाषा और विचारों की दृष्टि से ध्रुपदों को जनसाधारण में मान मिला। इस मान का कारण ध्रुपदों में व्यवहृत भारतीय राग तथा उनमें अलंकार सम्बन्धी जटिलता का अभाव भी है।"

इन सब बातों से हमें यह मालूम होता है कि उस समय ध्रुपद का स्वरूप यह नहीं था जो आज है। आज का ध्रुपद दो या चार भागों से युक्त, अधिकतर चौताले में निबद्ध, लयकारी, सरगम तथा कुछ विशेष गमकों का प्रयोग करना, लय पर अधिक ज़ोर देना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो प्रायः ध्रुपद प्रस्तुत करते समय सभी गायकों की

---

[1] डॉ० एस०एन० रातनजंकर–'ध्रुवपद गायकी की समस्याएँ', लक्ष्य संगीत, जून–1956, पृष्ठ–17

एक समान होती है परन्तु इन सबके अतिरिक्त कुछ अन्तर ऐसे हैं जिनसे विभिन्न बानियों के गायकों अथवा घरानों की पहचान होती है और वह है नोम्–तोम् के आलाप। आधुनिक समय में सभी गायक नोम्–तोम् के आलाप अवश्य करते हैं। 'ध्रुव' का अर्थ स्थिर, व्यवस्थित व निश्चित होने से इसकी रचना एक विशिष्ट आकार या रूप में हुई। देखा जाय तो साहित्यिक भाषा व साधारण बोलचाल की भाषा के रूप में सदा ही दो धाराएँ चलती हैं। 9 वीं–10वीं शताब्दी में संस्कृत ही विशेष साहित्यिक भाषा थी, इसलिये मुख्य रूप से उसी में प्रबन्ध रचना होती रही और बाद में जनरूचि के अनुसार देशी भाषाओं में रचनाएं की जाने लगी। प्रबंध मन्दिरों का संगीत था और उसके आधार पर इसकी रचना हुई थी। इसलिये यह भी स्वाभाविक था कि ध्रुपद भी आरम्भ में मन्दिरों में गाये जाने लगे परन्तु बाद में जब मुसलमान आए तो मन्दिरों में विश्वास न होने के कारण उन्होंने इसको केवल मनोरंजन का साधन समझा और बाद में गायकों को प्रलोभन दिये जाने पर उन्होंने उसी आधार पर राजाओं की प्रशंसा में अथवा श्रृंगार रस प्रधान बन्दिशें बनानी आरम्भ कर दी।

ध्रुपद के पूर्वाधार को खोजते हुए हम देख सकते हैं कि जैसे प्रबंध में उदग्राह, ध्रुव, मेलापक, आभोग चार धातु थीं उसी प्रकार ध्रुपद में भी स्थाई, अन्तरा, सन्चारी व आभोग चार भाग हैं। पूर्व वर्णित है कि ध्रुपद का वर्णन करते समय भावभट्ट ने ध्रुपद के चार भागों को भी उद्ग्राह, ध्रुव आदि के रूप में व्यक्त किया है। प्रबन्ध के छः अंगों के समान ही ध्रुपद में भी उन छः अंगों का समावेश है जिनमें से स्वर, पद व ताल तो प्रत्येक ध्रुपद में अवश्य ही प्रयुक्त होते हैं और विरूद, तेनक व पाट में से प्रसंगानुकूल जो भी सम्मिलित किया जा सके रचनाकार प्रयुक्त करते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ध्रुपद प्रबन्ध का विकसित रूप है। ध्रुपद के उद्गम से संबंधित प्राप्त अनेक मतों के प्रकाश में प्राचीन काल की अन्य शैलियों से इसके उद्भव की कल्पना करते हुए यदि गीतियों के साथ ध्रुपद गायकी को जोड़ा जाय तो कहा जा सकता है कि विशिष्ट परंपरा से बद्ध गायक या गायकों के समूह की गायन शैली स्थूल रूप से

एक ही रहती है। किसी गायक समूह में गमक का अधिक प्रयोग होगा तो किसी में वक्र रूप से गाने का प्रचार होगा अथवा किसी समूह ने सीधा–सादा ही गाना पसंद किया हो, ऐसा भेद हम गीतियों में देखते हैं। गीतियों तथा जातियों का प्रचलन तब हो ही चुका था, इसलिये उनका कुछ अंश तो उस समय के गायकों में विद्यमान था ही, संभवतः जब उन्हीं संगीतिज्ञों ने ध्रुपद गाया तो जिस प्रकार गीति, जाति अथवा प्रबंध गाने वाले समूह से वह गायक सम्बन्ध रखता था, उसके ध्रुपद गायन में उसी गायकी का अंश आ गया और उस ध्रुपद गायक या गायक समूह को एक विशिष्ट बानी का नाम दे दिया गया तथा इन बानियों के नाम किसी गायक के निवास–स्थल के नाम पर या किसी गायक के नाम पर रख दिये गये। 11 वीं से 13 वीं शताब्दी तक मुसलमानी आक्रमणों के कारण और फिर मुसलमानी शासन के कारण ध्रुपद का वास्तविक रूप बदल रहा था। 15 वीं शताब्दी में मानसिंह तोमर एक ऐसे राजा हुए जिन्होंने इसको फिर से प्रचार में लाने के प्रयत्न किये और सफलता पाई उनके साथ ध्रुपद गायकों ने भी अत्यधिक सहयोग दिया। 15 वीं–17वीं शताब्दी तक ध्रुपद के प्रचलन का विवरण देते हुए आचार्य बृहस्पति ने कहा कि–"ध्रुपद गायन अकबर के (1556–1605 ई०) दरबार में मियां तानसेन द्वारा किया गया। जहांगीर (1605–1627 ई०) भी ध्रुपद सुनने का बेहद शौकीन था। ध्रुपद के साथ ही साथ क़व्वाली, ग़ज़ल आदि का भी प्रचार था। जहांगीर के बारे में कहा गया है कि वह ध्रुपद और ग़ज़ल के साथ–साथ कव्वाली सुनने का भी शौक रखता था। शाहजहाँ (1627–1658 ई०) भी ध्रुपद बड़े चाव से सुनता था उसने अपने युग में एक सहस्त्र प्रचलित ध्रुपदों का संग्रह करवाया था।"

ध्रुपद के प्राचीन रूप के बारे में अबुल फ़ज़ल के विचारों पर ध्यान देने से पता चलता है कि उस समय संगीत शास्त्र पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। यह भी संभव है कि राजनैतिक उथल–पुथल के कारण ध्रुपद का रूप बदल गया अथवा कुछ समय के लिये सामाजिक असंतुलित अवस्था में उसका कोई एक विशेष रूप नहीं बन पाया। उस समय जो कुछ संगीत के बारे में लिखा गया या तो वह पूर्ण नहीं था या गायन का

क्रियात्मक रूप ही ठीक नहीं था परन्तु जनसाधारण को इसलिये पसंद था क्योंकि कहाँ तो संस्कृत में रचनाएँ होने के कारण उनकी समझ में आती ही नहीं थी कि वैदिक स्तोत्रों से लेकर जातियों, गीतियों व उसके कुछ समय पश्चात् तक भी संस्कृत ही चलती रही। साधारणतः संस्कृत के रचना कार्य का अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि उस समय के जितने भी ग्रन्थ आज उपलब्ध है, लगभग वे सभी संस्कृत में है। **नारदीय शिक्षा, नाट्यशास्त्र, बृहद्देशी** आदि के पश्चात् संगीत रत्नाकर भी जो 13 वीं शताब्दी की रचना है, संस्कृत में ही लिखी गई है और अब देशी भाषाओं में रचना होने से वे उसका आनंद उठाने लगे क्योंकि जनसाधारण को कभी भी संगीत की शास्त्रीयता से प्रयोजन नहीं रहता। उसकी शास्त्रीयता का निर्धारण केवल संगीतज्ञ ही कर पाते हैं और वही उसका आनंद उठाते हैं। इस प्रकार धीरे–धीरे ध्रुपद का स्वरूप बदलता गया व गाने का तरीका भी बदलता गया।

ध्रुपद की परिभाषा :

ध्रुपद की परिभाषा भिन्न–भिन्न ग्रन्थकारों ने अपने–अपने मतों के अनुसार दी है, जो निम्नलिखित है–**'रागदर्पण'** में राजा मानसिंह तोमर को ध्रुपद का आविष्कारक कहा गया है। 'रागदपर्ण मानसिंह कृत **'मानकुतूहल'** का फ़ारसी अनुवाद ग्रन्थ है। इसके अनुसार ध्रुपद की परिभाषा इस प्रकार है– "इसमें चार पंक्तियाँ होती हैं........इसकी भाषा देशी होती है.........समस्त रसों में इसे बाँधा जाता है।" इस परिभाषा के अनुसार ध्रुपद में छन्द का होना अनिवार्य नहीं है। अबुल फ़ज़ल ने **'आइने अकबरी'** में ध्रुपद के बारे में यह कहा है कि ध्रुपद तीन या चार लयबद्ध पंक्तियों से निर्मित पद है। उन पंक्तियों की लम्बाई कुछ भी हो सकती है, जो अपने पौरूष अथवा गुणों के कारण प्रसिद्ध होते हैं। ध्रुपद आगरा, ग्वालियर, बैरी तथा आस–पास के प्रदेशों में प्रचलित गीत हैं। अबुल फ़ज़ल कृष्ण की स्तुति वाले गीतों को **'विष्णुपद'** कहते हैं। उनके अनुसार मथुरा में गाये जाने वाले वे गीत विष्णुपद हैं जो चार या छः पंक्तियों से निर्मित खंडों से बने होते हैं। ध्रुपद गाने वाले कलावन्त हैं "[1]

---

1. The Karawant (Kalawant) Chiefly Sing the Dhroopad" (A. I.N. Glad, Page- 734)|

शिवाजी के पिता शाह जी के आश्रित पण्डित वेद ने **'संगीत मकरन्द'** में ध्रुपद की परिभाषा इस प्रकार दी है कि–''ध्रुपद में उद्ग्राह, ध्रुवक, आभोग ये तीन धातु होते हैं जो प्रायः मध्यदेशीय भाषा में निबद्ध होते हैं। पंडित वेद के अनुसार, ध्रुपद की परिभाषा इस प्रकार है–

''गीयमाने ध्रुवपदे गीति भाव मनोहरे। नर्तन तनुयात् पात्रं कान्ताहास्यादि दृष्टिजम्।।
नानागतिलसद् भावमुखरागादिसंयुंतम्। सुकुमारांग विन्यासं दन्तोद्योतिलहावकम्।।
खंडमानेन रचितं मध्य मध्ये च कंपनम्। यत्रं नृत्यंभ वेदेवं ध्रुवपदारण्यं तदाभवेत्।।
प्रायशो मध्यदेशीय भाषया यत्र धातवः। उद्ग्राह ध्रुवकाभोगास्त्रय एते भवन्ति ते।।
उद्ग्राहरहितं केचित्परे त्वाभोग वर्जितम्। उद्ग्राहा भोगरहितभन्त्तर्थ परे जगुः।।''

अर्थात् जब भावों से मनोहर ध्रुपद नामक गीत गाया जा रहा हो तब पात्र को ऐसा नर्तन करना चाहिए जिससे प्रियतमा के हास्य, कटाक्ष आदि का प्रदर्शन हो, विविध गतियों या चेष्टाओं द्वारा भावों की अभिव्यक्ति हो, मुखराग आदि से युक्त जिसमें सुकुमार अंग विन्यास हो, दंतप्रभा से जिससे हावों (नायिका की स्वाभाविक चेष्टाओं) की अभिव्यक्ति हो, जिसकी रचना (ध्रुपद) खण्डों के मान से की गई हो, जिसके बीच–बीच में कंपन हो, ऐसा नृत्य **'ध्रुपद नृत्य'** कहलाता है, जिसमें उद्ग्राह, ध्रुवक और आभोग नामक धातुयें मध्यदेशीय से युक्त होती हैं और कुछ लोग उसे उद्ग्राह रहित, कुछ आभोग रहित और कुछ उद्ग्राह और आभोग से रहित अर्थात् ध्रुवक मात्र मानते हैं, जो अन्वर्थ (अर्थ के अनुकूल) है। कुछ लोगों के अनुसार उद्ग्राह रहित ध्रुपद, कुछ के अनुसार आभोग रहित तथा कुछ के अनुसार ध्रुव नामक भाग ही ध्रुपद है। संगीत सम्राट तानसेन के ध्रुपदों से भी ध्रुपद की परिभाषा का परिचय प्राप्त होता है। यद्यपि तानसेन ने ध्रुपद की स्वतंत्र परिभाषा नहीं दी है। उनके रचित ध्रुपदों के अनुसार, ध्रुपद की परिभाषा इस प्रकार है–ध्रुपद की चार तुकें होनी चाहिए। ध्रुपद को शुद्ध अक्षरों से युक्त अच्छे गुरूओं के शिष्यों द्वारा विरचित तथा नवरसों में से किसी भी एक रस से युक्त होना चाहिए। राग और रस में सामंजस्य उनकी प्रकृति की दृष्टि से भी उचित है। यहाँ

बताया गया है कि **'राग'** और **'रस'** ध्रुपद के प्राण हैं। निपुण व्यक्ति की रचना ही ध्रुपद हो सकती है। यहाँ पर अक्षरों की चर्चा भी हुई है। मुहम्मद करम इमाम जो वाजिद अली शाह के आश्रित थे, उनके अनुसार– "ध्रुपद में चार–पाँच चरण होते हैं और दो भी होते हैं। चरण का अर्थ 'तुक' है। स्थाई, अन्तरा, भोग और आभोग यें चारों तुकों के नाम हैं। 'तुक' को 'खण्ड' भी कहा जाता है।" 19 वीं शताब्दी में भातखंडे जी के अनुसार ध्रुपद की आधुनिक परिभाषा इस प्रकार है कि–"उसके स्थाई, अंतरा, संचारी, आभोग ये चार भाग होते हैं और कुछ ध्रुपदों में केवल दो भाग स्थाई, अन्तरा ही होते हैं। भाषा उच्च श्रेणी की होती है। वीर, श्रृंगार और शान्त रस की प्रधानता होती है। यह चौताल, सूलफाक, झंपा, तेवरा, ब्रह्म, रूद्र इत्यादि तालों के साथ गाया जाता है। भातखंडे जी के अनुसार, ध्रुपद मर्दाना और ज़ोरदार गायकी है।"

अबुल फ़ज़ल के अनुसार–"ध्रुपद तीन या चार पंक्तियों से निर्मित पद है उन पंक्तियों की लम्बाई कुछ भी हो सकती है। इन ध्रुपदों का विषय प्रधानतया उन व्यक्तियों की प्रशंसा होती है जो अपने पौरूष अथवा गुणों के कारण प्रसिद्ध होते हैं। ध्रुपद आगरा, ग्वालियर और आस–पास के प्रदेशों में प्रचलित गीत है।"

विशेषताएँ :

ध्रुपद गायन शैली गंभीर प्रकृति की शांत व धार्मिक प्रवृत्ति से युक्त शैली है। **इस शैली में राग की शुद्धता प्रधान होती है। ध्रुपद शैली की विषयवस्तु साधारणतः** देवी– देवताओं की प्रशंसा, भगवान शिव की महिमा, मुगल बादशाहों की प्रशंसा, वर्षाऋतु की चर्चा तथा अन्य प्रकृति वर्णन से संबंधित होती है। प्राचीन समय में मन्दिरों व देवालयों में गाये जाने के कारण ही संभवतः ध्रुपद शैली के गीतों की विषयवस्तु भगवद्वन्दना तथा स्तोत्रों से युक्त होती है। इसीलिये विष्णु, शंकर, महेश, गणेश, सरस्वती आदि देवी–देवताओं से संबन्धित अनेक ध्रुपद बने। इसके अतिरिक्त भगवान कृष्ण की लीलाओं व रासक्रीड़ाओं से तथा श्री रामचन्द्र जी के कल्याणकारी चरित्र के वर्णन से युक्त भक्ति प्रधान पद भी अनेक ध्रुपदों में मिलते हैं। जब यह गायकी मन्दिरों

के साथ–साथ राजदरबारों में आई तो राजा महाराजाओं की प्रशंसा से युक्त ध्रुपदों की रचना की जाने लगी अथवा यह बन्दिशें मियाँ तानसेन, चतुरपंडित, नायक बैजू, नायक बख्सू आदि के नाम से युक्त होती हैं। अलाउद्दीन खिलजी, राजा रामचन्द्र, अकबर और यहाँ तक कि संगीत के विरोधी कहे जाने वाले बादशाह औरंगजेब आदि की प्रशंसा में भी अनेक ध्रुपद आज भी उपलब्ध हैं। इसके साथ ही साथ संगीत के शास्त्रीय वर्णन से युक्त ध्रुपद भी दिखाई पड़ते हैं।

प्रबन्धों में साहित्य अर्थात् पदों की जो बहुलता थी, ध्रुपद में उसको कुछ संक्षिप्त किया गया, फिर भी ध्रुपद की बन्दिश में भी शब्दों की बहुलता होती है। जिस ताल में जो ध्रुपद जिस भाँति रचा जाता है बन्दिश का वह स्वरूप विभिन्न लयकारियाँ करते हुए भी उसी रूप में रहता है अर्थात् एक आवर्त में आने वाले लघु व गुरू अक्षर तथा स्वर एवं आकार अपने–अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं भले ही वह दुगुन, तिगुन आदि किसी भी लय में गाया जाय। ताल में बंधा हुआ यह 'गीत' ताल रूपी फ्रेम में जड़ी हुई किसी तस्वीर की भाँति प्रतीत होता है। इसमें दुगुन, तिगुन, चौगुन या आड़, कुआड़, बिआड़ आदि लयकारियों के परम्परागत कार्य के कारण जटिलता होते हुए भी कला–कौशल के प्रति रूचि बनी रहती है। विभिन्न लयों को दिखाते हुए कलाकर सरसता व विषयवस्तु के भाव पक्ष के प्रति सजग रहता है। गमक ध्रुपद का एक महत्वपूर्ण अंग है, गीत के पूर्व किये जाने वाले नोम्–तोम् के आलापों में जब लय कुछ बढ़ा ली जाती है तब विभिन्न प्रकार की गमकों का काम दिखाया जाता है जो कि भारी व वज़नदार आवाज में अधिक सुंदर प्रतीत होती है। गमक के साथ ही साथ मींड के लिये भी इस शैली में बहुत स्थान है परंतु अन्य प्रकार के सौन्दर्यतत्व अर्थात् बारीक खटके, मुर्की तथा छोटी–छोटी हरकतों के लिये इसमें स्थान नहीं रहता। ध्रुपद में तान बिल्कुल नहीं ली जाती है और न ही तालबद्ध गीत के बीच में आलापचारी के लिये स्थान रहता है। तालबद्ध गीत के बीच विभिन्न लयों का विभाजन, शब्दों का पुनरोच्चारण तथा तिहाईयाँ आदि ली जा सकती हैं। स्वरों में ठहराव व गंभीरता का होना, भिन्न–भिन्न लयों में कुशलतापूर्वक बन्दिश को बाँधना व स्वरों को बाँटना, उनमें तिहाईयाँ आदि दिखाना

इस शैली के गायन की प्रधान विशेषताएँ हैं। ध्रुपद गायन की संगत पखावज पर की जाती है क्योंकि उसकी ध्वनि ज़ोरदार व साथ ही गहरी भी होती है। ध्रुपद शैली में संगीतोपयोगी कोमलता व चंचलता नहीं है। पखावज पर ध्रुपद के साथ सूलताल व झपताल आदि तालें अधिकतर बजाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्मताल, लक्ष्मीताल, मत्तताल, गणेश, शिखर, सवारी, रूद्र, सूलफाक आदि भी ध्रुपद के अनुकूल जोरदार तालें हैं परंतु इन तालों में बहुत ही कम रचनाएँ दिखाई पड़ती हैं। पहले ध्रुपद गायन एक सौ बीस तालों में होता था जैसे–हंसताल, राजमार्तण्डताल, चंपक, कमालमंडिका, गजझंपा, सरस्वती, चन्द्रका आदि। ध्रुपद गान में चार खंड होते हैं जो स्थाई, अन्तरा, संचारी और आभोग कहलाते हैं। आजकल प्रायः स्थाई और अन्तरा ये दो ही खंड गाये जाते हैं। पद रचना की तरह इसकी गानशैली का स्वरूप भी विशिष्ट है, जिसे चार खंडों में बांटा जा सकता है–

1. नोम्–तोम् 2. बन्दिश 3. लयकारी 4. उपज

इन्हें शास्त्रीय भाषा में क्रमशः रागालप्ति, गीत, लय वैचित्र्य एवं भंजनी रूपकालप्ति कहा जाता है। आरंभ में नोम्–तोम् का **आलाप** किया जाता है, जिसमें त, न, री, तों, नों, तु, दि, रि आदि निरर्थक वर्णों का प्रयोग करने के साथ आलाप किया जाता है। इन वर्णों का संबंध 'ओ३म' 'त्वमनन्त' 'हरि' 'ओं' आदि ईश्वर के वाचक शब्दों से संयुक्त किया जाता है, जो प्रबन्धों में तेन कहलाते थे। इस प्रकार नोम्–तोम् वर्ण प्राचीन परंपरा से सम्बद्ध है। इस आलाप के माध्यम से प्रारंभ में राग के स्वरूप का परिचय दिया जाता है। नोम्–तोम् के आलाप अनिबद्ध होते हैं परन्तु गायक अपनी इच्छानुसार इनको लयबद्ध कर लेता है तथा उसके बाद आने वाले आलापों में धीरे–धीरे लय बढ़ाता जाता है, अंत में अपनी पराकाष्ठा भर लय बढ़ा लेता है। इस समय यह आलाप नोम्–तोम् में होने के कारण कुछ–कुछ तराने अथवा सितार के झाले का आभास देता है। इसे 'जोड़काम' के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक आलाप के अन्त में गायक को 'सा' पर आने के बाद 'सम' दिखाना होता है। संपूर्ण आलापों में लय की प्रधानता रहती है। आलाप करते समय भी स्थाई, अंतरा, संचारी, आभोग के क्रमानुसार ही बढ़त की जाती है।

आलाप के बाद **बन्दिश** आरंभ की जाती है। इसमें ध्रुपद का पद विलंबित मध्यलय में गाया जाता है अथवा गायक अपनी सुविधानुसार ऐसी लय बनाता है कि वह सुगमता से जिसमें अधिकाधिक लयकारियाँ दिखा सके। द्रुतगति में लयबद्ध आलाप करने के बाद पद के गान में जो वैषम्य उत्पन्न होता है वह ध्रुपद शैली का प्राण है। द्रुतगति के कारण श्रोता का चित्त जिस तनाव अथवा खिंचाव में रहता है वह पद के शुरू होते ही एकदम समाप्त हो जाता है। श्रोता का मन पूरी तरह विश्रान्तता को ग्रहण कर लेता है।

गीत गाने के बाद **लयकारी** की जाती है। इसमें दुगुन, तिगुन, चौगुन, छगुन जैसी सरल एवं 3/4 (पौनगुना), 2/3 (आड़) तथा कुआड़, बिआड़ आदि क्लिष्ट एवं कठिन लयों का प्रयोग गायक अपनी सामर्थ्य एवं योग्यतानुसार करता है। इन्हें विभिन्न मात्राओं से प्रारंभ करके सीधे और तिहाई युक्त, दोनों प्रकार से किया जाता है जिसे लयबाँट या लयवन्त कहा जाता है। यह ध्रुपद गान शैली का सर्वाधिक कठिन अंश है।

अंत में **'भंजनी रूपकालप्ति'** का प्रयोग किया जाता है। जिसे वर्तमान समय में उपज या बोला बाँट कहा जाता है। गीत के शब्दों को विविध प्रकार से सुसज्जित करना ही रूपकालप्ति का सरल रूप है अर्थात् विविध प्रकार के रूप भेद करके इसमें बोल बनाये जाते हैं, जिसमें विभिन्न प्रकार की लयों में सरगम् आदि भी ली जाती है। इसके अतिरिक्त संपूर्ण बन्दिश को दुगुन, तिगुन, चौगुन, आड़, कुआड़ आदि विविध लयकारियों में गाकर अपनी संपूर्ण कला श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत करने के बाद स्थाई की प्रथम पंक्ति को 'ठाह' लय में गाकर 'सम' पर गायन समाप्त किया जाता है। इस प्रकार स्वर, ताल और पद–तीनों का उत्कृष्ट रूप ध्रुपद है। पखावज जैसे गंभीर वाद्य का प्रयोग इसकी भव्यता में वृद्धि करता है। इसकी साधना अत्यन्त कठिन है लेकिन सभी प्रकार के श्रोताओं के लिये यह हृदय रंजक होता है इसलिये इसे एवं ध्रुपद गायक को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है।

बानियाँ :

ध्रुपदों की बानियाँ अकबर के युग के बाद आयीं। भातखंडे जी 'बानी' का अर्थ स्वराश्रित गान शैली या गीति मानते हैं। तानसेन के ध्रुपदों में शुद्ध बानी (शुद्ध वाणी) का अर्थ गीति नहीं अपितु किसी विशेष जाति या प्रदेश की भाषा को वाणी कहा गया है। अतः यहाँ 'बानी' किसी गान शैली या गीति को नही वरन् प्रदेश की भाषा को कहा गया है। मुहम्मद करम इमाम ने चार बानियों का वर्णन किया है और बानियों को जाति या प्रदेश से ही संबंधित बताया है । स्वामी प्रज्ञानानन्द के अनुसार अकबर के समय में गीतों को गाने के चार अंग थे, जो देशी गायन अथवा देशी साहित्य पर आधारित थे। ये चार ढंग जिन्हें बानियों के नाम से जानते थे वह इस प्रकार थे–गौड़हार, खंडार, डागुर, नौहार। बानियों के मूल उद्गम स्थान के विषय में श्री प्रज्ञानानन्द लिखते हैं कि वाणियों का मूल उद्गम स्थान गीतियाँ हैं। पहले ग्रामराग पाँच भिन्न–भिन्न शैलियों में गाये जाते थे। **संगीत रत्नाकर** में **'पंचगीत'** की चर्चा की गयी है। स्वरों का अलग–अलग प्रयोग इन शैलियों में बताया गया है। इन पाँचों के नाम हैं– शुद्धगीति, भिन्नगीति, गौड़ीगीति, बेसरागीति और साधारणी गीति। पाँचवे प्रकार अर्थात् साधारणी गीति की विशेषता यह थी कि इसमें पहली चारों की विशेषताओं का सम्मिश्रण होता था। हिन्दुस्तानी संगीत में प्रयुक्त चार बानियों का गायन मुख्यतः एक समान होते हुए भी सबकी अपनी–अपनी कुछ विशेषताएँ थीं, जो इस प्रकार हैं–

(1) गोबरहार बानी (गौड़हार) : यह शुद्धगीत से मिलती–जुलती हैं। इसमें मींड का अधिक प्रयोग किया जाता है। स्पष्टता इसका प्रधान गुण है तथा यह शांत रस की द्योतक होने के साथ इसकी गति धीमी है। तानसेन ध्रुपद पद्धति के अनुसार इस बानी को सच्चे स्वरों में और बहुत सुरीले ढंग से गाया जाता है। तानसेन इसी बानी को गाते थे एवं इसके विशेषज्ञ माने जाते थे। उनके छोटे पुत्र विलास खाँ भी इसी बानी में पारंगत थे। इसके प्रतिनिधि वंशज प्यार खाँ तथा जाफर खाँ माने जाते हैं एवं किराना घराना के अब्दुल करीम खाँ साहब भी इसी बानी की गायकी गाते थे।

(2) डागुर बानी : यह बानी भिन्न गीति से मिलती–जुलती है। इसमें मींड एक विशेष ढंग से लगाई जाती है और गमक का भी बहुत सुन्दर एवं कलात्मक प्रयोग किया जाता है। इस बानी में सरलता और वैचित्र्य दोनों के गुण पाये जाते हैं, इसमें स्वर लालित्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है, इसकी गति सहज और सरल है तथा स्वरों को टेढ़ा और विचित्र ढंग से लगाया जाता है। इस बानी में ध्रुपद बड़े सुन्दर ढंग से गाया जाता है। तानसेन के गुरू वृन्दावन के स्वामी हरिदास इसी बानी का प्रयोग करते थे। तानसेन की सुपुत्री सरस्वती भी इसी बानी को व्यवहार में लाती थी। इसके प्रतिनिधि कलाकार यूसुफ खाँ और वजी खाँ माने जाते थे।

(3) खंडार बानी : यह बानी बेसरा गीति से मिलती जुलती है और इसमें तेज लय वाली गमक का प्रयोग अधिक किया जाता है। इस बानी की विशेषता वैचित्र्य तथा ऐश्वर्य है व तीव्र रसोद्दीपन है। इसमें स्वरों को खंड–खंड करके गाते हैं। इसके प्रतिनिधि कलाकार रामपुर के वजीर अली हुए हैं।

(4) नौहार बानी : यह बानी गौड़ी गीति से बहुत मिलती–जुलती है। एक स्वर से दो तीन स्वरों का लंघन करके परवर्ती पर पहुँचना इसका लक्षण है अर्थात इसमें अलंकार का प्रयोग किया जाता है जिसमें स्वर, गमक के साथ एक विशेष ढंग से लगाये जाते हैं। कहा जाता है कि श्रीचंद, जो स्वामी हरिदास के शिष्य थे, इस बानी को बहुत सुन्दर ढंग से गाते थे एवं उसके विशेषज्ञ थे। इसके प्रतिनिधि कलाकार तानरस खाँ माने जाते हैं।

तानसेन की एक ध्रुपद रचना में इन चारों बानियों का वर्णन किया गया है और उनके गुण बताये गये हैं। इस विशेष रचना में तानसेन ने बताया है कि गौड़हार बानी सब बानियों में राजा के तुल्य है, खंडार को सेनापति, डागुर बानी को मंत्री तथा नौहार बानी को निम्न श्रेणी का पदाधिकारी बताया है। इन बानियों में शब्दों का विशेष महत्व एवं मूल्य था। यह शब्द इसलिये उचित और उपयुक्त माने जाते थे कि राग के और ध्रुपद शैली के अनुसार यह बहुत अनुकूल थे। इस तरह भाषा, भाव, राग, रस और

शैली में एक तरह का सामन्जस्य होता था और संश्लेषण की भावना होती थी। गौड़हार बानी के लिए उन रागों को चुना जाता था जिसमें शांत रस होता था। इसी प्रकार डागुर बानी में मधुर एवं करूण रस प्रधान राग, खंडार बानी में विशेषतः वीर रस प्रधान राग एवं नौहार बनी में अद्‌भुत रस प्रधान रागों को चुना जाता था। रागों को इसी हिसाब से चुना जाता था कि उनमें यह रस अलग–अलग ढंग से प्रदर्शित हों। इस तरह की चयनशीलता ऐसे संगीत के लिए आवश्यक थी। परन्तु तानसेन और अकबर के युग के पश्चात् यह विचार नहीं रखा गया। इसका एक विशेष कारण था कि मुगल साम्राज्य के अंत होने पर ध्रुपद के बहुत से नये–नये घरानों का जन्म हुआ जो इन चार बानियों की अलग–अलग व्याख्या करने लगे। परन्तु ध्रुपद के पुराने नियमों और उनके अनुशासन का उसी ढंग से पालन किया जाता है । जैसे ध्रुपद का कोई विशेष घराना जो किसी एक बानी का विशेषज्ञ माना जाता था, दूसरी बानियों को भी व्यवहार में लाने लगा। कुछ घराने एक से अधिक बानियों का प्रयोग करने लगे इसका परिणाम यह भी हुआ कि ध्रुपद के परंपरागत अनुशासन में भी थोड़ी बहुत कमी आ गयी। नये–नये घरानों के विकास के साथ–साथ परिवर्तनों का होना स्वाभाविक था। 18वीं और 19वीं शताब्दियों में तानसेन के वंशज और उनके शिष्य तीन विशेष घरानों में फैल गये। जयपुर के सेनिये घराने में डागुर बानी के ध्रुपद में विशेष प्रवीणता प्राप्त की। लखनऊ, बनारस और रामपुर में सेनिया घराना दो अलग–अलग वर्गों में बंट गया। विलास खाँ की परंपरा के अनुयायी जाफर खाँ, प्यार खाँ और बासत खाँ ने ध्रुपद की गौड़हार बानी का पालन किया। परन्तु यह गायक डागुर बानी का भी प्रयोग करते थे। मिश्री सिंह के सेनिये वंशज डागुर और खंडार दोनों बानियों का प्रयोग करने लगे। ध्रुपद के और भी घराने थे जिनमें कुछ तो सेनियों के शिष्य थे और कुछ स्वामी हरिदास की शिष्य परंपरा में थे, जैसे बेतिया के ध्रुपद गायक जो खंडार बानी को मानते थे। इसी प्रकार विष्णुपुर के ध्रुपद गायकों ने गौड़हार बानी का ही प्रयोग किया। मथुरा नाम के मशहूर ध्रुपद गायक ने डागुर बानी में विशेष कुशलता प्राप्त की। उस्ताद

बहराम खाँ जो सहानपुर जिले के अम्बैठा गांव के निवासी थे, डागुर बानी की व्याख्या करते थे। उनका घराना अपने को स्वामी हरिदास से जोड़ता है इसलिए डागुर घराना कहलाता है जिसमें जाकिरूद्दीन खाँ और अलाबंदे खाँ जैसे प्रसिद्ध ध्रुपद गायक हुये हैं। इस घराने के गायकों ने डागुर और खंडार दोनों बानियों को गाया है परन्तु कभी–कभी वह नौहार बानी का भी आनन्द लेते हैं। इस प्रकार कालान्तर में उपरोक्त बानियों का ध्रुपद गायन शैली के विभिन्न घरानों एवं प्रयोग में विस्तार हुआ।

उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में स्वामी हरिदास का ध्रुपद के विकास में योगदान :

संगीत शास्त्र के धुरंधर आचार्य, गायक शिरोमणि, वृन्दावन के महान संत, रसिक भक्त ध्रुपद शैली के आचार्य और सुविख्यात धर्माचार्य, स्वामी हरिदास के अपूर्व योगदानों के कारण विक्रम की 16 वीं शती को उत्तर प्रदेश एवं उसमें स्थित ब्रजमंडल के पुनरूत्थान का महत्वपूर्ण काल माना जाता है। उनके योगदानों ने ब्रज के धर्म, साहित्य और कला–कौशल को समुन्नत रूप प्रदान किया जिसका व्यापक प्रभाव संपूर्ण उत्तर भारत के साथ देश भर में पड़ा और देश में नवजागरण की धारा जागृत हुई। आज ब्रज संस्कृति को स्वामी हरिदास जी की संस्कृति में जोड़ा जाता है, जिसके प्रभाव से भारत के भिन्न–भिन्न भागों के निवासी अपने जीवन को समुन्नत और सुसंस्कृत बनाते रहे हैं।

स्वामी हरिदास जी उत्तर प्रदेश के एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक स्थल वृन्दावन के महान संत, रसिक भक्त संगीत शिरोमणि और भक्त कवियों में प्रथम श्रेणी के ध्रुपदकार थे। उनकी जीवनी से संबंधित अनेक किवदंतियाँ और अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। वैसे तो प्रायः सभी प्राचीन और मध्यकालीन महापुरूषों के जीवन वृत्त अस्पष्ट होने से विवादित है तथापि स्वामी हरिदास की जीवनी विषयक जैसा मतभेद है वैसी बहुत कम महात्माओं के संबंध में मिलती है। इसका कारण उपलब्ध सामग्री विषयक शुद्ध साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मतभेद ही नही; वरन् सांप्रदायिक विवाद भी है। हिन्दी साहित्य के प्रायः

सभी इतिहास ग्रंथों में स्वामी जी का अत्यंत अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण जीवन वृत्त मिलता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में समान रूप से यह लिखा मिलता है कि स्वामी हरिदास जी निम्बार्क संप्रदाय के अन्तर्गत टट्टी स्थान के संस्थापक थे।[1] टट्टी स्थान की स्थापना स्वामी जी से प्रायः दो शताब्दी पश्चात् उनकी विरक्त शिष्य परंपरा के आचार्य श्री ललित किशोरी दास ने की थी। उनका देहावसान सं0 1823 में हुआ था। ऐसी दशा में हरिदास जी को 'टट्टी' स्थान का संस्थापक बताना वास्तविकता के विपरीत है। फिर स्वामी जी की उपासना विधि, भक्ति भावना और उनके रस सिद्धांत में इतनी विलक्षणता है कि उन्हे किसी दार्शनिक संप्रदाय से संबद्ध करना भी वस्तु स्थिति के अनुकूल ज्ञात नहीं होता।

स्वामी जी के अनुगामियों की परंपरा में एक वर्ग विरक्त सन्तों का है और दूसरा गृहस्थ गोस्वामियों का। गोस्वामी वर्ग अपने को स्वामी जी का वंशज बतलाते है और उनका ये दावा विरक्त शिष्य–परंपरा को मान्य नहीं है, यही दोनों वर्गो के पारस्परिक विवाद का मूल कारण है और इस विवाद के फलस्वरूप स्वामी जी के जीवन वृत्तान्त से संबंधित स्पष्टतया दो मत बन गये हैं। स्वामी जी की जन्म तिथि, दीक्षा तिथि व गुण एवं पिता विषयक विवाद में उतनी जटिलता नहीं है जितनी उनके जन्म काल, जन्म स्थान, जाति और संप्रदाय के विषय में है।

विरक्त शिष्य परंपरानुसार जहाँ श्री आशुधीर जी को स्वामी जी का गुरू माना जाता है वहीं गोस्वामी के मतानुसार वे स्वामी जी के पिता और गुरू दोनों थे। दोनों परंपराओं में स्वामी जी का जन्मोत्सव भाद्रपद शुक्ल 8 को ही मनाया जाता है। विरक्त शिष्यों की मान्यता का प्रमुख स्रोत **'निजमत सिद्धांत'** ग्रंथ है। इसमें स्वामी हरिदास और उनकी विरक्त शिष्य परंपरा के संतों से संबंधित जितनी प्रचुर सामग्री मिलती है, वैसी किसी अन्य स्रोत से उपलब्ध नहीं होती है। इसके अतिरिक्त सहचरिशरण कृत **'गुरू प्रणालिका'** एवं **'आचार्योत्सव सूचना'** तथा **'ललित प्रकाश'** भी विचारणीय है।

---

1. (i) मिश्रबन्धु विनोद , पृष्ठ संख्या– 302
   (ii) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या– 161,
   हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ संख्या– 590

निजमत सिद्धांत :

इस ग्रंथ के रचयिता श्री किशोरदास थे। वे संवत् 1791 में वृन्दावन आकर हरिदासी संप्रदाय में दीक्षित हुए। उस समय निधुवन को लेकर स्वामी जी के विरक्त एवं गृहस्थ गोस्वामी शिष्यों में झगड़ा हो रहा था। उसके परिणामस्वरूप विरक्त शिष्यों के तत्कालीन आचार्य ललितकिशोरीदास जी को निधुवन से हटकर यमुना किनारे बाँस की टट्टियों में रहना पड़ा था। तभी से टट्टी स्थान की प्रसिद्धि होने लगी और तभी से विरक्त शिष्यों का संबंध निम्बार्क संप्रदाय से सुदृढ़ हुआ और 'टट्टी' स्थान विरक्त परंपरा का प्रमुख केन्द्र बना था। निजमत सिद्धांत ग्रंथ की रचना ऐसे ही वातावरण में हुई थी। उसमें स्वामी हरिदास जी और उसकी विरक्त परंपरा के आचार्यों और उनके शिष्यों का सर्वप्रथम विस्तृत विवरण मिलता है। इस ग्रंथ के मध्य खंड में स्वामी हरिदास जी के जन्म, दीक्षा प्राप्ति और वृन्दावन निवास की कथा है। स्वामी जी के संबंध में इस ग्रंथ का सुप्रसिद्व उल्लेख इस प्रकार है–

संवत पंद्रहसै सैंतीसा। भादों शुक्ल अष्टमी दीसा।।
बुद्धवार मध्यान्ह विचारयो। श्री हरिदास प्रगट तनु धारयौ।।
गृह में वर्ष पचीस बिताये। फिर बैराग त्याग उपजाये।।
सत्तर वर्ष कीन्ह बन बासा। गुप्त भाव कीन्हो परकासा।।

"गुरू प्रणालिका" नामक ग्रंथ में स्वामी हरिदास जी को आशुधीर जी का शिष्य बताया गया है। स्वामी जी से संबंधित इसका उल्लेख इस प्रकार है–

श्री स्वामी हरिदास रसिक सिरमौर अनीहा।
द्विज सनाढ्य सिरताज सुजस कहि सकत न जीहा।।
गुरू अनुकम्पा मिल्यौ ललित निधिबन तमाल के ।
सत्तर लौं तरू बैठि गने गुन प्रिया-लाल के।।

स्वामी हरिदास जी से संबंधित दोनों प्रचलित मान्यताओं और उनके आधारों की भिन्नता का कारण ये हो सकता है कि मध्यकालीन भक्तों में हरिदास नाम के अनेक महात्मा हुए थे। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' में सात, ध्रुवदास कृत 'भक्त नामावली' में चार और **'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'** में तीन हरिदासों के उल्लेख मिलते हैं। उनमें से कई स्वामी हरिदास के समय में विद्यमान थे और कई बाद में हुये थे। स्वामी जी की शिष्य परंपरा में में भी एक हरिदास थे, जिसके विषय में नवनीत जी ने लिखा है–

श्री स्वामी हरिदास के शिष्य भये हरिदास।

सुमिरन कर हरिदास कौ, होय गये हरिदास।।

उन सभी हरिदासों की जीवन घटनाएँ कालांतर में आपस में इतनी मिल गई कि उन्हें प्रत्येक हरिदास से संबंधित रखना कठिन हो गया। स्वामी हरिदास जी उन सभी हरिदासों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। अतः उनके जीवन वृत्तांत में अन्य हरिदासों की कतिपय बातें भी स्वतः मिल जाने की संभावना हो सकती है। ऐसा और भी अनेक प्राचीन तथा मध्यकालीन महापुरूषों के जीवन वृत्तांत के साथ हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रचलित मान्यताओं की भिन्नता का एक कारण ये भी हो सकता है कि उनमें न्यूनाधिक रूप में कई हरिदासों की जीवन घटनाओं का सम्मिश्रण हो गया है। ऐसी दशा में सही ये होगा कि केवल विवाद रहित बातों को ही मान्यता दी जाय और उनके संबंध में अधिकाधिक अनुसंधान करते हुए सत्य का निर्णय किया जाय।

भारतीय संगीत में स्वामी जी का योगदान :

स्वामी हरिदास जी संगीत के महान् आचार्य थे। उनके संबंध में यह किंवदंती बहुत प्रसिद्ध है कि वे संगीत सम्राट तानसेन के गुरू थे। संगीत से साधारणतया गायन का बोध होता है; किंतु इसके अंतर्गत गायन के साथ वादन और नृत्य कलाएँ भी है। स्वामी जी इन तीनों कलाओं में पारंगत थे। उनके द्वारा संगीत के इन तीनों अंगों की उन्नति का प्रशंसनीय कार्य हुआ था। इस संबंध में इनकी देन अत्यंत महत्वपूर्ण है।

स्वामी जी संगीत की ध्रुपद शैली के आचार्य थे। यद्यपि ध्रुपद गायकी के आविष्कार और प्रचार का श्रेय ग्वालियर नरेश राजा मानसिंह तोमर को दिया जाता है। किंतु उसके परिष्कार का श्रेय स्वामी हरिदास जी को देना उचित है क्यूँकि स्वामी जी ने उसे शुद्ध भारतीय संगीत की आत्मा प्रदान की। भारतीय संगीत की आत्मा धार्मिक भावना है उसके बिना वह निर्जीव शरीर के समान है। उसका मूल उद्देश्य लौकिक लाभ अथवा मनोविनोद न होकर पारलौकिक उन्नति और ईश्वरोपासना है। मानसिंह तोमर और उसके दरबारी गायक उसे वह रूप नहीं प्रदान कर सके जो स्वामी हरिदास जी और ब्रज के अन्य भक्त गायकों ने उसे दिया था। अकबर के दरबार में उस समय के विश्वविख्यात संगीतज्ञ थे, जिनमें तानसेन, बाबा रामदास और बाज बहादुर प्रमुख थे। ब्रज में उस समय स्वामी हरिदास और गोविन्द स्वामी जैसे संगीताचार्य तथा सूरदास, परमानंद और कुंभनदास जैसे विख्यात गायक थे; जो अकबरी दरबार के संगीतज्ञों से किसी प्रकार कम नहीं थे। अकबर ने उन्हें दरबार में लाने की अनेक चेष्टाएँ की, नाना प्रकार के प्रलोभन दिये किंतु वे त्यागी महात्मा राजदरबार की छाया से भी दूर भागते थे। वे रूखी–सूखी खाकर अपने इष्टदेव की भक्ति में ही तल्लीन रहना अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनके संगीत का रसास्वादन् कोई लौकिक पुरूष, चाहे वह सम्राट ही क्यों न हो, नहीं कर सकता था। वे निर्गुणिता संन्तों की भाँति जनहित के लिये और कतिपय त्यागी सन्तों की भाँति स्वतः सुखाय के लिये भी नहीं गाते थे। उनका गायन तो अपने इष्टदेव को रिझाने के लिए होता था ताकि वे किसी प्रकार उसकी महती कृपा की तनिक सी कोर ही प्राप्त कर सके।

स्वामी हरिदास जी ने जीवन–पर्यन्त संगीत–साधना इसलिए की कि वे उसे लौकिक मनोविनोद के निम्न धरातल से उठा कर उपासना के उच्च मंच पर प्रतिष्ठित कर सके और विदेशी तत्वों से परिष्कृत कर उसे शुद्ध भारतीय रूप प्रदान कर सकें। यह किंवदंती बहुत प्रसिद्ध है कि जब बादशाह अकबर अनेक चेष्टाएँ करने पर भी स्वामी जी को अपने दरबार में गायन हेतु नहीं बुला सके तब वे छद्म वेश में

तानसेन के साथ वृन्दावन पहुँचे। वहाँ तानसेन ने जाने–अनजाने में जिस प्रकार का गायन किया उसे शुद्व रूप में उपस्थित करने के लिए स्वामी हरिदास को भी गाना पड़ा। जो संगीत उनके स्वामी **'श्यामा-कुंजबिहारी'** के लिये ही अर्पित था उसकी दिव्य छटा अकबर को अनायास ही मिल गई और वे धन्य हो गये। यह इतिहास प्रसिद्व बात है कि तानसेन ने ध्रुपद की गायकी में प्राचीन परंपरा के विरूद्ध नये प्रयोग किये थे उसके फलस्वरूप उसने नये रागों को भी जन्म दिया थ। उनका यह कार्य स्वामी हरिदास जी जैसे शुद्व भारतीय संगीत के समर्थकों को पसंद नहीं आया। तानसेन ने स्वामी जी के समक्ष जो ध्रुपद गायन किया था, वह ध्रुपद भी उसी विकृत शैली का हो सकता है, जिसका परिष्कार करना स्वामी जी अपना आवश्यक कर्तव्य समझते थे इसलिये उन्हें गाना पड़ा था। जहाँ तक संगीत के अन्य अंग वादन और नृत्य का संबंध है उनके लिये भी स्वामी जी की देन महत्वपूर्ण है। उस समय नये वाद्य यंत्रों का प्रयोग होने लगा था किंतु स्वामी जी शुद्व भारतीय वाद्य यंत्र से ही वादन करते थे। नृत्य के संबंध में उनकी देन **रास** के रूप में विद्यमान है। स्वामी जी की रचनाओं में गायन, वादन और नृत्य से संबंधित अनेक पारिभाषिक शब्द, वाद्य यंत्रों के नाम और उनके बोल तथा नृत्य की अनेक मुद्राओं और तालों के संकेत मिलते हैं। इनसे उनके अपार संगीत ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है।

रचनाएँ :

स्वामी हरिदास जी का महत्व एक महान सन्त होने के कारण है; किंतु उनकी रचनाएँ अपना अलग महत्व रखती है, जो उनकी परंपरा के भक्तों में वेद तुल्य है। स्वामी जी की प्रामाणिक रचनाओं के रूप में 128 ध्रुपद माने जाते है। इनमें से 18 **'सिद्वान्त के पद'** और 108 या 110 **'केलिमाल'** के नाम से प्रसिद्ध है। केलिमाल में स्वामी जी के उपासक श्री श्यामा–कुंजबिहारी के नित्य विहार का श्रृंगारिक वर्णन है। इन रचनाओं के अतिरिक्त उनके नाम से कुछ पद और मिलते हैं किंतु उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

हिन्दी साहित्य के कतिपय विद्वानों ने स्वामी जी की रचनाओं को ऊबड़–खाबड़ तथा उनके शब्द चयन में 'चातुर्य की कमी' बतलाई है। स्वामी जी की समस्त रचनाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के कथन द्वारा वास्तव में उनके साथ–न्याय नहीं किया गया है। इस संबंध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि स्वामी जी की रचनाएँ अन्य भक्त कवियों की भाँति गायन के साथ ही साथ पठन–पाठन के लिये उपयुक्त 'पद' के रूप में कथित नहीं हुई है बल्कि संगीत की विशिष्ट शास्त्रोक्त शैली 'ध्रुपद' गायन के रूप में है। कवियों ने 'पद' और 'ध्रुपद' में भेद किया है। किसी गोपाल नामक कवि ने जहाँ पद और ध्रुपद में भेद माना है वहाँ उनके विशिष्ट रचयिताओं के रूप में क्रमशः सूरदास और हरिदास के नाम भी दिये हैं यथा–

'चंद जू की 'छन्द','छप्पै'' नाभा औ बेताल जू की ।
कैसौ कौ 'कवित्त', दोहा' बिहारी के सुगाँस कौ।।
वल्लभरसिक की 'माँझ', गिरधर कवि कुंडलियाँ।
वाजिद 'अरिल्ल' जो है अतिसै प्रकास कौ।।
रसराज 'रेखता', और 'बात' बीरबल जू की।
तुलसी की 'चौपाई' औ 'सलोक' वेदव्यास कौ।।
भनत 'गुपाल' ये जहान बीच जाहर है।
सूर कौ 'पद' और 'ध्रुपद' हरिदास कौ।।

स्वामी हरिदास जी के ध्रुपद साधारण पाठक के लिये नहीं है, वरन् संगीतज्ञों और साधकों के लिये है। लंबी शब्द योजना, यति की विषमता और पंक्तियों की आकारगत न्यूनाधिकता से वे पढ़ने में अटपटे से मालूम होते है; किंतु ताल में वे ठीक होने से गायन के लिये सर्वथा उपयुक्त हैं। आज का साधारण संगीतज्ञ शायद उन्हें गा भी न सके, किंतु ध्रुपद शैली का अभ्यस्त गायक उन्हें भली प्रकार गा सकता है।

स्वामी जी की रचनाओं में 'केलिमाल' का प्रचार बहुत कम रहा है; उनके 'सिद्वांत के पद' अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हैं और हिन्दी साहित्यकारों को भी प्रायः वे उपलब्ध रहे है। उनकी भाषा, विषय के अनुरूप कुछ 'साधुक्कड़ी' है; जिनमें कोड़ बंदिस, खंदिस, नंदिस, जागर, बेकारौदे, ओटपाट जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों में मधुरता और कोमलता की कमी कही जा सकती है इसलिए स्वामी जी की यह रचना कुछ लोगों को 'ऊबड़–खाबड़' सी प्रतीत होती है। फिर हरिदास डागुर नामक एक अन्य संगीतज्ञ की कुछ रचनाएँ स्वामी जी की रचनाओं में मिला दी गई है जिससे कुछ अटपटे पदों को स्वामी जी कृत समझ कर प्रकाशित किया गया है। इन सब कारणों से हिन्दी साहित्य के इतिहासकार स्वामी जी की रचनाओं के संबंध में यथार्थ मत नहीं प्रकट कर पाते। स्वामी जी की प्रामाणिक रचनाएँ विशेषतया 'केलिमाल' के पद न तो वास्तव में ऊबड़–खाबड़ है न उनमें मधुरता और कोमलता की कमी है। फिर भी उनमें एक प्रकार का बाँकापन है जो अन्य भक्त कवियों से उन्हें विशिष्टता प्रदान करता है। यह विशिष्टता उनके संगीत, भक्ति और उपासना में भी परिलक्षित होती है यथा–

छाकी छेमावली है, नेह की नेमावली है।
पावन प्रेमावली है; बेदना बिनास की।।
हास हरषावली है, सार सरसावली है।
बाद बरषावली है, आनंद विकास की।।
सुचि समरावली है, अंक अमरावली है।
भाव भ्रमरावली है, सुमन सुबास की।।
न्याय नचनावली है, राग रचनावली है।
बाँकी वचनावली है, किंधौं हरिदास की।।

'केलिमाल' में स्वामी जी कृत अनेक उत्कृष्ट पद मिलते है। इनमें भाव सौन्दर्य के साथ भाषा की कोमलता और मधुरता भी है। दिव्य श्रृंगार रस से तो वे ओत–प्रोत है। इनके कथन में सर्वत्र स्वाभाविकता है। इन्हें पढ़ने पर ऐसा जान पड़ता है कि

इनकी रचना स्वामी जी ने स्वानुभव से की है। अपने उपास्य स्वरूप का दिन–रात चिन्तन और ध्यान करते हुए जब वे समाधिस्थ हो जाते थे तब उन्हें श्याम–श्यामा की दिव्य लीलाओं का जो अनुभव होता था उसी का गायन उन्होंने 'केलिमाल' के पदों द्वारा किया है। यहाँ पर उनके कतिपय पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है–

उबटन और स्नान के अनंतर वस्त्र धारण कर फुलवारी में अलकों को सुखाती, सँवारती हुई राधिका जी की दिव्य शोभा का वर्णन देखिये–

सोंधे न्हाय बैठी पहिरि पट सुन्दर,
जहाँ फुलवारी तहाँ सुखवति अलकैं।
कर नरत सोभा कल केस सम्हारत,
मानों नव घन में उडगन झलकै।
विविध सिंगार लिए आगैं ठाढ़ी प्रिय सखी,
भयी भरूआन रति-पति दल दलकैं।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा-कुँजबिहारी की,
छबि निरख लागत नाहीं पलकैं।

आभूषणों से सुसज्जित कजरारे नेत्रों वाली श्यामा जी पर रीझे हुए कुंजबिहारी की मनोदशा देखिये–

बनी रे तेरे चारि-चारि चूरी करनि।
कंठसिरी दुलरी हरिनि की, नासा मुक्ता ढरनि।।
तैसेई नैननि कजरा फबि रह्यै, निरखि काम डरनि।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा-कुंजबिहारी, रीझिपिय पग परनि।।

इस प्रकार श्यामा–श्याम की नाना प्रकार की केलि–क्रीड़ाओं का कथन होने से 'केलिमाल' नाम की सार्थकता स्वयं सिद्व है। इसमें स्वामी जी ने अपने उपास्य युगल स्वरूप के दिव्य श्रृंगार का ऐसा रसपूर्ण वर्णन किया है कि वह सहृदय रसिक जनों को दिव्यानंद प्रदान करने में अनुपम है।

स्वामी जी की रचनाओं का क्षेत्र अत्यंत सीमित है। शिल्प की दृष्टि से इनकी रचनाएँ **विष्णुपद** की शैली में आती है। श्याम–श्यामा के नित्य विहार के उपासक होने के कारण उन्होंने श्रृंगार रस का केवल संयोग पक्ष का कथन किया है। श्यामा–कुंजबिहारी के युगल स्वरूप, उनकी आसक्ति, सुरति निवेदन, केलि–क्रीड़ा, झूलन और नृत्य से पूर्ण कथन की ओर ही उनकी रुचि रही है। ऋतुओं में उन्होंने 'बसंत' और 'पावस' को पसंद किया है। डोल–झूलन और नृत्य के साथ गायन वादन का वर्णन उनकी संगीत विषयक अभिरुचि का परिचायक है।

रचनाओं की टीका :

स्वामी की रचनाओं की कई टीकाएँ उपलब्ध है। केलिमाल की सबसे प्राचीन टीका श्री नागरीदास कृत है इसमें पदाभास और फल सहित समस्त पदों की श्रृंगार रसपूर्ण विस्तृत व्याख्या की गई है। दूसरी टीका श्री पीताम्बर दास कृत तथा 'केलिमाल' की ही तीसरी टीका राधाशरण कृत **'वस्तुदर्शिनी'** है। सिद्धांत के पदों की दो विस्तृत टीकाएँ श्री अमोलराम शास्त्री और श्री ललिता प्रसाद पाठक कृत उपलब्ध है।

स्वामी जी और तानसेन :

स्वामी हरिदास और तानसेन के गुरू–शिष्य होने की किंवदंती बहुत प्रसिद्ध है, यद्यपि इसका कोई समकालीन लिखित प्रमाण प्राप्त नहीं होता है। गायकों की मंडली में कुछ ऐसे ध्रुपद प्रचलित हैं जिनमें तानसेन द्वारा किसी हरिदास को अपना गुरु स्वीकार किया गया है। इन ध्रुपदों की अटपटी शब्द–योजना के कारण इन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है फिर भी यह किंवदंती विचार योग्य है। स्वामी जी एक विख्यात संगीतशास्त्री होने के साथ ही साथ वैष्णव धर्म के अन्तर्गत एक विशिष्ट भक्ति संप्रदाय के प्रवर्तक भी माने जाते हैं। उनके संप्रदाय में गुरु शिष्य का जो अर्थ होता है उनके कारण तानसेन को स्वामी जी का शिष्य नहीं कहा जा सकता है। स्वामी जी के संप्रदाय में एक मात्र श्री बिहारी जी ही उपास्य माने जाते हैं जबकि तानसेन की

रचनाओं में विविध देवी–देवताओं और पीर पैगम्बरों की स्तुतियाँ मिलती है उनमें न तो स्वामी जी की शब्दावली का प्रभाव दिखाई देता है और न उसकी भक्ति–भावना की झलक ही मिलती है। ऐसी दशा में तानसेन का स्वामी जी का शिष्य होना प्रामाणिक ज्ञात नहीं होता है फिर भी यह किंवदंती इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि इसे बिल्कुल कपोल कल्पित भी नहीं कहा जा सकता है। यह घटना (उक्त किंवदंती) किस काल की हो सकती है, इसके संबंध में आचार्य बृहस्पति का कथन है –

"हमें ऐसा लगता है कि सन् 1518 (सं० 1575) में ग्वालियर का किला विक्रमाजीत के हाथ से निकल जाने के पश्चात् तानसेन वृन्दावन आकर कुछ दिनों के लिये श्री स्वामी जी के चरणों में बैठा हो, परन्तु उसके दरबारी संस्कारों ने उसे वहाँ अधिक न टिकने दिया हो।"[1]

स्वामी जी और अकबर :

ऐसी किंवदंती है कि तानसेन द्वारा स्वामी हरिदास के अद्भुत संगीत की प्रशंसा सुनकर सम्राट अकबर को उनसे मिलने की प्रबल इच्छा हुई थी। स्वामी जी की गायन कला उनके उपास्य श्यामा–कुंजबिहारी जी के लिये ही अर्पित थी। वे किसी भी दशा में किसी राजा–महाराजा को अपना गायन सुनाना पसंद नहीं करते थे। कहते हैं कि अपनी उत्सुकता की पूर्ति के लिये सम्राट अकबर छद्मवेश में तानसेन के साथ वृन्दावन गये थे। वहाँ पर उन्हें स्वामी जी से गायन सुनने का सुयोग्य प्राप्त हुआ और वे उसके दिव्य सौंदर्य पर मुग्ध हो गये। अब से दो शताब्दी पूर्व रचित, **'पद प्रसंग माला'** में भक्तवर राजा नागरीदास ने इस घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है –

"पहले तानसेन गायौ। विनती करी महारा, कुछ आप हू बोलियै। तब श्री हरिदास जी अलापचारी करी मलार राग की। चैत बैसाख को महीना ह्तौ। तब ताही बैर घटा घुमड़ि आई। मोर बोलनि लागे। तब नयौ बनाइ विष्न पद गायौ। तब ताही बेर वर्षा होन लागी। सो वह पद–ऐसा रितु सदा–सर्वदा जो रहै, बोलत मोरनि।"

1 संगीत' पत्रिका.हरिदास अंक, पृष्ठ–11

यहाँ यह उल्लेखनीय है स्वामी जी द्वारा गाये हुये उक्त पद को नागरीदास जी ने **'विष्णुपद'** कहा है यद्यपि स्वामी जी की रचनाओं को साधारणतया ध्रुपद कहा जाता है। 'अकबर हरिदास भेंट' का उल्लेख किसी समकालीन इतिहासकार ने नहीं किया है। इसका लिखित विवरण सर्वप्रथम नागरीदास कृत **'पद प्रसंग माला'** में और फिर किशोरदास कृत **'निजमत सिद्धांत'** में मिलता है। ब्रज के लोक जीवन में और स्वामी हरिदास जी की शिष्य परम्परा में इस घटना की बहुत पुराने समय से प्रसिद्धि चली आ रही है। अतः समकालीन ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने पर भी इसकी प्रामाणिकता में संदेह नहीं किया जा सकता।

संप्रदाय :

स्वामी हरिदास के अनुगामी भक्तों की एक सुव्यवस्थित परम्परा उत्तर प्रदेश में विकसित हुई है, जो **'हरिदासी'** या **'सखी संप्रदाय'** के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्तर्गत विरक्त सन्तों की और गृहस्थ गोस्वामियों की गद्दियाँ हैं। स्वामी जी की भक्ति भावना और जीवनचर्या से यह संभव नहीं मालूम होता कि उन्होंने स्वयं कोई विशिष्ट संप्रदाय चलाने का प्रयास किया हो। उनके महान व्यक्तित्व, अलौकिक कार्य–कलाप, चमत्कारिक जीवनक्रम से प्रभावित होकर उनके भक्तों की एक मंडली स्वतः ही बन गई थी जिसने बाद में गुरु शिष्य परम्परा का रूप धारण कर लिया।

स्वामी जी के संप्रदाय में गायन, उपासना का एक बड़ा अंग है। ये वैरागी अपने गुरुमुख से ध्रुपद गायकी की परम्परा को प्राप्त करते आये हैं। निश्चय ही उनमें से अधिकांश प्रतिभा प्राप्त नहीं होते परन्तु साधना और अभ्यास से वे उस परम्परा को अक्षुण्ण अवश्य बनाये हुये हैं। स्वामी हरिदास जी की गायकी का क्या स्वरूप था? यह जानने का आज हमारे पास कोई मार्ग नहीं है और यह कहना भी पूरी तौर से ठीक न होगा कि ये विरक्त, आज ध्रुपद को जिस प्रकार गाते हैं वही स्वामी जी गायकी है। परन्तु इतना अवश्य कहा जाता है कि आज इनकी गायकी हमारे वर्तमान ध्रुपदियों की गायकी से भिन्न ज्ञात होती है और संभव है इन साधुओं की गायकी में ही स्वामी जी की निजी गायकी के कुछ अंश विद्यमान हो। अधिकारी विद्वानों और संगीत मर्मज्ञों को

चाहिये कि विरक्तों में प्राप्त इस परंपरा का अध्ययन करें और कम से कम इनके कुछ ध्रुपदों की हूबहू स्वरलिपि कर ली जाय जिससे आज का रूप तो भविष्य के लिये सुरक्षित हो सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी हरिदास जी ने उत्तर प्रदेश में ध्रुपद गायन के विकास में एक आधार स्तम्भ के रूप में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

स्वामी हरिदास कृत
अष्टादश सिद्धान्त के पद

राग विभास :

(1)

ज्योंही-ज्योंही तुम राखत हौ, त्योंही-त्योंही रहियतु हैं हो हरि।
और तौ अचरचे पाइ धरौं, सो तौ कहौ कोन के पैंड़ भरि।।
यद्यपि कीयौ चाहौं अपनो मन भायौ, सो तौ क्यों करि सकौं राख्यौ हों पकरि।
कहि श्री हरिदास पिंजरा कौ जानवर ज्यों, फड़फड़ाय रह्यो उड़िवेकों कितोऊ करि।।

(2)

काहू को बश नाहिं तुम्हारी कृपा ते, सब होइ बिहारी बिहारिनि।
और मिथ्या प्रपंच काहे को भाषिये, सोतौ हैं हारिनि।।
जाहि तुमसे हित तासों तुम हित करौ, सब सुख कारिनि।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी, प्राननि के आधारिनि।।

(3)

कबहूँ-कबहूँ मन इत उत जात याते अब, कौन अधिक सुख।
बहुत भांतिन घत आनि राख्यौ नाहिं तौ पावत दुःख।।
कोटिकाम लावण्य बिहारी ताके, मुहां चुही सब सुख लीयें रहत रुख।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी कों, नित देखत रहौं विचित्र मुख।।

(4)

हरि भज हरि भज छांड़ि न, मान नर तन कौ।

मति वे बंछैरे मति वंछै, तिल-तिल धन कौ।।

अन मांग्यौ आगै आवैगो, ज्यों पल लागै पल कौ।

कहि श्री हरिदास मीच ज्यों आवे, त्यों धन है आपन कौ।।

(5)

ए हरि मोसौ न बिगारन कौ तोसो न, सम्हारन कौ मोहि तोहि परी होड़।

कौनधौं जीतें कौनधौं हारें, पर बदी न छोड़।।

तुम्हारी माया बाजी पसारी विचित्र, मोहे मुनि सुनि काके भूलें काड़।

कहि श्री हरिदास हम जीते, हारे तुम तोउ न तोड़।।

संगीत

ध्रुपद-बागेश्वरी चौताल

(रचयिता-स्वामी हरिदास)

(संग्राहक-श्री लक्ष्मण कृष्णराव पंडित)

स्थायी

								सां	नि̱	ध	प
								बं	ऽ	सी	न
ध	म	ग̱	रे	रे	सा	सा	नि̱	सा	म	म	म
ऽ	का	हू	ऽ	के	ब	ऽ	स	बं	ऽ	सी	ने
ध	म	ग̱	रे	रे	सा	सा	नि̱	ध	ध	म	म
ऽ	की	ने	ऽ	री	ब	ऽ	स	बं	स	सी	को
ध	ध	सां	सां	सां	सां	नि̱	ध	ध	म	म	ग̱
ऽ	ब	जा	ऽ	य	जा	ऽ	ने	बं	ऽ	सी	जा
ग̱	रे	नि̱	ध	म	ग̱	रे	सा				
ऽ	के	ब	ऽ	स	है	ऽ	री				

अन्तरा

				म म अ ध	म ध र र
ध नि ऽ स	सां सां प्रे ऽ	सां सां म मा	सां सां ऽ ती	सां सां छि ऽ	नि सां न हू
रें सां ऽ न	सां सां हो ऽ	ध ध त ह	म म ऽ ती	सा म का ऽ	ग रे न प
रे सा ऽ री	नि नि प्रा ऽ	ध ग ण ले	रे सा ऽ त	सा नि वे ऽ	ध म च स
ग ग के ऽ	रे रे र ऽ	रे सा स हे	सा सा ऽ री		

संचारी

				म म न ये	म ध ऽ न
ध ध ये ऽ	सां नि ने ऽ	ध म ह वा	म म ऽ ढे	म नि मो ह	ध सां न ला
सां सां ल न	रें सां चा ख	सां नि य छां	— ध ख डे	ध रें ल लि	रें सां न त
सां सां ऽ त्रि	नि नि भं ऽ	ध नि गी का	नि ध ऽ न्ह	म म मो ऽ	ग रे ह ना
ग ग ऽ सों	ध म अ ऽ	ग रे स हे	रे सा ऽ री		

आभोग

				म म हि ऽ	म ध त ह
नि नि रि ऽ	सां सां ढा ऽ	सां सां ऽ स	सां सां ऽ ऽ	सां नि प र	नि रें ऽ स्प
रें सां ऽ र	सां नि प्री ऽ	ध ध ऽ त	ध म ऽ म	मं मं रा ऽ	मं मं धा ऽ
पं मं मं वृ ष	गं रें भा ऽ	रें सां न	सां सां ऽ ऽ	सां ध नं द	ध म ऽ नी
म ग ऽ सो	रे रे र ऽ	रे सा स ते	सा सा ऽ री		

फरवरी 1959

उत्तर प्रदेश में ध्रुपद का मुख्य केन्द–वृंदावन और स्वामी हरिदास की परम्परा :

वृन्दावन, प्रबंधगीत शैली का प्रमुख केन्द्र माना गया है और जैसा कि ज्ञात है कि ध्रुपद गानशैली, प्रबंधशैली से उद्भूत हुआ है। अतः इस क्षेत्र में ध्रुपद शैली ने परम्परा, संप्रदाय के अन्तर्गत अपनी पहचान बनाई, जिसमें **'हरिदासी संप्रदाय'** की गणना प्रमुख रूप से होती है। जहाँ तक वृन्दावन की ध्रुपद परम्परा का संबंध है यह सम्भव है कि इस शैली के निर्माण में यहाँ के लोगों को ग्वालियर अथवा उसके आस–पास के क्षेत्रों से प्रोत्साहन मिला हो। मुख्यतः स्वामी हरिदास जी के कारण वृन्दावन को ध्रुपद केन्द्र के रूप में जाना जाता है।

स्वामी जी 25 वर्ष की अवस्था में घर त्यागकर वृन्दावन आ गये और वहाँ स्वामी आशुधीर जी से वैराग्य की दीक्षा ले निधिवन में रहने लगे। स्वामी जी के संप्रदाय के लोगों की मान्यता है कि वे वृन्दावन को छोड़कर कभी बाहर नहीं गये और अपनी गान कला से अपने उपास्य श्री श्यामा और कुंजबिहारी को तुष्ट करते। यद्यपि जनसाधारण उन्हें एक महान संगीत प्रवर्तक के रूप में जानते हैं परन्तु उनकी सबसे महान देन थी–उपासना क्षेत्र में। श्री राधाकृष्ण की माधुर्य भक्ति के चरम विकास का केन्द्र वृन्दावन था और वृन्दावन में यह पंचमभक्ति रस जिन नाना रूपों में पल्लवित हुआ उनमें स्वामी जी द्वारा प्रतिष्ठित भक्ति रस का प्रमुख स्थान है। जहाँ संत गायकों की रचना को विषय की दृष्टि से **'विष्णुपद'** कहा गया है वहाँ भक्तवर नागरीदास ने हरिदास जी द्वारा रचित गीत–"ऐसी ऋतु सदा सर्वदा जो रहे बोलति मोरनि" को विष्णुपद कहा है परन्तु लगता है कि गानशैली की दृष्टि से ही स्वामी जी की रचनाओं को **'धुरपद'** कहा गया है। विष्णुपदों में ताल को छन्द का अनुसरण करना पड़ता है परन्तु ध्रुपद शैली में छंदों विषयक गति की अप्रधानता भी देखी जाती है और ध्रुपद की शब्दावली को ताल की लय का अनुसरण करना पड़ता है और यह गुण स्वामी जी की रचनाओं में दृष्टिगत होता है।

बहरहाल, स्वामी जी की शिष्य परम्परा में अनेक प्रसिद्ध वाणी रचयिता हुये हैं जिन्होंने विभिन्न–राग रागिनियों में बहुसंख्यक पदों की रचना की है। संप्रदाय के सिद्धान्तों और इतिहास पर भी कई ग्रंथ लिखे गये हैं। संप्रदाय के सिद्धान्त दीक्षा लेने वाले शिष्यों को ही बताये जाते हैं तथा उन्हीं को वाणियों के अवलोकन का अधिकार होता है। अतः सर्वसाधारण की दृष्टि से यह तत्व अभी तक दूर है। वृन्दावन में स्वामी जी के संप्रदाय से सम्बद्ध कई स्थान हैं–1. श्री बाँके बिहारी जी का मन्दिर, 2. निधिवन, 3. श्री गोरेलाल जी का मन्दिर, 4. श्री रसिक बिहारी जी का मन्दिर, 5. टट्टी स्थान। वर्तमान समय में वृन्दावन के **'टट्टी'**–स्थान का बहुत महत्व है जहाँ विरक्तों की संख्या सबसे अधिक है। विशेष उत्सवों अैर गुरूओं के जयन्ती दिवसों पर यहाँ

'समाज' होता है, जिनमें स्वामी जी तथा उनकी परम्परा के महानुभावों के पद गाये जाते हैं। 'भाद्रपद शुक्ल 8' को टट्टी स्थान में स्वामी जी की जयंती का बहुत बड़ा मेला होता है। इस अवसर पर सर्वसाधारण को स्थान में प्रवेश का अवसर मिलता हैं। स्वामी जी के निजी करूवे (मिट्टी का पात्र) को केवल इसी दिन बाहर निकाला जाता है। इस अवसर पर कई दिन 'समाज' होता है जिसमें केवल विरक्त साधु ही अपनी परम्परागत परिपाटी से पुराने ध्रुपदों को गाते है। केवल दो दिन थोड़ा-थोड़ा समय बाहर के कलाकारों को भी दिया जाता है कि वे स्वामी जी की सेवा में अपनी गान कला की भेंट चढ़ा सकें। आजकल ध्रुपद की चार वाणियों के नाम लिये जाते हैं, जिनमें से **'डागर वाणी'** के आदि प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी बताये जाते हैं। कुछ लोग इसी नाम का आधार लेकर स्वामी जी से अपना पारिवारिक या परम्परा संबंध बताते हैं किन्तु ये सब बातें भ्रमात्मक है। स्वामी जी ने आजन्म विवाह नहीं किया और उनके शिष्य विरक्त थे, जिनकी परम्परा वृंदावन में है। मेरी राय में 'डागर वाणी' का स्वामी जी से कोई सम्बन्ध नहीं है। **'संगीत राग कल्पद्रुम'** में 'हरिदास डागर' नाम से कई पद संग्रहीत है परन्तु यह व्यक्ति स्वामी जी से भिन्न है। हो सकता है ये चारों वाणियाँ स्वामी जी के सैकड़ों वर्षों बाद ध्रुपद गायकों के प्रसिद्ध घरानों में अलग-अलग विकसित हुई हो परन्तु स्वामी जी से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।"[1]

ध्रुपद गान शैली के विकास में स्वामी जी के अविस्मरणीय योगदानों को ध्यान में रखते हुये उनकी स्मृति में वृन्दावन में आजकल **'स्वामी हरिदास स्मृति महोत्सव'** का वृहद स्तर पर आयोजन किया जाता है, जहाँ पर बड़े-बड़े गुणी कलाकारों को गायन के लिये आमंत्रित किया जाता है, जिसके माध्यम से वृन्दावन की गौरवमयी सांगीतिक परंपरा को जीवित बनाये रखने का सफल प्रयास किया जा रहा है। इनके अतिरिक्त वर्तमान समय में दरभंगा घराने के प्रख्यात ध्रुपद गायक पंव विदुर मल्लिक आजकल वृन्दावन में रहकर वहाँ विद्यार्थियों को ध्रुपद गायन में प्रशिक्षित कर रहे हैं।

तानसेन और उत्तर प्रदेश में ध्रुपद–परम्परा

भारत के महान संगीतज्ञों और गायकों में तानसेन का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। वे मुग़ल सम्राट अकबर के दरबारी गायक और उनके नवरत्नों में से एक थे। अपनी गायन कला के कारण वे इतने विख्यात हुए कि अपने समय के **'संगीत सम्राट'** माने जाते हैं। उनका देहावसान हुए यद्यपि लगभग चार पाँच सौ वर्ष से भी अधिक हो गये हैं तथापि भारतीय संगीताकाश में उनकी कीर्ति कौमुदी आज भी वैसी ही व्याप्त है, जैसी वह उनके जीवन काल में थी। भारत को अपने जिन महान गायकों पर गर्व है उनमें संगीत सम्राट तानसेन का नाम बहुत प्रसिद्ध है। सुविख्यात ध्रुपद शैली के उन्नायकों में तो उन्हें अग्रिम पंक्ति में स्थान दिया जाता है। जैसा कि पूर्व वर्णित है कि ध्रुपद गायन शैली का आविष्कार और विकास तो यद्यपि उत्तर प्रदेश के बाहर हुआ है किन्तु 16वीं शताब्दी में तानसेन के अकबर के मुग़ल दरबार से जुड़ जाने के कारण जो कि उत्तर प्रदेश के महत्वपूर्ण सांगीतिक केन्द्र 'आगरा' में था, ध्रुपद गायन शैली प्रसारित एवं परिष्कृत हुई और तानसेन ध्रुपद शैली के 'अगुवा' में एक आधार स्तंभ थे। इसके अतिरिक्त कालांतर में उत्तर प्रदेश के अन्य विविध स्थानों में तानसेन की ध्रुपद परंपरा का विस्तार हुआ जिससे यहाँ पर ध्रुपद गायन के कई केन्द्र बने।[1] तानसेन के आरंभिक जीवन वृतांत के संबंध में लिखित प्रमाणों का अभाव होने के कारण, उपलब्ध उल्लेखों और परम्परागत किंवदंतियों के आधार पर उनके जीवन वृतांत के बारे में संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

यह प्रायः निश्चित है कि तानसेन उनका नाम नहीं था उपाधि थी, जो उनकी गायन कला की प्रशंसा में दी गई थी। यह उपाधि उन्हें किससे प्राप्त हुई, और उनका मूल नाम क्या था? इस संबंध में पूर्ण निश्चिय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। श्री बी०एस० सिथोले का मत है, 'बाँधवगढ़ के राजा रामचन्द्र ने उन्हें तानसेन उपाधि दी थी।[2] आचार्य बृहस्पति ने अकबरकालीन फ़ज़लअली कव्वालकृत **'कुल्लियात ग्वालियर'** का हवाला देते हुये बताया है कि ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के पुत्र

1. संगीत सम्राट तानसेन, प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशक–साहित्य संस्थान मथुरा।
2. यू0पी0 हिस्टोरिकल सोसाइटी के जनरल (जिल्द 21, भाग 1–2) में प्रकाशित 'ए नोट ऑफ तानसेन' नामक लेख।

विक्रमाजीत से उन्हें यह उपाधि प्राप्त हुई।[1] कुछ भी हो, यह तानसेन उपाधि इतनी प्रसिद्ध हुई कि उसने उनके वास्तविक नाम को ही छिपा दिया। अकबरी दरबार के इतिहासकार मुल्ला बदायूँनी ने एक स्थान पर उनका नाम 'तानसिंह' भी लिखा है। किंवदंतियों के अनुसार उनका मूल नाम तन्नू, तन्ना, त्रिलोचन, तनसुख अथवा रामतनु था। लेकिन वास्तविकता जानने का कोई साधन नहीं है। इसी प्रकार तानसेन के **जन्म स्थान** के बारे में किसी सुप्रसिद्ध इतिहासकार का लिखित प्रमाण प्राप्त नहीं है। जनश्रुति के अनुसार ग्वालियर अथवा उसके पास का **बेहट ग्राम** उनके जन्म स्थान माने जाते हैं। यह प्रसिद्ध बात है कि तानसेन की आरंभिक संगीत शिक्षा ग्वालियर में हुई इसीलिये वे 'ग्वालियरी' कहलाते थे। बेहट ग्राम में तानसेन के आरंभिक जीवन से संबंधित कुछ स्मृति चिन्ह भी बतलाये जाते है। इन सब बातों से ग्वालियर को तानसेन के जन्म स्थान होने का पर्याप्त समर्थन प्राप्त होता है। तानसेन के जन्म संवत् के संबंध में किसी इतिहासकार का प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त नहीं है। "श्री शिवसिंह सेंगर ने तानसेन का जन्म संवत 1588 लिखा है"[2] जबकि डाव सुनीति कुव चाटुर्ज्या ने इसे संव 1578[3] और कुछ विद्वान 1563 संम्वद् मानते हैं। हिन्दी साहित्यकार 'श्री शिव सिंह सरोज'में उल्लिखित संव 1588 को ही तानसेन का जन्म संवत् मानते रहे हैं। तानसेन के माता–पिता के निश्चित नाम और उनके विश्वसनीय वृतांत भी अज्ञात है। जनश्रुति के अनुसार उनके पिता का नाम मकरंद पाण्डेय था किन्तु मकरंद पाण्डे के विषय में जनश्रुतियों के अतिरिक्त कोई प्रामाणिक लेख प्राप्त नहीं है।

जाति और **धर्म** के बारे में भी निश्चित् नहीं है। तानसेन जन्मतः हिन्दू थे और संभवतः ब्राम्हण वर्ण में उत्पन्न हुये थे। उनके निम्नलिखित ध्रुपद से भी उनके ब्राम्हण होने का संकेत मिलता है ––

"जै–जै कर पूजौ धौलागढ़ की रानी ने।

वीरबली वंश ब्राम्हण कुल–तारन तानसेन बरदानी ने।।

1. संगीत (फरवरी, 1959) और धर्मयुग (21 दिसम्वर, 1959) में प्रकाशित लेख।
2. शिवसिंह सरोज, पेज 429 , (2) सम्मेलन पतिक (ज्येष्ठ, आषाढ़ सं० 2003) में प्रकाशित लेख।
3. ये तानसेन ग्वालियर में एक ब्राम्हण के जन्में' –दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (हरिराय जी लेख) हि०सं० पेज–154

"वल्लभ संप्रदाय के वार्ता साहित्य में उनके ब्राम्हण के घर जन्म लेने की बात लिखी गई है।"[1] वे किस जाति के ब्राम्हण थे, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किंवदंतियों के अनुसार उन्हें मिश्र, पांडे अथवा ब्रम्हभट्ट बताया जाता है। यह किंवदंती बहुत प्रसिद्ध है कि हिन्दू कुल में जन्म लेने पर भी तानसेन बाद में मुसलमान हो गये थे। वे कब और क्यों मुसलमान हुये? इसका रहस्योद्घाटन अभी तक नहीं हो पाया है। उनके समकालीन किसी भी इतिहासकार अथवा कवि ने उनके मुसलमान होने के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है।

तानसेन के नाम के साथ 'मियाँ' विशेषण का प्रयोग उनके रचे हुये ध्रुपदों में मुसलमानी पीर–पैगम्बरों की स्तुति, ग्वालियर में उनकी कब्र की विद्यमानता और उनके वंशज का मुसलमान धर्मावलम्बी होना आदि बातें तानसेन के मुसलमान होने के पक्ष में कही जाती हैं। जहाँ तक मियाँ शब्द का सम्बन्ध है तो वह मुसलमान का समानार्थक नहीं है बल्कि एक आदरवाची शब्द है जो श्रेष्ठ हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये व्यवहृत होता था और यदा–कदा अब भी होता है। मुसलमानी पीर पैगम्बरों की स्तुति के ध्रुपद उनके मुसलमान मित्रों और सम्राट अकबर के लिये रचे गये होंगे, ग्वालियर में उनके मकबरे का निर्माण उनके मुसलमान, मित्रों, शिष्यों, पुत्रों ने उनकी स्मृति–रक्षा के लिये कराया होगा। इसलिये स्पष्ट है कि पूर्वोल्लिखित बातें तानसेन को मुसलमान सिद्ध करने हेतु पर्याप्त नहीं है।

तानसेन की **शिक्षा-दीक्षा** के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक लेख उपलब्ध नहीं हैं। इनसे सम्बन्धित जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, उनसे ज्ञात होता है कि तानसेन की आरम्भिक संगीत–शिक्षा उनके पिता मकरंद पांडे और उनके गुरू सूफी सन्त ग़ौस मुहम्मद द्वारा ग्वालियर में हुई थी। बाद में स्वामी हरिदास से वृन्दावन में उन्हें संगीत की उच्च शिक्षा प्राप्त हुई थी। उनका देहावसन सं० 1646 में अकबर की राजधानी

---

1. ये तानसेन ग्वालियर में एक ब्राह्मण के जन्में'– दो सौ वावन वैष्णवन की वार्ता' (हरिराय जी कृत) द्वितीय खंड, पृष्ठ संख्या–154

आगरा में हुआ था। उस समय उनकी आयु 80 वर्ष से अधिक थी। वे प्रायः 27 वर्ष तक अकबरी दरबार से सम्बद्ध रहे थे। उनका अन्तिम संस्कार कहाँ हुआ? यह निश्चियपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। ग्वालियर में उनके नाम से प्रसिद्ध मकबरा कालांतर में उनकी स्मृति में बनवाया गया होगा। उसमें तानसेन दफनाये गये थे, इसका उल्लेख नहीं मिलता। उनके कई पुत्र थे और एक पुत्री थी। पुत्रों में तानतरंग खाँ, सुरतसेन और विलास खाँ के नाम से प्रसिद्ध है।

काव्य महत्व :

तानसेन अपूर्व गायक और विख्यात संगीतज्ञ होने के साथ ही साथ कवि भी थे। **'तुजुक जहाँगीरी'** में उनके संगीत के साथ उनके काव्य की भी भरपूर प्रशंसा की गई है। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में तानसेन का नामोल्लेख प्रायः नहीं हुआ है। इसका कारण शायद यह है कि हिन्दी के विद्वानों ने उनकी रचनाओं को साहित्यिक महत्व नहीं दिया। इसके विपरीत डाव सुनीति कुव चाटुर्ज्या ने तानसेन के काव्य महत्व की भी निम्नलिखित शब्दों में प्रशंसा की है——प्राचीन और मध्ययुग के हिन्दू काव्य, ज्ञान, योग और भक्ति का मानो मंथन करके जो नवनीत निकला, वह तानसेन के पदों के स्वर्ण कटोरे में धर दिया गया है।[1] तानसेन के नाम से उपलब्ध ध्रुपदों की काव्यालोचना के लिये उन्हें तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग उनकी युवावस्था में रचे गये ध्रुपदों का है। उनमें आश्रयदाता नरेशों की प्रशस्ति और विविध देवी—देवताओं की स्तुति वन्दना की गई है। दूसरा भाग, उनकी प्रौढ़ावस्था के ध्रुपदों का हो सकता है, उनमें संगीत कला का विवेचन और नायिकाओं के रूप सौन्दर्य का रसपूर्ण वर्णन है। तीसरा भाग, उनकी वृद्धावस्था के ध्रुपदों का हो सकता है। उनमें श्री कृष्ण की विविध लीलाओं का मनोहर कथन किया गया है। तानसेन की रचनाओं के ये तीनों विभाग काव्य की दृष्टि से उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण है। इस प्रकार नायिका भेद और कृष्णलीला से सम्बन्धित ध्रुपद ही उनकी सर्वोत्तम काव्य रचनाएँ कही जा सकती हैं।

1. सम्मेलन पत्रिका (चैत्र—बैशाख सं0—2003) में प्रकाशित लेख।

वास्तविक बात यह है तानसेन कवि की अपेक्षा गायक के रूप में अधिक प्रसिद्ध है। उनका काव्य उनके संगीत से दब गया है किन्तु फिर भी वह उपेक्षणीय नहीं है। उनकी समस्त रचनाएँ ब्रजभाषा में है किन्तु उनमें अरबी, फ़ारसी के भी कुछ शब्द मिलते हैं। वे जायसी, सूरदास, तुलसीदास और रहीम जैसे विख्यात कवियों के समकालीन थे।

रचनाएँ :

तानसेन की रचनाओं के रूप में वे बहुसंख्यक ध्रुपद है जो उन्होंने समय–समय पर अपने गायन के लिये रचे थे, जो उनके संगीत शास्त्रोक्त ज्ञान को प्रकट करते हैं। तानसेन के रचे हुये ध्रुपदों का उनके जीवन–काल से अब तक सभी संगीतज्ञों में व्यापक प्रचार रहा है किन्तु उनका कोई प्राचीन और प्रामाणिक संकलन उपलब्ध नही है। उत्तरी भारतीय संगीत के विख्यात उद्धारक श्री कृष्णानंद व्यास ने कलावंतों के परंपरागत घरानों और संगीत की प्राचीन पोथियों से तानसेन के ध्रुपदों को संकलित कर उन्हें अपनी रचना **'संगीत राग कल्पद्रुम'** में प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रंथों में भी तानसेन के ध्रुपद मिलते हैं किन्तु वे अब भी पर्याप्ततः अप्रकाशित हैं और उनमें से अधिकांश प्राचीन घरानों से सम्बन्धित कलावन्तों को कंठस्थ हैं।[1] तानसेन की रचनाओं में इन ध्रुपदों के अतिरिक्त **'संगीत सार'**, **'राग माला'** तथा **गणेश स्तोत्र** नामक तीन ग्रंथ भी हैं तानसेन की कुछ रचनाऍ इस प्रकार हैं –

गणेशवन्दना (राग भैरव, चौताल)

(1)

प्रथम नाम गनेश कौ लैहुँ, जा सुमिरैं होवैं सर्व सिद्ध काज।
गौरीनंदन जगबंदन लंबोदर नाम जपत,
सकल सृष्टि सुर-नर-मुनि शेष-राज।।
विध्न विनासन, सब दुख नासन, मंगलदायक ढुंढिराज।
'तानसेन' तेरी अस्तुति करै, सब देबन-सिरताज।।

1. संगीत सम्राट तानसेन, प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशन साहित्य संस्थान मथुरा।

सरस्वती वंदना (राग टोड़ी, चौताल)

(2)

सरस्वती सुप्रसन्न होय मोकूँ वाक्बानी।

खरज-ऋषभ-गांधार-मध्यम-पंचम,

धैवत-निषाद गुरुमुख आवत तानसानी।।

रूप की निधानी दयानी विद्यादानी,

जगत् जननी सारदा संतन मन मानी।

'तानसेन' माँगै तान-स्वर अक्षर राग-रंग,

संगत सौं गावै इच्छा फलदानी।।

दुर्गा वन्दना (रागिनी गुर्जरी, चौताल)

(3)

शिव शक्ति अनादि आदि भवानी दयानी,

दया करौ, दीजै दरस इन नैनन दारिद्र-दुख।

तीनौं लोक में जानी मृद्रानी, ऐसौ प्रसाद दीजै,

दुख-द्वंद दूरि होय, सुख सरीर आनंद करन।।

महामाया भद्रकाली कल्यानी शिवानी, मैनात्मजा दुखहरन,

चंड-मुंड महिषासुरमर्दिनी, 'तानसेवक' सेवक-

सुखकरन, तू ही जगत् पोषक-भरन।।

विषय–'अल्ला', (रागिनी गुर्जरी, चौताल)

(4)

या अल्ला, मोमन तू आपु सौं ऐसे कर लागा।

हौंही नमत तू प्रवीन सुमिति दै, कुमति भगा।।

जिन तेरौ नाम लियौ, तिनकौ दुःख गयौ, तू अध्यान पगा।

'तानसेन' माँगैं सुख-संपति-संतति, तानन रंग रँगा।।

कृष्ण भजन (राग भैरव, चौताल)

(5)

कन्हाई दे दरसन तू आपुनौ, ये संसार रैन कौ सपुनौ।

तु ही दाता, तु ही भोक्ता, तेरौ नाम मोहि जपनो।।

दुनिया द्वंद फंद सब कीने, लागत है जेतौ ये जगत् सब खपुनौ।

'तानसेन' पिया विनती करत हौं, साहब नाम मोहि रटनौ।।

विषय-'राज प्रशंसा'

राजा मानसिंह (राग बिहाग, चौताल)

छत्रपति मान राजा, तुम चिरंजीव रहो, जौलौं ध्रुव मेरू तारौ।

चहुँ देस तैं गुनी जन आवत, तुम पै धावत।।

पावत मन इच्छा, सबहिं कौ जग उजियारौ।

तुमसे जो नहीं और, कारनैं जाय कहूँ दौर।।

वही आजिज कीरत करै, मो पै रच्छा करन धरौ।

देत करोरन, गुनी जनन को अचाजक किये; तानसेन प्रतिपारौ।।

राजा रामचन्द्र (राग गंधार, चौताल)

गये मेरे सब दुःख, देखे तैं आप दरस।

अष्ट सिद्धि नव निधि देत हौ पलक में, धन-जन-कंचन जात बरसा।।

एकन कौं गज-तुरंग, एकन कौं भूषन, एकन कौं बस्तर दे हौ सरस।

'तानसेन' कहै राजा राम सकल काज पूरन,

गुनियान के दारिद्र जात परस।।

शहंशाह अकबर (रागिनी टोड़ी, चौताल)

1. *चढ़ौ चिरंजीव साह अकबर साहनसाह,*
बादसाह-तखत बैठौ छत्र फिरै निसान।
दिल्ली-पति तुम नबी जी के नायब, अति सुंदर सुलतान।।
चारौं देस लिये कर जोरि कमान,
राजा-राव उमराव सब मानत तोरी आन।
कहैं 'मियाँ तानसेन' सुनियो महाजान,
तुमसे तुम्हीं और नाँहि दूजौ, गुनी जनन के राखत मान।।

(राग बिहाग, चौताल)

2. *कासी, कास्मीर, कामरू, कसाटक, बूँदी, बुंदेलखंड।*
मालवा, मुल्तान, मेवाड़, खुरासान, बलख, बुखार, गोकुल मंड।
बीजापुर, बंग, बदखसान, रूम, स्याम भरत समदंड।।
कहत 'तानसेन' सुनो हुमायू के नंदन जलालदीन अकबर,
जाके डर डरात ब्रम्हांड।।

'उत्सव'-'मंगल बधाई' (रागिनी गुर्जरी)

3. *एरी आली आज सुभ दिन गावहु मंगलचार।*
चौक पुरावौ, मृदंग बजावौ, रिझावौ, बधावौ, बाँधौं वंदनवार।।
गुनी-गंधर्व-अप्सरा-किन्नर, बीन-रबाब बजैं करतार।
धन धरी, धन पल-महूरत, 'तानसेन' प्रभु पर बलिहार।।

तानसेन और अकबर :

16 वीं शताब्दी में अकबर के समय से मुग़ल दरबारों में ध्रुपद गान की परम्परा आरम्भ हुई और संगीत का सुनहरा युग भी अकबर के राज्यकाल में आया। जब सम्राट अकबर ने तानसेन को राजा राम बघेला के राजदरबार से अपने दरबार में बुलाया तब यहीं से तानसेन का सम्बन्ध उत्तर प्रदेश से बन गया, जो मृत्युपर्यन्त रहा। उसके कुछ समय पश्चात ही **''नवरत्न''** स्थापित किया। अकबर वैसे तो मुग़ल वंश का था किन्तु

अपनी विचारधारा में वह उदारचित और समदर्शी था। उसने हिन्दुस्तानी संगीत की ध्रुपद शैली को फिर से जागृत किया और ध्रुपद संगीत को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। संगीत के क्षेत्र में ऐतिहासिक दृष्टि से अकबर का युग तानसेन की ध्रुपद शैली के वैभव का युग माना जायेगा जब ध्रुपद ऐसी प्राचीन शैली अपनी पराकष्ठा पर पहुँची थी और **'तानसेन परम्परा'** का भी जन्म हुआ था। यह संगीत आगामी हिन्दुस्तानी संगीत का निदेशक और मार्गदर्शक था। यथार्थ में यह संगीत इसके पहले के संगीत और भविष्य के संगीत के बीच की वास्तविक कड़ी थी और इसके प्रोत्साहन से परम्परागत संगीत का जन्म हुआ। एक अकेले तानसेन की व्यक्तिगत प्रतिभा ने उस संगीत में एक नया जीवन संचारित किया।

उत्तरी भारत में अकबर के युग में ध्रुपद शैली अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची थी। उसको हम भारतीय संगीत के साथ ध्रुपद संगीत का भी सुनहरा युग कह सकते हैं। वृंदावन के संत स्वामी हरिदास के परम शिष्य तानसेन के प्रभावशाली व्यक्तित्व के प्रोत्साहन से इस युग में ध्रुपद संगीत की विलक्षण जागृति हुई और हिन्दुस्तानी संगीत की रगों में नया खून दौड़ने लगा। हिन्दुस्तानी संगीत के सांस्कृतिक संश्लेषण में यूनानी संगीत और अरब संगीत भी थोड़ा बहुत घुल–मिल गया था और तानसेन ही इस नयी विचारधारा का अगुवा, निदेशक और मार्गदर्शक था। वह इस तरह के संश्लेषण के सिद्धान्त का समर्थक और पथ प्रदर्शक था। इस संगीत के निर्माण में तानसेन का बहुत बड़ा हाथ था। उसने उस काल के संगीत को एक नई दिशा में मोड़ा और उसे एक नया रास्ता दिखाया। एक मार्गदर्शक की हैसियत से उसने उसकी ध्रुपद शैली को परिमार्जित रूप ही नहीं दिया परन्तु उसने उसे उन्नति का मार्ग भी दिखाया इसलिये हम उसे इस संगीत का निर्माता और उसकी विशेष शैली का विलक्षण टीकाकार भी मानते हैं। उसके संगीत में कला का अनोखा संश्लेषण था और उसने विदेशी संगीत के स्वरों को भी भारतीय संगीत के साँचे में ढाला। इस तरह भारतीय संस्कृति का अमर सिद्धांत 'भिन्नता में एकता' का विचार संगीत में सही–सही उतरा। यह बात हमको

स्वीकार करनी पड़ेगी कि तानसेन के ध्रुपद संगीत पर प्राचीन संगीत का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था और उसका चरित्र भारतीय था। उसके संगीत पर और किसी संगीत का कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ा और न उसे कोई क्षति पहुँची। उसकी मौलिकता में कोई अंतर नहीं आया। यह हमारे संगीत की आत्मा की उदारता और महानता थी, इसमें भारतीय संगीत की विश्व व्यापकता की भावना थी।

तानसेन की विचारधारा बहुत कुछ सैद्धान्तिक ढंग से **'संगीत रत्नाकर'** के मूल सिद्धान्तों पर ही अवलंबित थी—इस विचारधारा के अनुसार ब्रम्हा ने ही सामवेद के संगीत से मार्ग संगीत का निर्माण किया था, जिसे 'नादविद्या' भी कहते थे। महादेव ही इस विद्या के प्रथम शिक्षक थे और उन्हीं से इस अलौकिक विद्या को पार्वती और सरस्वती ने भी सीखा। इसके बाद हम गणेश, नारद और हनुमान आदि का नाम भी सुनते हैं। इन्हीं नारद और हनुमान से गन्धर्वों, किन्नरों व अप्सराओं ने भी इस विद्या को सीखा। तानसेन के संगीत में हम पौराणिक युग के रावण, वाल्मीकि, लव—कुश, अर्जुन आदि के नाम भी पाते हैं। इसी प्रसंग में हम भरत, मतंग, शारंगदेव और कल्लिनाथ की भी चर्चा सुनते हैं।

तानसेन के संगीत का आधार शिवमत और हनुमत मत दोनों है। जिनमें प्राचीन अथवा मूल रागों भैरव, मालकोंश, हिंडोल, श्री, मेघ, दीपक का वर्णन मिलता है और इसके साथ इनकी रागिनियों और पुत्रों इत्यादि का वर्णन भी है। तानसेन की शिष्य परम्परा ने भी इस बात पर ज़ोर दिया है कि तानसेन के संगीत के विचार और सिद्धांत प्राचीन विचारधारा पर ही अवलंबित थे। यह भी कहा जाता है कि तानसेन अवध के बाबा रामदास और वृन्दावन के स्वामी हरिदास, दोनों के शिष्य थे जो शिव को संगीत का जन्मदाता और हनुमान को उसकी रागों तथा रागिनियों का भाषान्तर करने वाला मानते थे। हम यह भी जानते हैं कि प्राचीन संगीत के सिद्धान्तों के अलावा तानसेन मध्य पूर्वीय देशों के संगीत सिद्धान्तों से भी थोड़ा बहुत परिचित था और उनसे वह प्रभावित भी हुआ था।

तानसेन को ग्वालियर के पीर मुहम्मद ग़ौस के संपर्क से अरब और ईरान के संगीत का ज्ञान प्राप्त हुआ था और वह उनसे प्रभावित हुआ था। मुहम्मद ग़ौस तानसेन के धार्मिक गुरू थे और उन्होंने ही सूफ़ी मत के विचारों में उसका प्रथम दीक्षा संस्कार किया था और स्वामी हरिदास ने उसे ब्रह्मविद्या और नाद विद्या की ओर प्रेरित किया था। उसकी आत्मा भारतीय थी परन्तु उसकी विचारधारा में वैदिक धर्म के सिद्धान्तों, भक्ति के भावों और फ़ारस के सूफ़ी मत की धार्मिक तन्मयता, इन तीनों का संश्लेषण था। उसकी ध्रुपद की रचनाओं में हिन्दू धर्म के देवता और अवतारों का भी वर्णन था और इसके साथ–साथ हज़रत मुहम्मद के प्रति श्रद्धा भाव का प्रदर्शन भी था। इस कारण तानसेन विदेशी संगीत परम्परा से भी प्रभावित हुआ था। मुहम्मद ग़ौस, जिन्होंने तानसेन को सूफ़ी धर्म की शिक्षा दी थी, अरबी संगीत की विचारधारा से भली–भाँति परिचित थे इसलिये ये आश्चर्य की बात नहीं है कि इस परम्परा का थोड़ा बहुत प्रभाव तानसेन के संगीत पर भी पड़ा। किन्तु हज़रत मुहम्मद ग़ौस ऐसे पहले व्यक्ति नहीं थे, जिन्होंने उत्तर भारत में अरबी और ईरानी संगीत की व्याख्या की। तुर्की संगीत का प्रभाव शाक और हुन जातियों के साथ हिन्दू युग में उत्तरी भारत में आ चुका था। तुर्किस्तान का संगीत बहुत कुछ ईरान के संगीत से मिलता–जुलता था। बाद में पठान बादशाहों के राज्यकाल में सुविख्यात विद्वान कवि और संगीतज्ञ अमीर खुसरू, ईरानी संगीत को सबसे पहले देहली के दरबार में लाया। उसने फ़ारसी शैली में बहुत से गेय प्रबंधों की रचना की जो **'कव्वाली'** नाम से पुकारे जाते थे। इस प्रकार तानसेन के संगीत में जो विदेशी संगीत का प्रभाव थोड़ा बहुत परिलक्षित होता था वह उत्तर प्रदेश भारतीय संगीत के लिये नया नहीं था। उस समय वृंदावन के संत स्वामी हरिदास का एक महान संगीतज्ञ और विद्वान होने के नाते बहुत आदर और सम्मान था। उनका गायन विलक्षण और अलौकिक था जिसको एक बार बादशाह अकबर भी भेष बदलकर तानसेन के साथ सुनने गये थे। स्वामी हरिदास का गायन सुनकर और उसकी झलक तानसेन के संगीत में देखकर अकबर को ज्ञात हुआ कि प्राचीन संगीत कितना

प्रभावोत्पादक था। तानसेन इन्हीं स्वामी हरिदास का परम शिष्य था और इसलिये उसके संगीत में भी इतना अद्‌भुत चमत्कार था। मुहम्मद ग़ौस ने तानसेन को ईरानी संगीत की ओर प्रेरित अवश्य किया था परन्तु वह इस बात से बहुत प्रसन्न था कि उसने ध्रुपद शैली को स्वामी हरिदास जैसे अद्वितीय विद्वान से सीखकर उसकी घोर तपस्या की थी, उसको कलात्मक सौन्दर्य से सुशोभित किया था। ऐसा विलक्षण गायक किसी भी संगीत की सुन्दर व्याख्या कर सकता था। मुहम्मद ग़ौस प्राचीन ध्रुपद के विशेष गुणों से परिचित थे, उन्हें इस बात की प्रसन्नता थी कि तानसेन को ऐसा विद्वान गुरू मिला जिन्होंने उसे प्राचीन संगीत की रहस्यमयी भेदों की ओर प्रेरित किया था। यदि तानसेन के संगीत में अपूर्व शक्ति न होती तो सेनिया परम्पराएँ जीवित न रह पातीं और न उसका ज़बरदस्त प्रभाव तानसेन की शिष्य परम्परा पर ही पड़ता। ध्रुपद शैली के आधिपत्य की ज़िम्मेदारी तानसेन की व्यक्तिगत प्रतिभा थी जिसने ध्रुपद संगीत की प्रामाणिकता को बहुत काल तक सुरक्षित ही नहीं जीवित भी रखा और उसको प्रगति पथ की ओर प्रेरित किया।

यथार्थ में तानसेन आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत का जन्मदाता और अन्वेषक अथवा मार्गदर्शक था। आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत का आरम्भ अकबर के युग से अथवा तानसेन के ध्रुपद संगीत से ही होता है। स्वामी हरिदास, तानसेन शिष्य परम्परा इस ध्रुपद शैली की पथ प्रदर्शक बनी और उसे जीवित रखा। सेनिया घराने के मान–सम्मान का कारण भी यही है। अकबर के व्यक्तित्व का भी तानसेन संगीत और तानसेन परम्परा पर काफी प्रभाव पड़ा। यदि वह संगीत का रसिक और पारखी न होता तो उस काल के ध्रुपद संगीत को इतना ज़बरदस्त प्रोत्साहन न मिलता। एक मुग़ल शासक होते हुये भी वह भारतीय संस्कृति का सहृदय समर्थक और प्रशंसक था। तानसेन की सबसे बड़ी देन यह थी कि उसने प्राचीन ध्रुपद शैली को सुव्यवस्थित और परिमार्जित बनाकर उसे संगीत–कला के उच्च शिखर पर सुशोभित किया। साथ–साथ उसने ध्रुपद शैली की परंपरा को भी स्थापित किया। ध्रुपद, तानसेन की संगीत कला से प्रभावित होकर

सुशोभित होते हुए सर्वश्रेष्ठ संगीत कला के शिखर पर विराजमान हो गया। इसी ध्रुपद ने आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत की मजबूत नींव डाली और उसके कला सम्बन्धी विचारों का प्रभाव बाद में ख्याल शैली पर भी पड़ा।

तानसेन ने एक हज़ार से भी अधिक ध्रुपदों की रचना की, जो अपने संगीत की प्रामाणिकता, अपने रागों की निर्दोषता और अपने शब्दों तथा भावों के लालित्य और चमत्कार के लिये अब तक प्रसिद्ध है। सेनिया घराने के गायकों को इनमें से कुछ ध्रुपद याद है। इनमें बहुत सी रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें ईश्वर की स्तुति, आराधना और भक्ति के भावों का वर्णन है और देवताओं की भी चर्चा है। कुछ ध्रुपद ऐसे भी हैं जिनमें राजा–महाराजाओं की प्रशंसा है साथ ही तानसेन की कुछ रचनाओं में वेदान्त, भक्ति और सूफीमत के विचारों और उनकी सूक्ष्म कल्पनाओं का भी सम्मिश्रण है। तानसेन ने ध्रुपद संगीत को नये–नये आभूषणों से सुशोभित किया, जिनमें मींड और गमक का अधिक महत्व था। उनकी रचनाओं में एक विशेष भावात्मक चमत्कार था, एक निराली विलक्षणता थी। अकबर के गुरू होने के नाते उसको बहुत अधिक सम्मान मिला और उसकी ध्रुपद शैली सर्वश्रेष्ठ मानी गई। वास्तव में उसकी प्रतिभा, विलक्षण और बेजोड़ थी। ध्रुपद के संगीत को उसने अपनी कला से सुशोभित कर उसे परिमार्जित भी बनाया। भारतीय वाद्यों को भी उसकी सृजनात्मक प्रतिभा की देन मिली। उसकी शिष्य परम्परा ने ध्रुपद गायन के अतिरिक्त वाद्य संगीत वीणा, रबाब दोनों को सुरक्षित और जीवित रखा।

तानसेन का ध्रुपद, घरानेदार ध्रुपद संगीत का स्रोत बना और उसकी शिष्य परम्परा **तानसेन परम्परा** और तानसेन (सेनिया) घराने का सैद्धान्तिक आधार बनीं। तानसेन ही गायकों और वादकों के सेनिया घराने का आदिपुरूष और जन्मदाता माना जाता था। दीवाने खास में बड़े–बड़े गुणियों, विद्वानों और प्रतिभा संपन्न दरबारियों के सामने तानसेन और अन्य गायकों का ध्रुपद गायन होता था और बादशाह अकबर को घंटों संगीत सुनने की आदत थी। आम जनता के लिये भी दीवाने–आम में ऐसे संगीत का आयोजन किया जाता था। इस प्रथा का इतना अधिक प्रभाव बाद के शासकों पर

पड़ा कि मुग़ल साम्राज्य के अंतिम दिनों में मुहम्मद शाह के भी दरबार में संगीत की चहल–पहल थी और उसका बोलबाला था।

अकबर के युग से लेकर आधुनिक युग तक तानसेन परम्परा के बहुत से संगीतज्ञ हिन्दुस्तानी संगीत के सर्वश्रेष्ठ कलाकार माने गये हैं। सेनिया घराने की प्रतिष्ठा और उसके आधिपत्य को संगीतज्ञों से मान्यता मिली है। तानसेन की शिष्य–परम्परा **'सेनिया घराना'** के अन्तर्गत विस्तृत हुई और संपूर्ण उत्तर भारत में फैली। तानसेन की शिष्य परम्परा कई नये रागों से सम्मानित हुई है जिनमें से कुछ के नाम है–बिलासखानी टोड़ी, तिलक कामोद, पूरिया कल्यान, कौशिकी कान्हरा इत्यादि। इसी तरह देहली के शाह सदारंग ने जो तानसेन घराने का था और ध्रुपद परम्परा का अनुयायी था, ध्रुपद और कव्वाली के अद्भुत सम्मिश्रण से **'ख्याल शैली'** का आविष्कार किया। परन्तु फिर भी ख्याल शैली के गायक और विशेषज्ञ उच्चकोटि के ध्रुपद का सदैव आदरपूर्वक सम्मान करते थे और आज तक सब गायक, वादक तानसेन को हिन्दुस्तानी संगीत का अन्वेषक अथवा मार्गदर्शक मानते हैं। तानसेन की शिष्य परम्परा उत्तर प्रदेश ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण उत्तर भारत में पोषित और पल्लवित हुई। आज भी हिन्दुस्तानी संगीत में बहुत से घरानों की शिष्य परम्परा मौजूद है। इन घरानों में आपस में कितना भी मतभेद हो परन्तु वह सब एक बात में सहमत है, सब मिलकर तानसेन के संगीत की प्रतिष्ठा का सम्मान व गुणगान करते हैं। हिन्दुस्तान संगीत की एकता का सिद्धांत तानसेन संगीत की परम्परा में केन्द्रित है। संगीत शैलियों की विभिन्नता और विविधता से इस सैद्धान्तिक और प्रामाणिक संगीत पर कोई आँच नहीं आती।

सच तो यह है कि यदि हम हिन्दुस्तानी संगीत का पुर्नजागरण और उसकी उन्नति चाहते हैं तो हम तानसेन के युग से लेकर अब तक के ध्रुपद संगीत की उपेक्षा नहीं कर सकते। न हम ध्रुपद शैली के मूल सिद्धातों का ही परित्याग कर सकते है जो विशेष रूप से हमारे संगीत से सम्बन्धित है और जो एक तरह से उसका सैद्धान्तिक आधार भी मानते हैं। यह धारणा गलत है कि ध्रुपद एक प्राचीन, अप्रचलित शैली है जो

अब प्रचलन से बाहर हो रही है और हमारे मतलब की नहीं है। वास्तविकता ये है कि संगीत की प्राचीन परम्परा का तिरस्कार करके आधुनिक और आधुनिकीकरण के नारे लगाकर न तो हम अपने संगीत का पुर्नजागरण कर सकते हैं और न उसकी मौलिकता, प्रामाणिकता की व्याख्या ही कर सकते हैं। प्राचीन ध्रुपद संगीत की उपेक्षा करके हम अपने संगीत को प्रगतिशील नहीं बना सकते। आधुनिक अवांछनीय प्रयोगों से न तो हिन्दुस्तानी संगीत की उन्नति हो सकते है और न उसकी ठीक से सेवा ही हो सकती है। तानसेन परम्परा और उसके संगीत से आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत को नई प्रेरणा ही मिल सकती है। ध्रुपद हमारे संगीत की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा का सुन्दर प्रतीक है।

तानसेन की शिष्य परम्परा में ध्रुपद गायन, उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में

सेनिया घराने की ध्रुपद परम्परा :

यह तो मानी हुई बात है कि प्रत्येक घराने की उन्नति उसकी शिष्य परम्परा पर ही निर्भर होती है और वह उसके संगीत का सबसे अच्छा अनुवाद भी करती है शिष्य परम्परा ही अपने घराने की जीवन शक्ति को सुरक्षित व जीवित रखती है और वह उसके मार्मिक हितों का समर्थन करती है। शिष्य ही अपने गुरू के संगीत का पुर्नजागरण करते हैं और उसे भविष्य की पूँजी बनाते हैं और संगीतज्ञों की शिष्य परम्परा ही अपनी विद्या के ऋण को बाद में चुकाती है। इसी प्रकार तानसेन के घराने में भी उनके शिष्य–प्रशिष्यों ने इस परम्परा का निर्वाह किया।

तानसेन के घराने को सेनिया घराना कहा गया और सेनिया घराना ही ध्रुपद संगीत का पथ पद्रर्शक बना तथा सेनिया घराने का ध्रुपद ही आधुनिक ध्रुपद शैली का जन्मदाता था। तानसेन की मृत्यु के पश्चात् सेनिया के तीन विशेष घरानों का जन्म हुआ। पहला घराना तानसेन के सबसे छोटे लड़के विलास खाँ (तानतरंग) के नाम से चला। यह **गौड़हार बानी** का सबसे प्रसिद्ध घराना माना गया। दूसरा घराना तानसेन के

दूसरे पुत्र सुरतसेन के नाम से बना जो **'डागुर बानी'** का सर्वश्रेष्ठ गायक माना जाता था। उसके वंशज जयपुर में जाकर बस गये, जहाँ पर उनकी शिष्य परम्परा फलती–फूलती रही। तीसरा घराना मिश्री सिंह का था जो महाराज समोखन सिंह का पुत्र था, जिसका विवाह तानसेन की सुपुत्री सरस्वती देवी से हुआ था। इस घराने के संगीतज्ञों ने **डागुर** और **खंडार बानियों** के ध्रुपद गायन में भी आसाधारण कुशलता प्राप्त की।

जहाँ तक उत्तर प्रदेश से तानसेन की परम्परा का संबंध है तो कालांतर में 'बनारस' और रामपुर, सेनिया की ध्रुपद परम्परा के मुख्य केन्द्र बने।

सदारंग :

तानसेन की शिष्य परम्परा ने देहली दरबार में भी सम्मान प्राप्त किया। 18वीं शताब्दी में जब मुहम्मद शाह देहली का बादशाह था तब ध्रुपद शैली का बड़ा बोलबाला था। देहली दरबार के नियामत खाँ **'सदारंग'** ध्रुपद गायक भी थे और बीनकार भी थे। वह सेनिया घराने की ध्रुपद शैली से परिचित थे और ध्रुपद की प्राचीन परम्परा के ही अनुयायी थे। सदारंग की विलक्षण प्रतिभा का अनुमान हम उनके घराने और उनकी संगीत शिक्षा से लगा सकते हैं। कहा जाता है कि ये लाल खाँ के सुपुत्र थे और तानसेन के घराने के एक बड़े नामी संगीतज्ञ थे। इनके ज़माने में ध्रुपद, होरी और छन्द, प्रबन्ध का रिवाज था। सदारंग स्वयं उत्कृष्ट ध्रुपद गायक थे एवं बड़ी अपूर्व प्रतिभा वाले संगीतज्ञ थे।

हिन्दुस्तानी संगीत के इतिहास का अध्ययन करके हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि नियामत खाँ बीनकार जो तानसेन घराने के थे और जिन्हें मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में **''शाह सदारंग''** की उपाधि मिली थी, तानसेन के बाद सबसे बड़े प्रतिभाशाली संगीतज्ञ माने गये हैं। तानसेन के बाद एक बड़े लंबे परिवर्तन काल में जब हमारे संगीत की शैलियों में क्रांति या उथल–पुथल हो रही थी, वह प्रगतिशील संगीत में एक स्तम्भ के समान थे। 18 वीं शताब्दी में संगीत के इस नये युग में वह हमारे

संगीत की क्रान्तिकारी परिवर्तनशीलता के अन्वेषक माने गये हैं। सेनिया परम्परा के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि होते हुए उन्होंने वीणा–वादन और धमार की शैली में भी कुछ आविष्कार किये। चूँकि ईजाद अथवा आविष्कार करने की प्रवृत्ति इनमें शुरू से थी अतएव उन्होंने एक और बड़ा कार्य किया, उन्होंने ख्याल ऐसी रोचक शैली का आविष्कार किया। जिसको हम केवल ध्रुपद शैली की प्रतिक्रिया ही नहीं कह सकते किन्तु कालांतर में यह ख्याल शैली, ध्रुपद शैली की प्रतिद्वन्दी बन गई।

18 वीं शताब्दी के दूसरे भाग में मुग़ल साम्राज्य के पतन होने के बाद नये–नये शासक, राजा और सूबेदार स्वतंत्र बन गये और देहली साम्राज्य की शक्ति क्षीण पड़ गयी। उस समय सेनिया घराने के संगीतज्ञों ने जो दूसरे के दरबारों का आश्रय ढूँढ रहे थे, वाद्य संगीत की ओर अधिक ध्यान दिया और बहुत कुशलता प्राप्त की। यह संगीतज्ञ ध्रुपद परम्परा के ही अनुयायी थे। ऐसे ही संगीतज्ञों में सदारंग के वंशज विशेष रूप से रामपुर और बनारस जाकर बस गये। 'अदारंग' शिक्षा देने में बहुत उदार ह्रदय थे। उनके प्रमुख शिष्यों में फिरोज़ खाँ **'अदारंग'** आते हैं, जो इनके शिष्य और दामाद दोनों ही थे। सदारंग की शिष्याओं में पन्नाबाई अत्यन्त मधुर कंठ की थी, इन्होंने भी बहुत से नये रागों की रचना की। इनके अतिरिक्त कमालबाई भी सदारंग की शिष्या रहीं। सदारंग ने स्वयं अनेक नवीन रागों का आविष्कार किया, बीन वादन में अनेक नवीन प्रयोग किये। उन्होंने अवधी, ब्रजभाषा, पंजाबी, फ़ारसी, और राजस्थानी में ख्याल रचनाएँ की। उनके अन्य शिष्यों में मनरंग, कासिम अली, काफी प्रसिद्ध हुये। वे अपने काल में एक युग पुरूष हुये जिन्होंने अकबर के युग के संगीत के पश्चात् संगीतकला को एक नई दिशा दी। मुहम्मद शाह रंगीले के शासन काल के अन्तिम चरण में सदारंग की मृत्यु हुई। आज उनकी मृत्यु को ढाई–तीन सौ वर्ष हो चुके हैं किन्तु सदारंग की बन्दिशें आज भी उतनी ही लोकप्रिय हैं। सदारंग बहुत उदार व्यक्ति थे। शिक्षा देने के साथ–साथ शिक्षा लेने में भी वह संकोची नहीं थे। इसका प्रमाण है कि उन्होंने नटवे से नृत्य, गायन, ताल, मंजीरा बजाना सीखा था। महाकवि देव से उन्होंने

संगीत और साहित्य के विविध पक्षों को सीखा। संगीत और साहित्य का इतना सुन्दर समन्वय कम ही मिलता है।

वास्तव में तानसेन के पश्चात् जनमानस पर अपना प्रभाव स्थापित करने वाले यही व्यक्ति रहे। सदारंग परम्परा के अधिकांश कलाकार अवध, रामपुर रियासतों में जाकर बस गये जहाँ उन्हें आश्रय प्राप्त हुआ। अतः संगीत के इतिहास में **'रामपुर परम्परा'** को **'सदारंग परंपरा'** से जोड़ा जाता है। कालांतर में संगीत जगत् में **'सदारंग परम्परा'** ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया।

वाराणसी की तानसेन परम्परा :

काशी को अध्यात्म, धर्म और विद्या के केन्द्र के अतिरिक्त हिन्दुस्तानी संगीत का भी प्रमुख केन्द्र माना गया है। कुछ लोगों का कहना है कि तानसेन का असली नाम 'रामतनु' था तथा उसका जन्म बनारस में हुआ था और वहीं उसका पालन–पोषण भी हुआ था। लोगों का ऐसा विश्वास है कि उसके पिता मकरन्द पांडे एक कथावाचक ब्राम्हण थे जो बनारस के मंदिरों में पौराणिक कथाओं को गाकर सुनाया करते थे परन्तु इस संबंध में कोई ऐतिहासिक लिखित प्रमाण नहीं मिलता। तानसेन की परम्परा के संगीतज्ञों का बनारस में बराबर आना–जाना रहा और वह बनारस को संगीत की पुण्य भूमि मानते थे जिससे बनारस में तानसेन की संगीत परम्परा पल्लवित हुई। तानसेन के सबसे छोटे लड़के विलास खाँ के घराने और उसके दामाद मिश्री सिंह के घराने में गहरा संपर्क था। विलास खाँ के घराने के गायक ध्रुपद की **'शुद्धबानी'** के विशेषज्ञ थे और वाद्यों में उन्होंने रबाब में विशेष कुशलता प्राप्त की। मिश्री सिंह के वंशज वीणा व ध्रुपद की डागुर और खंडार बानियों के विशेषज्ञ थे। 18 वीं शताब्दी के दूसरे भाग में जाकर खाँ, प्यार खाँ, और बासत खाँ ये तीनों भाई विलास खाँ के घराने के प्रमुख प्रतिनिधि माने गये। यह ध्रुपद गायन भी करते थे और रबाब भी बजाते थे। इन दोनों घरानों के संगीतज्ञों ने देहली छोड़कर बनारस को ही अपना निवास स्थान बनाया और

बनारस के **'कबीर चौरा'** मुहल्ले में ये लोग निवास करते थे। ये संगीतज्ञ लखनऊ दरबार से भी संबंधित थे। दुर्गा–पूजा के अवसर पर ये सब बनारस में एकत्रित होते थे तथा इन्हें काशी नरेश भी संगीत प्रदर्शन हेतु आमंत्रित करते थे। प्यार खाँ के छोटे भाई बासत खाँ धुरंधर ध्रुपदिये और रबाबिये थे और देश भर में उनकी ख्याति थी। जाफर खॉ के लड़के सादिक अली खाँ और उनके भाई मिसर अली खाँ काशी नरेश के दरबार में सम्मिलित हो गये थे। सादिक अली खाँ संगीत शास्त्र के विद्वान थे एवं बनारस के संस्कृत विद्वानों से भी उनका अच्छा संपर्क था। संस्कृत के अलावा वह फ़ारसी भी जानते थे। ध्रुपद गायन, वीणा और सितार में उनके बहुत से शिष्य थे।

सादिक अली खाँ की मृत्यु के बाद 'संगीत नायक' बासत खाँ के बड़े पुत्र अली मुहम्मद खाँ काशी नरेश के दरबार के मुख्य दरबारी कलाकार नियुक्त हुए। उसी समय बासत खाँ का देहान्त होने के कारण वह स्थाई रूप से काशी नरेश के महल के समीप **'राम नगर'** में रहने लगे। उन्होंने ध्रुपद–वीणा और सुरसिंगार में रामपुर के वज़ीर खाँ को भी शिक्षा दी थी जो उनसे मिलने अक्सर बनारस आया करते थे। अली मुहम्मद खाँ ने बंगाल के नायक हरिनारायन मुकर्जी को भी बहुत से ध्रुपदों और सरगमों की शिक्षा दी थी। अली मुहम्मद खाँ के छोटे भाई मुहम्मद अली खाँ जो गया मे रहते थे, उनसे मिलने बनारस आया करते थे। यह दोनों भाई अन्य संगीतज्ञों के समक्ष जो अक्सर बनारस आया करते थे, अपने संगीत कला को प्रस्तुत करते थे और उन्हें बहुत हार्दिक प्रशंसा मिलती थी। अली मुहम्मद की मृत्यु के बाद उनके भाई मुहम्मद अली खाँ ध्रुपदिये और रबाबिये ही इस घराने के आखिरी कलाकार थे। सेनिया घराने के गायक, वादक रामपुर और जयपुर ऐसी रियासतों में जाकर बस गये थे। इसलिये बनारस में धीरे–धीरे तानसेन घराने की परम्परा का अन्त हो गया। इन उस्तादों के शिष्यों में केवल हरिनारायन मुकर्जी ऐसे ध्रुपदिये ही बचे रहे थे जिन्होंने बनारस की ध्रुपद परम्परा के प्रसिद्ध गायकों की कला चमत्कार थोड़ा बहुत देखा था और जिनके कानों में उस संगीत के स्वर कई वर्षों तक पड़े थे। किन्तु वर्तमान समय में बनारस में पुनः ध्रुपद

गायन को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया जा रहा है और इस दिशा में प्रत्येक वर्ष यहाँ पर वृहद स्तर पर **'बनारस ध्रुपद मेला'** आयोजन तुलसीघाट पर किया जाता है जहाँ विविध ध्रुपद घरानों के ध्रुपदिये अपना गायन प्रस्तुत करते हैं एवं उन्हें सम्मानित भी किया जाता है।

उत्तर प्रदेश में ध्रुपद गायन के प्रमुख केन्द

तानसेन की ध्रुपद परम्परा की श्रेष्ठता का निर्णायक प्रमाण इस बात में था कि उससे ध्रुपद के और घरानों को भी बहुत अधिक प्रेरणा मिली। ध्रुपद शैली का विस्तार बढ़ता ही गया और ध्रुपद संगीत का अधिकार स्थापित हो गया। **'सेनिया घराना'** ध्रुपद शैली का मार्गदर्शक बना और ध्रुपद के और घरानों का जन्म हुआ। कुछ घरानों में ख्याल शैली के साथ ध्रुपद का भी वर्चस्व रहा और दोनों शैलियों में परस्पर सहयोग की भावना रही। बाद में ध्रुपद शैली के गाम्भीर्य से लाभ उठाने वाले ख्याल गायकों को भी कला की दृष्टि से बहुत अधिक सम्मान मिलता रहा। कालांतर में ख्याल गायन की अधिक लोकप्रियता के बावजूद संगीत शिक्षा के आरम्भ में ध्रुपद गायन की शिक्षा अनिवार्य समझी गई। अभी भी घरानेदार ख्याल गायक इस प्रथा का पालन करते हैं। फिलहाल, उत्तर प्रदेश में ध्रुपद गान के जो प्रमुख केन्द्र बने, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है –

(ii) आगरा :- अकबरी दरबार के अतिरिक्त आगरे में हाजी सुजान खाँ का ध्रुपद–धमार का घराना हुआ। हाजी सुजान खाँ यद्यपि आगरा में ख्याल घराने के पूर्वज या आदि पुरूष माने गये और जिनके वंशज घघ्घे खुदाबख्श ने 18 वीं शताब्दी के अन्त में आगरा घराने को स्थापित किया तथापि इस घराने में ख्याल परम्परा के साथ–साथ ध्रुपद–धमार परम्परा का उत्तम सहयोग तथा मिश्रण रहा है।

आगरा घराने के गायक ध्रुपद, धमार और ख्याल इन तीनों स्वरूपों में कुशल जानकारी रखते हैं। हाजी सुजान खाँ की मूल परम्परा ध्रुपद धमार की थी परन्तु घघ्घे खुदाबख्श से इस घराने में ख्याल गायन का प्रवेश हुआ तब से इस घराने में ख्याल

गायन मुख्य और साथ–साथ ध्रुपद –धमार का अभ्यास चलता रहा। ध्रुपद–धमार की जो सबसे आकर्षक और संगीत पूर्ण बातें थीं, उन्हें आगरे की ख्याल शैली में इस तरह का अपनाया गया कि जिससे ख्याल की शैली में और रंग पैदा हो गया।

आगरा घराने की ध्रुपद परम्परा एवं गायन शैली **'नौहार वाणी'** की परम्परा है। विशेषतः ख्याल शैली का घराना होने के बावजूद इस घराने में ध्रुपद–धमार से ही शिक्षा प्रारम्भ होती है जिसके द्वारा श्वास नियंत्रण एवं ताल की पकड़ का ज्ञान कराया जाता है, और ध्रुपद के अलावा ख्याल गायन में भी प्रारम्भिक नोम्–तोम् की विशेषता केवल आगरे घराने की है, जिससे स्वर खुलने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त यहाँ ख्याल शैली में ध्रुपद शैली का स्पष्ट प्रभाव जैसे–स्वरों का खड़ा और खुला लगाव, स्वरों का कणरहित उच्चारण एवं आवाज़ की फेंक में ज़्यादा बल या जोश, परिलक्षित होता है। इस घराने में बहुत से प्रसिद्ध गायक हुये जैसे–फ़ैयाज़ खाँ साहब, भास्कर राव बखले, गुलाम अब्बास खाँ आदि। परन्तु उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ इस घराने की गायकी का पूरा–पूरा अनुवाद करने में अग्रगण्य रहे हैं।

रामपुर में ध्रुपद गायन :

उत्तर प्रदेश में बनारस और लखनऊ के बाद रामपुर भी सांगीतिक केन्द्र माना गया है। रामपुर के संगीतज्ञों का बहुत नाम हुआ है। ध्रुपद के सेनिया घराने की चर्चा करते हुये ये आवश्यक हो जाता है कि रामपुर दरबार के विषय में भी विचार हो। बनारस और लखनऊ के दरबारों के बाद आधुनिक युग में रामपुर दरबार को बहुत ख्याति मिली। इस दरबार ने भी घरानेदार संगीत की व्याख्या की और उसके प्रचार के लिये बहुत प्रयत्न किया। भारतवर्ष में संगीत से संबंधित प्रतिष्ठित दरबारों में इसकी गणना होती थी।

रोहलखंड में पठानों की स्थापित की हुई रियासत रामपुर थी। आरम्भकाल से वहाँ के नवाबों को संगीत से सच्चा प्रेम रहा। रामपुर के नवाब कल्बे अली खाँ ने अपने

दरबार में सुविख्यात बहादुर हुसैन खाँ को और उनके साथ अमीर खाँ को नियुक्त किया। बहादुर खाँ सुविख्यात सुरसिंगार वादक प्यार खाँ के सुपुत्र थे, इन्हें वीणा और सुरसिंगार दोनों पर अधिकार था परन्तु इसके साथ–साथ यह दोनों प्रसिद्ध वादक ध्रुपद गायन शैली में भी पारंगत थे। इनकी शिष्य परम्परा में बहुत से प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुये। सच पूछा जाय तो एक प्रकार से बहादुर हुसैन खाँ और अमीर खाँ ने ही रामपुर 'सेनिया घराने' की मज़बूत नींव डाली। इस घराने की ध्रुपद शैली की कुछ विशेषताएँ थीं जो उनके संगीत में प्रत्यक्ष हो जाती थी। इन दोनों के व्यक्तित्व का प्रभाव भी रामपुर घराने के संगीत पर बहुत जबरदस्त पड़ा तथा इनके संगीत की अद्‌भुत प्रेरणा से रामपुर के संगीत को अत्यधिक प्रोत्साहित किया।

अतरौली :

उत्तर प्रदेश में अतरौली एक छोटा सा स्थान है, जो अलीगढ़ से कुछ दूर है। यहाँ इतने धुरन्दर और विख्यात संगीतज्ञ हुये जो संगीत कला के अनोखे मर्मज्ञ थे। ध्रुपद, होरी और ख्याल इन तीनों शैलियों में यहाँ के बहुत से संगीतज्ञों ने निपुणता प्राप्त की। विविध घरानों की भाँति यह सिर्फ़ ख्याल का ही घराना नहीं माना जाता था वरन् यहॉ के संगीतज्ञ ध्रुपद–धमार शैली के विशेषज्ञ थे और वे इस बात को प्रमाणित करते थे कि ध्रुपद और ख्याल की संगीत परंपरा एक है जिसे एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में तो अतरौली घराना संगीत कला की विभिन्न विधाओं का घराना माना गया है।

अतरौली के अधिकांश मुसलमान गायकों का जन्म ब्राम्हण कुल में हुआ था। दूसरी बात ये कि अधिकांश गायक ध्रुपद–धमार परम्परा के अनुयायी थे और इन्हीं शैलियों को अधिकतर व्यवहार में लाते थे और ख्याल का केवल द्वितीय स्थान था इसके अतिरिक्त अतरौली घराना इस बात को साबित करता है कि बहुत से प्रसिद्ध संगीतज्ञों ने प्रथमतः ध्रुपद शैली को अपनाया और बाद में उन्होंने ख्याल गान आरम्भ किया। बहुत से नामी गायक पहले ध्रुपद ही गाते थे। ख्वाजा अहमद खाँ जो अतरौली

के प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुये, इसी तरह के गायक थे और इनके वंशज, इनकी सन्तान अर्थात् उस्ताद अल्लादिया खाँ आधुनिक युग के प्रमुख ख्याल गायक माने गये। यह डागुर बानी का ध्रुपद गाते थे। इनके घराने में ध्रुपद गायन की ही प्रथा थी और इन्हें अपने बुजुर्गों से ध्रुपद की शिक्षा मिली थी किन्तु अतरौली घराने के गायकों ने ध्रुपद की भिन्न–भिन्न बानियों का प्रयोग किया। जिनमें से कुछ गायकों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है–

दुल्लू खाँ छज्जू खाँ : इन दो गायकों का जन्म अतरौली में हुआ था, जो ध्रुपद–धमार शैलियों के विशेषज्ञ थे और गोबरहार बानी की गायकी का प्रयोग करते थे।

गुलाम ग़ौस खाँ : यह केवल ध्रुपद गाते थे एवं नौहार बानी के विशेषज्ञ थे परन्तु इन्हें डागुर बानी में भी स्वाभाविक अभिरुचि थी। यह बूँदी के दरबारी गायक थे।

खैराती खाँ : आप स्वव अजमत हुसैन खाँ के पूज्य पिता थे एवं इनका जन्म अतरौली में ही हुआ था। यह खंडार बानी का ध्रुपद गाते थे।

करीम बख्श : ये खैराती खाँ के सुपुत्र थे और इनका जन्म उनियारे में हुआ था। इनको अपने पिता से ही शिक्षा मिली तथा यह भी खंडार बानी गाते थे।

सआदत खाँ : अतरौली के सुयोग्य गायकों में सआदत खाँ ध्रुपद शैली की नौहार बानी का प्रयोग करते थे।

चिम्मन खाँ : यह ब्राम्हण कुल के थे एवं अतरौली में रहते थे। ध्रुपद–धमार के ये नामी गायक बाहरी रियासतों में भी आमंत्रित होते थे। जोधपुर रियासत में इनका बहुत सम्मान था।

हक्कानी बख्श : ये भी अतरौली के रहने वाले थे और ध्रुपद–होरी के बेजोड़ गायक थे। यह जोधपुर दरबार में नियुक्त थे।

हस्सू खाँ : यह भी बड़े प्रसिद्ध ध्रुपद होरी गायक थे और राजा 'उनियारे' संग्राम सिंह के यहाँ नियुक्त थे। इनके सुपुत्र मुहम्मद खाँ भी इनके साथ थे।

गुलाम हुसैन : ये अतरौली के एक प्रसिद्ध गायक थे एवं नौहार बानी का ध्रुपद बहुत अच्छा गाते थे।

इनके अतिरिक्त इस घराने में बहुत से ध्रुपद–धमार गायक हुये जिन्होंने इन शैलियों की साधना करके संगीत जगत में अपना स्थान बनाया जैसे–दौलत खाँ, मुन्नू खाँ, गुलाब खाँ, भूपत खाँ आदि।

सहारनपुर :

सेनिया घराने के अतिरिक्त संगीत के और भी मुख्य केन्द्रों में ध्रुपद शैली की परम्परा सुरक्षित रही है। 18 वीं तथा 19 वीं शताब्दियों में उत्तर प्रदेश में बनारस, लखनऊ और रामपुर ध्रुपद शैली के मुख्य केन्द्र माने जाते थे। जैसा कि हम जानते हैं कि 19वीं शताब्दी में ध्रुपद का उत्थान हुआ जब बनारस और रामपुर के सेनिया घराने का समकालीन एक और घराना हुआ है जो **''सहारनपुर का घराना''** कहलाता है। परन्तु चूँकि इस घराने के मार्गदर्शक बहराम खाँ माने जाते हैं, जिनकी ध्रुपद शैली ही इस घराने की गायकी का स्रोत मानी जाती है, इसलिये इसे **'बहराम खाँ का घराना'** भी कहा जाता है। सामूहिक रूप से सहारनपुर अच्छे–अच्छे नामी संगीतज्ञों से संबंधित रहा है और उनकी संगीत परम्परा का बहुत मान था। ज़िला सहारनपुर का संगीत से बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है इसलिये हम वहाँ के संगीतज्ञों को सहारनपुर घराने के अन्तर्गत मान सकते है। कहा जाता है कि सहारनपुर के बरनावा शरीफ के शेख खलीफा रमजानी के शिष्य खलीफ़ा मुहम्मद जमां एक पहुँचे हुये सूफी संत होने के साथ ही संगीत विद्या में भी हर तरह से निपुण थे। लोग कहते हैं कि वीणा, रबाब, सितार में पारंगत होने के अतिरिक्त ये एक बेजोड़ गायक भी थे। इन्होंने संगीत का ज्ञान निर्मलशाह जैसे अद्वितीय गायक से प्राप्त किया। मुहम्मद जमां के अतिरिक्त सहारनपुर में बहुत से ऐसे संगीतज्ञ हुए हैं जिनमें से कुछ तो राष्ट्रीय स्तर पर विख्यात थे जैसे गुलाम तकी और गुलाम जाकिर खाँ, जिन्होंने अपने पिता अल्ला रक्खे से संगीत शिक्षा पाई थी तथा दोनों भाई होरी और ध्रुपद के बेजोड़ गायक माने जाते थे। इनके और भाईयों के नाम थे–गुलाम आजम, गुलाम कासिम और गुलाम जामिन ये सब कुशल गायक थे।

यहाँ पर मैं कुछ क्षण के लिये विषयान्तर करूँगी कि उत्तर प्रदेश की संगीत परम्परा से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ने वाले कलाकारों को हम प्रमुखतः दो श्रेणी में रख सकते हैं। एक तो वो कलाकार जो मूलतः तो उत्तर प्रदेश से सम्बद्ध नहीं रहे किन्तु बाद में यहाँ की समृद्ध परम्परा से प्रभावित होकर, यहाँ के गुणियों से संगीत ज्ञान लाभ उठाने के उद्देश्य से, या फिर किन्हीं कारणों से उत्तर प्रदेश में निवास कर यहाँ की भूमि को अपनी कर्मस्थली बनाया तथा यहाँ की सांगीतिक परम्परा को अपने स्वनामधन्यता से और समृद्ध व धनी बनाते हुये, उत्तर प्रदेश के होकर ही रह गये। उदाहरणार्थ में यहाँ पर टप्पा गान शैली के प्रवर्तक गुलाम नबी शोरी का नाम लेना चाहूँगी जिन्होंने उत्तर प्रदेश को अपनी कर्मभूमि बनाकर यहाँ पर टप्पा की लच्छेदार लड़ियाँ बिखेरी। दूसरे, वे कलाकार जो मूलतः तो उत्तर प्रदेश से सम्बद्ध रहे हैं, यहाँ उनका जन्म हुआ एवं संगीत शिक्षा भी यहीं प्राप्त की किन्तु कालांतर वे अथवा उनके वंशज दूसरे प्रदेशों के रियासतों के आमंत्रण पर, दरबारी कलाकार नियुक्त होने पर, राजाश्रय प्राप्त होने पर, उज्जवल भविष्य को देखकर या फिर जीविकोपार्जन उद्देश्य से उत्तर प्रदेश छोड़कर अन्यत्र स्थान से जुड़ गये किन्तु फिर भी वे उत्तर प्रदेश से परोक्षरूप से सम्बद्ध रहे, उनकी आत्मा उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा से जुड़ी रही और वे बाहर रहकर भी यहाँ की परम्परा के यश को और कीर्तिमान बंनाते रहे। बहराम खाँ, प्रसिद्ध ध्रुपद गायक भी ऐसे ही कलाकारों की श्रेणी में आते हैं, जो मूलतः उत्तर प्रदेश के थे। यह इमाम बख्श नामक गायक के पुत्र थे और इनका जन्म सहारनपुर जिले के अंबैठा नामक गाँव में सन् 1800 के लगभग हुआ था। इन्होंने अपने पिता से और अपने परिवार के बुजुर्गों से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। परन्तु इन्हें बचपन से ही संगीत के अतिरिक्त हिन्दी और संस्कृत से भी विशेष प्रेम था और इन्होंने अपने इस ज्ञान का सदुपयोग संगीत शास्त्र के अध्ययन एवं मनन में किया। यही कारण है कि इनके वंशज भी अपने गायन के आरम्भ में कभी–कभी संस्कृत श्लोकों का उच्चारण करते थे। संगीत विद्या की यह प्रथा इस घराने में बहराम खाँ के काल से चली आई थी।

बहराम ख़ाँ की गणना उन विद्वान संगीतज्ञों में होती थी जो अपने विद्या में भरपूर थे एवं जिनमें अनोखा पांडित्य था। परन्तु वह उन बुद्धिजीवी संगीतज्ञों में नहीं थे जो केवल संगीत की सैद्धान्तिक रूपरेखा से ही परिचित थे। यथार्थ में उन्हें व्यवहारिक संगीत का बड़ा गहरा ज्ञान था और उन्होंने संगीत की उत्तम शिक्षा पाई थी। वह एक कुशल ध्रुपद गायक एवं संगीत शिक्षक थे और ध्रुपद गायन में वह अपनी तर्कबुद्धि का ही अधिक सहारा लेते थे और उसे एक भावुक कलाकार की भाँति भावनापूर्ण नहीं बनाते थे। वह अपने ध्रुपद गायन को संगीत के ज्ञान का और अपने पांडित्य का साधन तथा प्रदर्शन मात्र समझते थे। वह ध्रुपद शैली के विलक्षण अनुवादक और टीकाकार थे और उसकी मर्यादा का उल्लंघन कभी नहीं करते थे। वह प्राचीन ध्रुपद गायन के सैद्धान्तिक आधार का ही समर्थन करते थे और ध्रुपद को कला प्रदर्शन का चमत्कार नहीं बनाना चाहते थे। वह शास्त्रीय संगीत के गूढ़ ज्ञान को भावुकता से बहुत ऊँचा समझते थे। संगीत ग्रंथों का अध्ययन करना वह अपना धर्म समझते थे। एक विद्वान गायक होकर ही वह जयपुर नरेश महाराजा रामसिंह के दरबा़र में नियुक्त हो गये थे। इस दरबार में कव्वाल बच्चों के घराने के प्रसिद्ध गायक मुबारक अली ख़ाँ, रजब अली ख़ाँ बीनकार, इमरत सेन सितारवादक, घघ्घे खुदाबख्श ख्यालगायक और हैदरबख्श, सदरुद्दीन ऐसे नामी संगीतज्ञ भी नियुक्त थे। ऐसे गुणियों का सत्संग बहराम ख़ाँ की रुचि और उनकी प्रतिभा के लिये बहुत अनुकूल था। संगीत के ऐसे कला संचारित तथा ज्ञान सुशोभित वातावरण में इनके ज्ञान एवं विद्या का पूर्ण विकास हुआ। गुणचर्चा में इन्हें पहले से विशेष रुचि थी और इसलिये इस दरबार में इस तरह का विचार–विनिमय इनके लिये सुलभ हो गया। संगीतज्ञों के सम्पर्क में आकर बहराम ख़ाँ ने ऐसी विद्या–गोष्ठी के स्तर को बहुत ऊँचा कर दिया और दरबार का सांगीतिक वातावरण भी बदल गया। बहराम ख़ाँ के बारे में यह कहा जाता है कि जब यह महाराजा रणजीत सिंह के दरबार में गये तो वह इनके पांडित्य से इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने बहराम ख़ाँ को निम्नलिखित पदवी दी–

''अल्लामा अबुले-अवामे-अरबाबे-इल्मे मौसीकी, षट्शास्त्री, स्वर गुरू, बृहस्पति, पातालशेष, आकाश इन्द्र, पृथ्वी मांडलिक''।

संगीत के उस सुनहरे युग में ध्रुपद और ख्याल का पारस्परिक गहरा संबंध था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि ख्याल गायक को पहले आलाप, ध्रुपद और होरी की भी शिक्षा दी जाती थी। ध्रुपद और ख्याल के सहयोग का सबसे अच्छा उदाहरण हमें बहराम खाँ और आगरा घराने के घघ्घे खुदाबख्श की घनिष्ठ मित्रता में मिलता है। घरानेदार ख्याल गायकी सदैव से ध्रुपद शैली के ऋण को स्वीकार करती थी और उसके गुणों से लाभ उठाती आई है। घरानेदार ख्याल गायकों को ध्रुपद का व्यंवहारिक ज्ञान होता था और उनकी प्रारम्भिक शिक्षा आलाप, ध्रुपद और होरी से ही आरम्भ होती थी। प्रतिष्ठित ख्याल के घरानों ने इस आदर्श को सामने रखकर इसका पूरा पालन किया। उक्त दोनों गायक अर्थात् बहराम खाँ तथा घघ्घे खुदाबख्श ध्रुपद और ख्याल शैलियों के सामंजस्य और उनके मौलिक संश्लेषण के मानों दो उज्जवल प्रतीक थे।

बहराम खाँ के बहुत से प्रसिद्ध एवं प्रतिभाशाली शिष्य थे जिन्हें बहुत ख्याति प्राप्त हुई है। भारत विख्यात गायिका गोकीबाई हुई जिसने पटियाला के अलीबख्श और फतह अली खाँ को संगीत शिक्षा दी थी। अपने घराने में बहराम खाँ ने अपने सुपुत्र अकबर खाँ और सद्दूखाँ और अपने भाई हैदर खाँ के पोते जाकिरुद्दीन खाँ तथा अल्लाबंदे खाँ को भी शिक्षा दी थी। इनके वंशज का आज भी नाम है और इनकी शिष्य परम्परा को बहुत मान–सम्मान मिला है।

बहराम खाँ के वंशज :

जाकिरुद्दीन खाँ और अल्लाबंदे खाँ :

यह दोनों गायक बहराम खाँ घराने के अद्वितीय गायक माने गये हैं। सारे देश में इनकी जोड़ के दूसरे और ध्रुपद गायक नहीं थे। आधुनिक युग में यह दोनों भारतवर्ष के विद्वान और बेजोड़ ध्रुपद गायक माने जाते थे। यह कहना भी ठीक होगा कि बहराम

खाँ के बाद ये दोनों ही इस प्रतिष्ठित घराने के उत्तराधिकारी और मार्गदर्शक माने गये। बहराम खाँ के पदचिन्हों पर चलकर इन्होंने ध्रुपद शैली की अनुपम व्याख्या की। अपने जीवनकाल के अंत तक इन दोनों ध्रुपद गायकों को बहुत मान–सम्मान मिला था। बनारस के महामंडल ने अल्लाबन्दे खाँ को **'संगीत रत्न'** की उपाधि दी थी। इनका स्वर्गवास 1925 में हुआ था।

जाकिरुद्दीन के सुपुत्र **'जियाउद्दीन'** को भी अपने पिता से बहुत अच्छी शिक्षा मिली थी। जहाँ तक ख्याति का संबंध था अल्लाबन्दे खाँ के सबसे बड़े लड़के नसीरुद्दीन खाँ का बहुत नाम हुआ। अल्लाबन्दे खाँ के चारों लड़के–नसीरुद्दीन, रहीमुद्दीन, इमामुद्दीन और हुसैनुद्दीन (तानसेन पांडे) अपने–अपने ढंग से विद्या और गुण से सम्पन्न थे। नसीरुद्दीन के बाद रहीमुद्दीन खाँ ही इस घराने के सर्वश्रेष्ठ गायक माने जाते थे। नसीरुद्दीन खाँ के लड़के नसीरुमोइनुद्दीन और नसीर अमीनुद्दीन **(डागर बंधु)** का भी कुछ वर्षों पहले बहुत नाम हुआ अब इनके छोटे भाई और रहीमुद्दीन के सुपुत्र ही इस घराने के तरूण व होनहार गायक माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त बहराम खाँ के सुपुत्र सआदत अली खाँ भी बड़े विद्वान गायक थे और उनके लड़के **'रियाजुद्दीन'** को भी अच्छी ख्याति मिली थी। सबकी चर्चा करते हुये हम बहराम खाँ के भांजे अब्बन खाँ को नहीं विस्मृत कर सकते, जिनका देहांत सहारनपुर में हुआ था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बहराम खाँ की ध्रुपद परम्परा उनके वंशजों, शिष्य–प्रशिष्यों द्वारा जीवित रही जिसकी अविच्छिन्न धारा उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले से निकली।

फतेहपुर सीकरी :

आगरे के पास फतेहपुर सीकरी का घराना भी एक सम्मानित घराना था और उसके संगीतज्ञों को भी संगीत की बहुत सी शैलियों पर अधिकार था जिनमें मुख्यतः ध्रुपद व होरी था और बाद में ख्याल का स्थान था। फतेहपुर सीकरी का घराना

ग्वालियर, आगरा आदि के घरानों की तरह प्रथम श्रेणी का घराना न रहा हो, परन्तु इस घराने में एक ऐसा गायक हुआ जिसने अकेले इस घराने को मशहूर कर दिया था। घराने बड़े हों या छोटे परन्तु उनकी विशेषता इस बात में होती है कि वह परम्परागत संगीत के माध्यम बन जाते हैं और कुछ एक–दो संगीतज्ञ ही ऐसे प्रतिभावान होते हैं जो उसके कीर्तिस्तम्भ बन जाते हैं अथवा जो उसे हर तरह से सम्मानित और प्रामाणिक बनाते हैं।

शेख सलीम चिश्ती के दरबार में नियुक्त प्रसिद्ध कव्वाल दूल्हे खाँ के बड़े बेटे **'घसीट खाँ'** इस घराने के दैदीप्यमान रत्न माने जाते थे, जिन्होंने अपने पिता से ध्रुपद, धमार और ख्याल तीनों की शिक्षा प्राप्त की किन्तु विशेषज्ञता इन्होंने होरी–धमार में हासिल की थी। घसीट खाँ का भारतवर्ष भर में बहुत नाम हुआ और यह एक चोटी के गायक माने जाते थे। संगीत के आम श्रोताओं से प्रशंसा पाना और बात है किन्तु गुणियों और उच्चकोटि के गायकों से मान्यता प्राप्त करना दूसरी बात है। जब कुछ माने हुये गायक किसी दूसरे कुशल गायक का गायन सुनकर आनंदित हो जाते हैं और उसकी कला के आगे अपना सिर झुका देते हैं तो उसको हम सच्ची और हार्दिक प्रशंसा मानते है। घसीट खाँ ऐसे ही बेजोड़ गायक थे। घसीट खाँ का जन्म 1800 में हुआ था। इनके घराने में ध्रुपद और होरी गाने की प्रथा पहले से चली आई थी। इन्होंने अपने पिता से इन शैलियों में ऊँचे दर्जे की शिक्षा प्राप्त कर लगातार अभ्यास द्वारा इनमें अनोखी प्रवीणता प्राप्त की। परन्तु विद्या की खोज में और अनुभव प्राप्त करने के लिये यह अपने घर से निकल पड़े और घूमते–घूमते लखनऊ पहुँचे जहाँ इन्होंने मशहूर गायक हैदरी खाँ की सेवा में उपस्थित होकर इनसे ध्रुपद तथा होरी का अधिक विस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार घसीट खाँ के व्यक्तित्व की अमिट छाप इस घराने पर पड़ी थी।

घसीट खाँ के छोटे भाई **छोटे खाँ** में भी असाधारण प्रतिभा थी और इनका भी बहुत नाम हुआ। इन्हें भी अपने बड़े भाई के साथ अपने पिता से ध्रुपद और धमार की

पूरी शिक्षा मिली थी और यह भी एक प्रवीण गायक थे। फतेहपुर सीकरी में एक और मशहूर गायक हुए हैं जिनका नाम **गुलाम रसूल खाँ** था। इनका जन्म मौला अली सुमरन नामक मशहूर गायक के वंश में हुआ था। इन्हें ध्रुपद, होरी और ख्याल इन सारी शैलियों की यथाक्रम शिक्षा मिली थी परन्तु यह बाहर नहीं जाते थे और अपने घर पर ही रहकर संगीत की शिक्षा लोगों को देते थे। फतेहपुर सीकरी के पुराने गायकों में एक **शाद खाँ** नाम के गायक भी हुये किन्तु यह अपने जीवन के अन्त तक आगरे में रहे इसके साथ–साथ यह शेख सलीम चिश्ती की दरगाह के मुख्य कव्वालों में भी नियुक्त थे। इसी घराने में **फिदा हुसैन** नाम के एक मशहूर गायक हुये जो ग्वालियर नरेश माधव राव सिंधिया के दरबार में नियुक्त हो गये थे।

फतेहपुर सीकरी के संगीतज्ञों का वर्णन करते समय आगरे के आस–पास के गायकों अथवा वादकों की उपेक्षा नहीं किया जा सकता। भरतपुर आगरे के पास ही है और यहाँ पर भी एक दो बड़े कुशल गायक हुये हैं, जिनमें से एक बड़े प्रसिद्ध गायक थे जिनका नाम **'मदारबख्श'** था। इसी ज़माने में भरतपुर में नदिया वाले घराने के **'केसर खाँ'** का भी नाम बहुत हुआ। इस घराने में **'घन्ने खाँ'** नाम के एक कुशल गायक हुये।

इस प्रकार फतेहपुर सीकरी का घराना आस–पास के घरानों से भी संबंधित रहा है जहाँ पर ध्रुपद परम्परा पल्लवित होती रही।

बनारस का बेतिया ध्रुपद घराना :

उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परम्परा स्वयं में इतनी समृद्ध है कि उसने न केवल संपूर्ण उत्तर प्रदेश वरन् अन्य प्रान्तों को भी प्रभावित किया, जिससे वहाँ भी उत्तर प्रदेश की संगीत परम्परा का प्रचार–प्रसार हुआ। इसी क्रम में हम देखते हैं कि बनारस की ध्रुपद संगीत परम्परा की एक शाखा पंव शिव दयाल मिश्र (बनारस निवासी) द्वारा **'बेतिया ध्रुपद घराना'** के रूप में स्थापित होकर सम्पूर्ण बंगाल प्रान्त तक में बनारस की

ध्रुपद गायकी को प्रचारित–प्रसारित करते हुए लोकप्रियता के शीर्ष पर विराजमान हुई, जिसे हम उत्तर प्रदेश की संगीत परम्परा के अन्तर्गत मान सकते हैं।

बनारस से संबंधित बेतिया ध्रुपद घराने के प्रमुख आधार स्तम्भ के रूप में साक्ष्यों के आधार पर सबसे पहला नाम पंव शिवदयाल मिश्र का मिलता है, जो मूलतः बनारस निवासी थे। आपके अन्य दो भाईयों का नाम पंव शिवराहुल मिश्र एवं पंव शिवशंकर मिश्र था। पंव शिवदयाल मिश्र को ध्रुपद की चारों बानियों पर विशेष अधिकार था। आपने प्रचलित, अप्रचलित रागों–तालों में असंख्य ध्रुपदों की रचना की। आप ध्रुपद की चारों बानी के अप्रतिम, रससिद्ध, विद्वान गायक, ध्रुपद बन्दिशों के प्रणेता एवं बेतिया ध्रुपद घराने के अनेक सुप्रसिद्ध विद्वानों के गुरू थे। अनेक मूर्धन्य रससिद्ध गायक आपकी ध्रुपद परम्परा में दीक्षित हुए। अनेक वर्षों तक नेपाल के शाही राजदरबार के राजगायक के रूप में रहने के बाद 1790 में आप नेपाल से बेतिया राजदरबार में कलावन्त होकर आये और मृत्युपर्यन्त यहीं रहकर दिवंगत हुये।

श्री शिवदयाल जी के प्रमुख शिष्यों में बेतिया नरेश राजा आनन्द किशोर, राजा नवल किशोर, तीनों पौत्र जयकरन मिश्र, शिव नारायण मिश्र, गुरू प्रसाद मिश्र, विश्वनाथ राव, सदाशिव राव भट्ट एवं बख्तावर जी की विलक्षण संगीत साधना एवं संगीत विद्वता से संगीत जगत सुपरिचित है। श्री गुरू प्रसाद मिश्र, श्री शिवनारायण मिश्र दोनों युगल भ्राता महाराज बेतिया के दरबारी कलारत्न थे। श्री गुरू प्रसाद मिश्र सन् 1880 ई० में कलकत्ता पहुँचे और राजा सौरीन्द्र मोहन ठाकुर के दरबारी कलावन्त नियुक्त हुये। कलकत्ता प्रवास काल में श्री विश्वनाथ राव भट्ट (विलक्षण ध्रुपद गायक), श्री गुरू प्रसाद मिश्र श्री शिवनारायण मिश्र के शिष्य हुये, जिन्हें प्रथमतः संगीत शिक्षा अपने पिता पं० सदाशिव राव भट्ट से मिली, जो पंव शिवदयाल मिश्र के शिष्य, विलक्षण गायक एवं बेतिया राजदरबार के दरबारी कलावंत थे। श्री विश्वनाथ राव अपने युग के मूर्धन्य गायक एवं ध्रुपद की चारों बानी के पारंगत विद्वान थे। 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में आप बंगाल प्रान्त की सुप्रसिद्ध संगीत रियासत–**नाटोर राजवंश** एवं अन्य

रियासतों में भी सादर अनेक वर्षों तक राजदरबार की शोभा बढ़ाते रहे। आपके प्रमुख शिष्यों में अमरनाथ भट्टाचार्या, डॉव अमियनाथ सान्याल, बेनी माधव जी, विनोद बिहारी बोस, विनोद मल्लिक, भोलानाथ पाठक 'गुरूजी', प्रोव प्रफुल्ल चन्द्र घोष, सतीश चन्द्र बागची, सतीश चन्द्र दत्ता (दानी बाबू), महाराज जोगेन्द्र नाथ राय, महाराज योगेन्द्र नाथ राय (नाटोर वंश) आदि सुप्रसिद्ध हुए।

सतीश चन्द्र दत्ता **(दानी बाबू)** बंगाल के सुमधुर कंठधनी गायक हुए। आजीवन संगीत के जिज्ञासु, ज्ञान पिपासु, प्रतिभावान, निर्धन, धनी सभी वर्ग के संगीत शिक्षार्थियों को आपने निःशुल्क संगीत विद्या का दान दिया, जिससे आप **'दानी बाबू'** उपनाम से अलंकृत हुए। आपके अनेक शिष्यों में–डॉ० दीना राय, डॉ० मिना पुरोहित, डॉ० माया राम का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है।

संपूर्ण बंगाल में बनारस की ध्रुपद गायन शैली के प्रचार–प्रसार में गुरू प्रसाद मिश्र–शिवनारायण मिश्र का अतुलनीय योगदान रहा। आप लोगों की शिष्य परम्परा में–आशुतोष चटर्जी, विनोद गोस्वामी, गोपेश्वर बनर्जी (विष्णुपुर), गुरूदास चटर्जी, कृष्ण चन्द्र डे, लक्ष्मी नारायण 'बाबाजी', जदुमनी देवी, राधिका प्रसाद गोस्वामी, 'राय–बहादुर' सुरेन्द्र नाथ मजूमदार, शशिभूषण डे, विश्वनाथ भट्ट आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। श्री बख्तावर जी अपने युग के रससिद्ध गायक, कंठधनी, ध्रुपद के अगाध विद्वान, बेतिया राजदरबार एवं काशी दरबार के सम्मानित राजगयक थे। पंव गुरू प्रसाद मिश्र–शिवनारायण मिश्र युगल भ्राता, प्रतिभासम्पन्न संगीत साधकों को आपने संगीत शिक्षा देने का सौभाग्य प्राप्त किया।[1]

इस प्रकार उत्तर प्रदेश की संगीत परम्परा ने बेतिया ध्रुपद घराने को समृद्धता प्रदान किया। जिससे उत्तर प्रदेश की संगीत नगरी काशी की ध्रुपद गायकी बंगाल में पल्लवित हुई।

---

[1] "Musicians of India past & present", writer -Amal Das Sharma, page no. 176-177, "Gharana of Hindustani Music & Genealogies,". Publisher-Naya Prakash, 206, Vihan Sarani-Calcutta

अब मैं कुछ ध्रुपद स्वरलिपि सहित प्रस्तुत कर रही हूँ–

ध्रुवपद :

राग-मियाँ मल्हार

ताल-चौताल
(विलम्बित)

स्थाई

सा			नी़	म		म		म			
रे	सा	—	सा	रे	प	प	ग॒	म	रे	—	सा
ज	ल	ऽ	ध	र	ऽ	आ	ऽ	ऽ	व	ऽ	त
0		3		4		x		0		2	
	सा					नि					
रे	नि़	सा	सा	—	सा	सा	नि॒ध़	नि	सा	—	सा
ज	ल	ऽ	भ	ऽ	रे	का	ऽऽ	रे	का	ऽ	रे
0		3		4		x		0		2	
			प़	ध़					म	म	म
रे	नि़	सा	नि़॒	नि॒	प़	सा	सा	सा	ग॒	ग॒	ग॒
धा	ऽ	ऽ	व	ऽ	न	ग	र	ज	ग	र	ज
0		3		4		x		0		2	
म	म		म			म	म				
ग॒	ग॒	ग॒	ग॒	म	प	प	ग॒	म	रे	—	सा
ब	र	स	ब	र	स	च	हूँ	ऽ	ओ	ऽ	र
0		3		4		x		0		2	

अंतरा

प											
म	प	निध	निध	नि	नि	सां	—	नि	सां	सां	सां
ढ	सों	ढिऽ	अऽ	त	र	फा	ऽ	न	त	र	फ
x		0		2		0		3		4	
सां									सां		
नि	सां	सां	रें	—	सां	सां	सां	सां	ध	नि	प
त	र	त	रा	ऽ	य	झ	र	झ	रा	ऽ	य
x		0		2		0		3		4	
				ध							
म	म	प	प	नि	ध	नि	सां	सां	रें	सां	सां
जि	त	ति	त	तें	ऽ	ढा	ढु	र	चा	त	क
x		0		2		0		3		4	
म	म										
प	ग	म	रे	—	सा						
मो	ऽ	र	शो	ऽ	र						
x		0		2							

संचारी

म	म	—	प	—	प	नि॒ध	नि॒ध	नि॒ध	नि॒ध	नि॒	प
धु	र	ऽ	बा	ऽ	धु	काऽ	ऽऽ	रऽ	देऽ	ऽ	त
x		0		2		0		3		4	

			प			प		म	म		
प	म	प	सां	—	सां	नि॒	प	प	ग॒	म	म
त	र	त	रा	ऽ	त	ध	र	ध	रा	ऽ	त
x		0		2		0		3		4	

म	म	म	म			म	म			सा	
ग॒	ग॒	ग॒	ग॒	म॑	प	ग॒	ग॒	म	रे	रे	सा
को	ऽ	य	ल	हू	ऽ	कू	ऽ	क	क	र	त
x		0		2		0		3		4	

			सा		सा	म	म				
सा	सा	सा	रे	रे	रे	ग॒	ग॒	म	रे	—	सा
बि	ज	लि	च	म	क	ठौ	ऽ	र	ठौ	ऽ	र
x		0		2		0		3		4	

आभोग

			ध						सां		
म	—	प	नि	ध	नि	सां	—	—	नि	सां	सां
पा	ऽ	ऽ	पी	ऽ	प	पी	ऽ	ऽ	हा	ऽ	र
x		0		2		0		3		4	
सां											
नि	सां	—	सांनि	रें	सां	रें	सां	सां	निध	नि	प
पी	हु	ऽ	पीऽ	ऽ	हु	र	ट	त	नाऽ	ऽ	हिं
x		0		2		0		3		4	
प		ध									
म	प	नि	ध	नि	सां	रें	नि	सां	नि	—	प
चिं	ऽ	ता	ऽ	म	नि	अ	नं	ग	रं	ऽ	ग
x		0		2		0		3		4	
म	म										
प	ग	म	रे	—	सा						
क	र	त	जो	ऽ	र						
x		0		2							

''क्रमिक पुस्तक मालिका''- पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे, भाग-4, पृ0 596,597,598

ध्रुपद
राग-भवसाख

ताल-चौताल

स्थाई

सां	—	प	नि	प	—	ग	—	प	ध	नि	सां
दे	ऽ	ख	री	ऽ	ऽ	आ	ऽ	ज	न	व	ऽ
x		0		2		0		3		4	
सां	—	ध	ध	नि	प	(म)ग	—	प	म	—	म
ना	ऽ	ऽ	ग	ऽ	री	भे	ऽ	ष	ध	ऽ	रि
x		0		2		0		3		4	
(म)ग	(म)ग	म	रे	—	सा	म	म	—	प	ग	—
ल	ली	ऽ	के	ऽ	छ	ल	न	ऽ	हि	त	ऽ
x		0		2		0		3		4	
नि	प	—	ग	—	प	ध	नि	रें	सां	ध	निसां
ल	ल	ऽ	न	ऽ	कै	से	ऽ	स	जे	ऽ	ऽ
x		0		2		0		3		4	

अंतरा

	ग										
नि	नि	प	प	—	प	सां	सां	—	नि	सां	सां
प	ह	ऽ	न	ऽ	भू	ष	न	ऽ	ब	म्र	न
x		0		2		0		3		4	
ध	ध	नि	नि	रें	सां	सां	सां	ध	ध	नि	प
छ	ग	ऽ	न	ऽ	क	ज	रा	ऽ	ढि	ऽ	यो
x		0		2		0		3		4	
म	म					म					
ग	ग	म	रे	—	सा	ग	—	ग	प	म	—
नि	र	ऽ	वि	ऽ	श्रृं	गा	ऽ	र	भू	र	ऽ
x		0		2		0		3		4	
			म								
नि	प	—	ग	ग	प	ध	नि	रें	सां	ध	निसां
ब	भू	ऽ	म	न	ऽ	में	ऽ	ल	जे	ऽ	ऽऽ
x		0		2		0		3		4	

"अभिनव गीतांजलि" - पं० रामाश्रय झा 'रामरंग', भाग -2, पृ० 79, 80

तृतीय अध्याय

सांगीतिक विरासत के रूप में धमार गायन शैली का स्थान व योगदान

सांगीतिक विरासत के रूप में धमार गायन शैली का स्थान व योगदान

उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को समृद्ध करने वाली गायन शैलियों में धमार का विशेष स्थान है। यह गान शैली मूलतः उत्तर प्रदेश की सांगीतिक विरासत से परिपूर्ण भूमि से ही संबंधित है, जिसमें ब्रज क्षेत्र की अद्वितीय भूमिका रही है। ब्रज भूमि और हिन्दुस्तानी संगीत का घनिष्ठ संबंध बहुत पुराना है। सोलहवीं शताब्दी के ध्रुपद युग से आधुनिक युग तक यह क्षेत्र हिन्दुस्तानी संगीत का क्षेत्र रहा है। यह संपर्क ऐतिहासिक है और इस बात पर किसी प्रकार की शंका नहीं की जा सकती। लगभग एक ही व्यापक और प्रतिभाशील काल के आस–पास अकबर, तुलसीदास, तानसेन, हरिदास स्वामी, सूरदास, अष्टछाप के कवि और ब्रजभाषा के और भी बहुत से कवि और संगीतज्ञों, विद्वानों और रसिकों का यहाँ पर साथ होता है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है।

मैं बात कर रही थी धमार गान शैली के विषय में जो कि ब्रजभूमि के ही वृन्दावन क्षेत्र की देन है, जिसके लिये संपूर्ण भारतीय संगीत समाज इस भूमि का आजीवन ऋणी रहेगा और जिसने उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा को गौरवान्वित करते हुये और भी समृद्ध बनाया। यह विद्या वहीं लोकप्रिय हुई और धीरे–धीरे पूरे भारतवर्ष में फैल गई। धमार की भाषा भी ब्रज मिश्रित हिन्दी होती है।

ब्रज क्षेत्र की होली प्राचीन काल से ही बहुत प्रसिद्ध रही है, जिसमें **'बरसाना'** क्षेत्र विशेष प्रसिद्ध है। होली के उमंग, रंगीन वातावरण, धमाल, कृष्ण के साथ गोपियाँ, नृत्य, गान, ढोल, डफ, अबीर गुलाल की रंगीनियत एवं बहार को इस शैली के वर्ण्य विषय के अन्तर्गत समेटने एवं प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया तत्पश्चात् लोक परंपरा से जुड़े इस शैली को संगीत का शास्त्रीय पुट देते हुये एवं पखावज पर धमार ताल की गूँज का मिश्रण करते हुये शास्त्रीय हिन्दुस्तानी संगीत के अन्तर्गत धमार गायन किया जाता है।

विशेषताएँ :

धमार एक विशेष गायन शैली है। धमार को ध्रुपद अंग की गायन शैली स्वीकार किया जाता है क्योंकि ध्रुपद के समान धमार लयकारी प्रधान शैली में गाया जाता है। धमार शैली को ध्रुपद गायक ही अधिकतर गाते हैं क्योंकि इसकी शैली ध्रुपद से काफी मिलती–जुलती है परन्तु फिर भी कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है। धमार शैली ध्रुपद की तुलना में कुछ हल्की परन्तु गंभीर गायकी है। धमार शैली में ध्रुपद की भाँति ही लयकारी अर्थात् दुगुन, तिगुन, आड़ आदि की जाती है और सरगम आदि भी ली जाती है परंतु धमार उतनी गंभीर व उतनी विलंबित लय में नहीं गाया जाता जितना कि ध्रुपद। परन्तु धमार शैली में भी राग की शुद्धता प्रधान रहती है और ध्रुपद के समान धमार गान शैली में भी बढ़त की जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि ध्रुपद गायन और धमार गायन में चोली–दामन का साथ है। इसका एक कारण यह भी है कि ध्रुपद में जो चार बानियाँ हैं उन्हीं बानियों का उल्लेख धमार में भी है। प्रसिद्ध विद्वान श्री बी०सी० देवा के अनुसार कुछ शताब्दियों पूर्व चार बानियाँ प्रचार में आई। जो प्रबन्ध अथवा संगीतकार पर आधारित थी। वे इस प्रकार हैं:–खंडार वाणी, नौहार वाणी, गोबरहार वाणी, डागुर वाणी।

ध्रुपद घरानों के अधिकांश गायकों को धमार का अभ्यास एवं उसकी आदत रही है। जिसमें उत्तर प्रदेश से संबंधित स्थानों एवं घरानों में सहारनपुर, रामपुर घराने के वजीर खाँ और उस्ताद अहमद अली खाँ, फतेहपुर सीकरी घराने के उस्ताद घसीट खाँ, छोटे खाँ, गुलाम रसूल खाँ आदि तथा वृन्दावन क्षेत्र का प्रमुख स्थान है। किन्तु ख्याल गायकों में इसका चलन बिल्कुल नहीं रहा है परन्तु उत्तर प्रदेश में ही ख्याल का एक ऐसा घराना है जहाँ धमार भी बहुत अच्छी गाई गई है और यह है आगरा घराना। उसका एक विशेष कारण है इस घराने के पूर्व पुरूष हाजी सुजान खाँ ने जो अकबर के युग में थे, धमार परंपरा को अपने घराने में स्थापित किया। प्राचीन घरानों की

ऐतिहासिक समीक्षा से पता चलता है कि हाजी सुजान खाँ आगरे घराने की इस प्राचीन परंपरा के अन्वेषक थे। इसलिये ध्रुपद–धमार परंपरा का खून इस घराने की रगों में बहुत समय से दौड़ता रहा है और यही कारण है कि ख्याल गायकों में केवल आगरे घराने के स्व० उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ ही ऐसे गायक थे, जो जितना सुन्दर आलापते थे उतनी ही सुंदर धमार भी गाते थे। कुछ लोगों का कहना है कि इस जमाने में ऐसे धमार किसी और गायक ने नहीं गाई।

धमार, लोकजीवन व वैष्णवों मन्दिरों के अतिरिक्त मुग़ल बादशाहों के दरबार व अन्तःपुर में भी गाये जाते थे। अकबर की राजधानी आगरा थी, जिस समय ध्रुपद शैली के नवीन रूप के माध्यम से प्राचीन भारतीय संगीत ने अपने आधुनिकतम रूप की चुनरी ओढ़नी प्रारंभ ही की थी, उस समय तानसेन उनके वंशजों और शिष्यों ने धमारों की भी रचना की, जो लोकगीत का एक विशेष प्रकार बनकर मुग़ल दरबार में प्रतिष्ठित हुआ, जिससे उत्तर प्रदेश में धमार गान शैली प्रचारित–प्रसारित होते हुए संपूर्ण उत्तर भारत को प्रभावित किया जिसमें पंजाब, हरियाणा का प्रमुख स्थान है जहाँ तलवण्डी घराना स्थापित हुआ। दरबार में धमार काफी प्रचलित था। दरबारी गायक, नायक की जगह अपने आश्रयदाता के नाम डाल दिया करते थे। जहाँगीर के अनुसार तानसेन अपनी रचनाओं में अकबर का नाम डाल दिया करते थे। उदाहरण यमन राग में एक धमार में मानिनी नायिका और इती का वर्णन इस प्रकार है, इती कहती है–

''होरी खेलई बनैगी, रूसैं अब न बनेगी।

मेरो कहो तू मानि नवैली, जब व रंग में सनैगी।।

कई बैरि आई-गई तू, नाहीं मानत ऊँची करि ठोड़ी, भौंहे तनैगी।

साहि जलालदीन फगुआ दीजै आपुतें आप मनैगी।।''

अर्थः

धमार नामक ताल में निबद्ध **'होरी'** नामक गीत को धमार कहते हैं। धमार के गीतों में कृष्ण–लीला का वर्णन होता है। धमार का मूल 'धम्माली' में है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख **'संगीत शिरोमणि'** में मिलता है। 'धमाल', धमार, 'धमारी' इन तीनों रूपों का एक ही मूल है। संस्कृत धातु, **'धम्'** का अर्थ सुलगाना, भड़काना, शब्द करना, जोर से फूँक मारना और बजाना है। इस शब्द की व्युत्पत्ति **'धम इव ऋच्छति'** (धम+कृ+अच्) से है जिसका अर्थ है–गान का वह प्रकार, जो प्रेरित करता हुआ अथवा फड़काता हुआ सा चले। धमार में कृष्ण के साथ गोपिकाओं, सखागण, नृत्य, गान, ढोल, डफ, मजीरा, मृदंग, वंशी, अबीर गुलाल की बहार, रंग भरी पिचकारी आदि का वर्णन होता है जो होरी का शाब्दिक चित्र प्रस्तुत कर देता है। जनसाधारण में यह होली **'धमार'** नाम से प्रचलित है। मन्दिर में वैष्णव संतों द्वारा रचित पद 'धमार' कहलाते हैं जो धमार ताल में बद्ध होते हैं। इन धमारों की संगति के लिये पखावज का प्रयोग किया जाता है और कई कीर्तनकार एक साथ स्वयं झांस बजाकर 'धमार' गाते हैं। अकबरी दरबार के प्रसिद्ध इतिहासकार अबुल फ़ज़ल ने **'आइने अकबरी'** में 'धमार' गाने वाले संगीतजीवी कीर्तनिया ब्राह्मणों की चर्चा की है। इनका प्रमुख वाद्य रबाब, पखावज और झांस था। मुगल दरबार में 'बीन' का संगति के रूप में प्रमुख स्थान था, जो कि वीणा के स्थान पर आया था। दरबारों में धमारों की संगति **'बीन'** और 'पखावज' से होती थी।

धमार एक प्राचीन गायन विधा है जो लोकसंगीत में सामूहिक गान था और टोलियों में गाया जाता था। होली खेलती हुई टोलियाँ धमार गाती थी और उनकी संगति ढोल द्वारा होती थी। इसका विषय होली से ही संबंधित होता था। कृष्ण और गोपियों के द्वारा होली खेलने का चित्रण धमार में उपस्थित होता था। वैसे तो धमार ताल में निबद्ध 'होरी' नामक गीत को 'धमार' कहते हैं, किन्तु संगीतज्ञों ने इन दोनों में

थोड़ा अन्तर बताया है। उनके अनुसार धमार विधा केवल धमार ताल में गाई जाती है। जबकि 'होरी' धमार ताल की अपेक्षा दीपचन्दी, चाँचर, तीनताल में गाई जाती है और जो ठुमरी व ख्याल शैली से गाई जाती है। होरी कोटि में होली के प्रसंग युक्त गीत ही होते हैं। होरी–धमार की रचनाएँ बड़ी सुंदर होती हैं। होली, फाग और रंग पर ही अधिकतर रचनाएँ लिखी गई हैं। मगर प्रेम, विरह, मिलन, रूठना, मनाना इत्यादि विषयों पर भी बहुत सी रचनाएँ हैं। धमार का उद्देश्य गंभीरता से हटकर रंगीन वातावरण उत्पन्न करना है अतः इनमें सभी रसों की कविताएं नहीं होती अधिकतर श्रृंगार का है रंगीन वर्णन होता है। दृष्टव्य–

कैसे खेलत फाग हो तुम ढीठ लगन हम सन।

बाँह पकरि मेरो तन झकझोरत, बोरत अबीर गुलालन।।

कुशल और भावुक गायक धमार की रोचक कविता के शब्दों का उच्चारण बड़े उत्तम ढंग से करता है और ताल के मुश्किल से मुश्किल दर्जे दिखाकर सम पर बड़े अचानक ढंग से आता है तथा अपने गायन में अपने शब्दों के साथ ताल की कठिन बोलबाँट भी दिखा सकता है अर्थात् अच्छा गायक मात्रा प्रस्तार का आशय लेकर लय के असंख्य और विविध झूलों से झूलता एवं श्रोताओं को झुलाता है। पखावज वादक इस क्रिया में उनका साथ देते हैं। इसके अतिरिक्त धमार में उपज का अत्यधिक काम होता है। उपज का अर्थ है नवीन उद्भावना, जो स्वर और शब्द के संयोग से की जाती है। जैसे–बोलतान आदि । धमार दो प्रकार के होते हैं–

1. प्रकाश - जिनका सम एक स्पष्ट स्थान पर होता था।

2. गुप्त - जिनका सम गुप्त होता था और आरम्भ में प्रथम पंक्ति को तीन बाहर गाने के बाद अन्तिम बार में स्पष्ट होता था।

प्रायः 'प्रकाश' ढंग के ही धमार गाये जाते रहे हैं। वर्तमान धमार ताल में 3-4-3-4 के खंडों तथा होरी, रास के श्रृंगारिक पद होने के कारण इनमें ध्रुपद से कम गंभीरता होती है लेकिन लोक परंपरा में होली पर नृत्य और पखावज संगति, वातावरण में

अनोखा माधुर्य उत्पन्न कर देता है।

इस प्रकार उपरोक्त विशेषताओं से परिपूर्ण धमार नामक रंगीली गान शैली उत्तर प्रदेश से आर्विभूत होकर यहाँ की सांगीतिक विरासत, परंपरा को समृद्ध बनाती है। किन्तु वर्तमान समय में यदि हम इस गान शैली की स्थिति पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि केवल उत्तर प्रदेश में ही नहीं वरन् संपूर्ण उत्तर भारत में धमार शैली के प्रचार में ह्रास, कमी दिखाई दे रही है। जैसा कि हम जानते हैं कि आज काफी हद तक हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत शिक्षण संस्थाओं पर निर्भर हो गई है। यहाँ पर जो इस ह्रास का प्रमुख कारण दिखाई देता है, वह इस प्रकार है–

आलाप और ध्रुपद गान की तरह धमार गायन शैली का भी विशेष स्थान हमारे आधुनिक संगीत में है किन्तु आजकल ख्याल की लोकप्रियता के कारण अब कॉलेज तथा विश्वविद्यालयों में सारा पाठ्यक्रम ख्याल पर ही आधारित होता है। मात्र शैली का परिचय देने के लिये ध्रुपद–धमार सिखाये जाते हैं व परीक्षाओं में पूछे भी जाते हैं। अतः धमार गायन, परीक्षा कक्ष में ही सीमाबद्ध होकर रह गया है। धमार गायन में ताल के विलक्षण चमत्कार दिखाये जाते हैं। ध्रुपद के साथ की बारह मात्रा की चौताल फिर भी आसान है और विद्यार्थी उसमें दुगुन, तिगुन, चौगुन इत्यादि आसानी से कर लेते है। मगर धमार ताल एक मुश्किल ताल हो जाती है जिसके ऊपर अधिकार आसान नहीं है क्योंकि आजकल की संगीत शिक्षण संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयीन स्तर पर संगीत शिक्षण हेतु इतना सीमित समय होता है जिनमें विद्यार्थियों को इन बातों का भली–भाँति अभ्यास नहीं कराया जा सकता जिससे कि वे धमार गायन में ताल के विलक्षण चमत्कार दिखा सके। जिसके फलस्वरूप ध्रुपद की तरह इस शैली के प्रचार में भी शनैः–शनैः ह्रास हो रहा है।

अब मैं उदाहरणार्थ कुछ धमारों की स्वरलिपि प्रस्तुत कर रही हूँ–

होरी

राग कालिंगड़ा

दीपचंदी (विलंबित)

स्थायी

प										सा			
ग	म	—	ग	—	—	रे	सा	—	रे	नी	—	सा	रे
को	ऽ	ऽ	न	ऽ	ऽ	खे	ले	ऽ	ऽ	तु	ऽ	म्सें	ऽ
x			2				0			3			
ग	—	—	म	—	—	धप	(म)	—	—	ग	रे	ग	—
हो	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	कऽ	न्है	ऽ	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			
										सा			
(म)	—	—	ग	—	म	रे	सा	—	रे	नी	—	सा	रे
को	ऽ	ऽ	न	ऽ	ऽ	खे	ले	ऽ	ऽ	तु	ऽ	म्सें	ऽ
X			2				0			3			
ग	—	—	म	—	नी	धप	(म)	—	—	ग	रे	ग	—
हो	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	कऽ	न्है	ऽ	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			
सां							नी						
नी	—	—	सां	—	—	रें	सां	नी	—	ध	—	प	—
बा	ऽ	ऽ	र	ऽ	ऽ	बा	ऽ	र	ऽ	मो	ऽ	को	ऽ
X			2				0			3			
प										ग			
ध	सां	—	ध	प	ध	म	धध	पम	प	म	रे	ग	—
रा	ऽ	ऽ	म	ऽ	ऽ	ढु	वैऽ	ऽऽ	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			
पग	मग	म	ग	—	—	रे							
काऽ	ऽऽ	ऽ	न	ऽ	ऽ	खे							
X			2										

अन्तरा

ग													
म	म	—	म	—	ग	म	प	प	—	प	—	—	—
बिं	द	ऽ	रा	ऽ	ऽ	ऽ	ब	न	ऽ	में	ऽ	ऽ	ऽ
x			2				0			3			
						ध	नी						
ध	—	—	ध	—	—	सां	ध	ध	—	प	—	—	ध
खे	ऽ	ऽ	ले	ऽ	ऽ	के	स	रि	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			
ग	म												
म	धप	—	म	—	ग	म	प	प	—	प	—	—	—
बिं	दऽ	ऽ	रा	ऽ	ऽ	ऽ	ब	न	ऽ	में	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			
			सं				नी	ध					
ध	—	—	नी	—	सां	रें	ध	सां	नी	ध	—	प	—
खे	ऽ	ऽ	ले	ऽ	ऽ	के	सा	रि	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			
प						ग							
ग	म	—	म	—	—	म	गम	पध	प	म	—	ग	—
अ	बी	ऽ	र	ऽ	ऽ	गु	लाऽ	ऽऽ	ऽ	ल	ऽ	की	ऽ
X			2				0			3			
प													
ध	सां	—	ध	प	ध	म	धध	पम	प	म	ग	रे	ग
धू	ऽ	ऽ	म	ऽ	ऽ	म	चैऽ	ऽऽ	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			

"क्रमिक पुस्तक मालिका"– पं० विष्णुनारायण भातखंडे, भाग–3

चतुर्थ अध्याय

सर्वाधिक प्रचलित गान शैली के रूप में ख्याल का विकास व प्रचार

(स) ख्याल का अर्थ, उद्भव एवं विकास, घरानों के रूप में ख्याल शैली का विकास

(रे) ख्याल गायन के विविध घराने एवं उनके कलाकार, उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में

सर्वाधिक प्रचलित गायन शैली के रूप में ख्याल का विकास व प्रचार

आज, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का पर्याय बन चुकी ख्याल गायन शैली की उत्पत्ति, उद्भव, विकास तथा परंपरा को पुष्पित, पल्लवित, विकसित करने में उत्तर प्रदेश की अग्रणी भूमिका रही है क्योंकि उत्तर प्रदेश के बहुत से बड़े–बड़े शहरों के साथ–साथ छोटे–छोटे शहर भी संगीत व घरानेदार संगीतज्ञों से संबंधित रहे हैं। उत्तर प्रदेश ने हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत को ख्याल गायन शैली के विविध घराने तथा संगीत जगत को कई जाज्वल्यमान सितारे दिये हैं जिनकी रोशनी, परंपरा के रूप में दिन– प्रतिदिन फैल रही है। जैसा कि उपरोक्त वर्णित है कि उत्तर–प्रदेश में ख्याल शैली के कई घरानों का जन्म हुआ जैसे–किराना घराना, आगरा घराना, खुर्जा घराना, सिकन्दराबाद का रंगीला घराना, मथुरा का घराना, सहसवान का घराना, रामपुर घराना, अतरौली का घराना आदि। यहाँ पर मैं बताना चाहूँगी कि अतरौली घराना, जिससे उस्ताद अल्लादिया खाँ साहब का संबंध था, जिन्होंने बाद में जयपुर में रहकर एक विशेष प्रकार की गान शैली को विकसित किया जो **'जयपुर घराना'** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि जयपुर घराने की पृष्ठभूमि में भी उत्तर प्रदेश का योगदान रहा है जिसके लिये आज भी जयपुर घराना उत्तर प्रदेश की पावन भूमि का ऋणी है। इसके अतिरिक्त लखनऊ तथा वाराणसी जैसे प्रमुख सांगीतिक केन्द्र उत्तर प्रदेश की भूमि पर पनपे। जिनकी विस्तृत चर्चा मैं आगे करूँगी।

प्रश्न उठता है कि क्या हम ध्रुपद और ख्याल ऐसी प्राचीन शैलियों को बिना परंपरा की पृष्ठभूमि जाने हुये ठीक–ठीक जान सकते हैं? उनका ऐतिहासिक और परंपरागत विकास जानना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। व्यवहारिक संगीत के क्षेत्र में परंपरागत संगीत का क्या विशेष प्रभाव इन शैलियों पर पड़ा है, इसे भी हम तभी जान सकते हैं जब हम इनकी परंपरा के ऐतिहासिक क्रम को भी ठीक–ठीक समझे।

सदारंग और अदारंग की ख्याल परंपरा को ठीक–ठीक जानकर ही हम ख्याल, ऐसी शैली की विलक्षण विविधता का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इससे संबंधित जो मशहूर ख्याल गायकों का संगीत रहा है उसका और परंपरा का भी चोली–दामन का साथ रहा है क्योंकि संगीत की परंपरा में ही संगीत के उत्तम संस्कार छिपे होते हैं। प्राचीन हिन्दुस्तानी संगीत के संस्कार जहाँ–जहाँ सुरक्षित दिखाई देते हैं वहाँ **'परंपरा'** ही उन्हें सुरक्षित रखती है और उन्हें प्रकाशित करती है। प्रगतिशील कला के कुछ आधुनिक समर्थक और उसकी व्याख्या करने वाले परंपरा और परंपरावाद का विरोध करते हैं और प्रायः उनका मिथ्यानिरूपण भी करते हैं। परन्तु जहाँ तक हिन्दुस्तानी संगीत का संबंध है हम परंपरा का परित्याग नहीं कर सके। हिन्दुस्तानी संगीत की परंपरागत व्याख्या परंपरा के ही माध्यम से होती है। संगीत की आत्मा और उसके पुनीत संस्कार भी इसी परंपरा के अर्न्तगत है, वह उसमें अर्न्तनिहित है। संगीत की परंपरा में उसकी अमर आत्मा छिपी है। वह प्राचीन हिन्दुस्तानी संगीत के प्रति एक तरह की पुनीत भावना है। उसी के द्वारा हमें प्राचीन संगीत का सच्चा दर्शन हो सकता है। इस कला का यथार्थ मूल्य जानने के लिये परंपरावाद का सहारा लेना अत्यंत अनिवार्य है। कला के अतीत को भुलाने से हम उसकी सार्थकता को नहीं समझ सकते। वृक्ष की मजबूत जड़ों पर ही वृक्ष खड़ा रह सकता है और जिस मिट्टी में एक पौधा अथवा वृक्ष उगता है वह उसके पुष्पों और फलों के सौन्दर्य और उसकी मिठास को भी निर्धारित करती है। क्या हम संगीत की अमर आत्मा को संगीत की परंपरा के बिना पहचान सकते हैं?

जिस हिन्दुस्तानी संगीत की हम चर्चा करते हैं वह एक प्राचीन कला रही है जिसको कई सदियों ने सजाया और सँवारा है हम उसके परंपरागत रूप को न जाने हुये उसके बारे में कोई सही ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते और न उसकी आत्मा को ही पहचान सकते हैं। सदियों पुराना व्यवहारिक संगीत अपनी परंपरा से अलग नहीं किया

जा सकता और न हम उसके परंपरागत शाश्वत मूल्यों का ही परित्याग कर सकते हैं। परंपरा तो उसकी रग–रग में समाई हुई है और वह उसकी अदृश्य आत्मा है।

उत्तर प्रदेश में ख्याल गायन शैली के क्षेत्र में मुख्य रूप से '**सदारंग-अदारंग परंपरा**' का प्रचार हुआ है जो अप्रत्यक्षतः '**रामपुर घराना**' से सम्बद्ध माना जाता है। वर्तमान में श्रीमती सुलोचना बृहस्पति तथा उनके शिष्य–प्रशिष्य इस परंपरा का कुशलतापूर्वक निर्वहन कर रहे हैं। अब मैं उत्तर प्रदेश की मुख्य सांगीतिक शैली ख्याल के विभिन्न पक्षों व उसके बारे में चर्चा करूँगी–

अर्थ :

भाषा के विचार से **ख्याल** शब्द के अनेक अर्थ हैं। यह अरबी और फ़ारसी भाषा का शब्द माना गया है। अनेक शब्दकोषों से प्राप्त ख़्याल, ख़याल या ख्याल शब्द का अर्थ मुख्य रूप से विचार, ध्यान, कल्पना, एकाग्रता, अनुमान, स्मृति आदि से संबंधित है। सूक्ष्मतः यदि इन सभी शब्दों का अवलोकन किया जाय तो ये मस्तिष्क से उत्पन्न कल्पनाशक्ति व विचारशक्ति से संबंध रखते हैं और इस प्रकार ख्याल का स्थूल अर्थ **कल्पना** ही कहा जा सकता है। ख्याल शब्द के अर्थ पर विचार करते हुये आचार्य बृहस्पति ने 'कल्पना' तथा तत्संबंधी अन्य अनेक अर्थों का उल्लेख निम्नलिखित रूप से किया है– "ख्याल' शब्द का अर्थ 'विचार' या 'कल्पना' है। ख्याल शब्द 'ध्यान' का अनुवाद है। राजस्थान में कवि कल्पना अथवा ऐतिहासिक घटना के आधार पर बनाये हुये चित्र ख्याल कहलाते हैं। चंग बजाकर लावनी गाने वाले लोग उन गीतों को ख्याल कहते हैं जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन होता है। शाह बुरहानुद्दीन जानम (16वीं शती का उत्तरार्द्ध) जैसे प्रसिद्ध सूफ़ियों की ऐसी रचनाएँ 'ख्याल' कही गई है, जिनमें 'प्रेम की पीर' का चित्रण है।"[1]

---

1. आचार्य कैलाश चन्द्र बृहस्पति–मुसलमान और भारतीय संगीत, पृष्ठ–112

संगीत कला के सन्दर्भ में प्रयुक्त अर्थ को देखें तो ख्याल अपने विभिन्न अर्थों में संगीत कला से गहरा संबंध रखते हैं। संगीत की किसी भी शैली में, चाहे वह शास्त्रीय संगीत हो या उपशास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत हो या फिल्म संगीत– कल्पना, भावना, ध्यान, अनुमान, अनुभव आदि शब्द महत्वपूर्ण होते हैं। जब कोई गायक गाता है या वादक बजाता है तो उसका अपनत्व उसमें सम्मिलित हो जाता है जिससे हमें वो कला जीवित प्रतीत होती है। कलाकार का यह अपनत्व उसमें सम्मिलित हो, इसके लिये आवश्यक है कि उसकी कल्पनाशक्ति व सोच–विचार की शक्ति तीव्र हो, भावनापूर्ण हृदय व एकाग्रचित होने की क्षमता हो, इसके अतिरिक्त सहृदय और दूरदर्शी होना भी आवश्यक है। संगीत में राग का उद्देश्य ही 'कल्पना' द्वारा रसनिर्माण करना है, संगीतात्मक आनंद और निर्माणक्षमता कल्पनाशक्ति की ही देन है।

'कल्पना'– ये शब्द विशेषतः ख्याल शैली में बहुत महत्व रखता है। नई–नई कल्पनाएँ न सूझने पर या नये स्वर समुदाय या स्वर संयोजना न करने पर गायन यान्त्रिक हो जाता है। केवल गणित के आधार पर तान, आलाप, बोलतान आदि के गायन से ही ख्याल गायकी नहीं बनती। अपनी कल्पना के माध्यम से राग के विभिन्न अंगों को कलात्मकता से प्रस्तुत किया जा सके तभी कल्पना और भावना मिलकर श्रोता व स्वयं गायक को भी आत्मिक आनंद की अनुभूति कराते हैं। राग को ही नियमबद्ध रखते हुये भी स्वतंत्र गायन करने के लिये 'कल्पना ही महत्वपूर्ण कार्य करती है और सदैव नवीनता का आभास कराती रहती है। इस प्रकार कल्पना राग विस्तार में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है और 'ख्याल' के एक महत्वपूर्ण अर्थ के रूप में कार्य करती है। ख्याल गायन शैली में नियमबद्धता होते हुये भी कल्पनाशक्ति के माध्यम से स्वरों को अनेक प्रकार से प्रयोग में लाने की इतनी स्वतन्त्रता रहती है कि यदि इसका उचित लाभ उठाया जाय तो गायन में सौन्दर्यशास्त्र के सभी तत्व जैसे सम्मात्रा (Symmetry), सुव्यवस्था (Order), विविधता (Variety), एकरूपता (Uniformity), औचित्य (Propriety), जटिलता (Intricacy), संगति (Harmony), प्रमाणबद्धता (Proportion), संयम

(Modration), व्यंजना (Suggestion), स्पष्टता (Simplicity), मसृणता (Smoothness), कोमलता (Tenderness) आदि विद्यमान रह सकते हैं। उपर्युक्त विवचेन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ख्याल शैली का गायन, विस्तार आदि ख्याल के कल्पना अर्थ को जिससे विचार, ध्यान, भावना, अनुमान आदि शब्द अप्रत्यक्ष रूप से संबन्धित है सार्थक करता है क्योंकि इसमें राग नियमों को व संगीत के मुख्य नियमों को ध्यान में रखते हुए कलाकार अपने ख्यालों अर्थात् कल्पनाओं को श्रोताओं के समक्ष सुन्दर रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है और इसलिये ये कहा जा सकता है कि केवल कल्पना या ख्याल पर ही यह शैली आधारित है, ऐसा कहना सम्भवतः अनुचित भी नहीं होगा। यद्यपि अन्य गायन शैलियों में भी कल्पना महत्व रखती है परन्तु फिर भी ताल का, लयकारी का, किन्हीं विशेष गमकों के प्रयोग पर बन्धन होने के कारण कलाकार को पर्याप्त सीमित रहना पड़ता है जबकि ख्याल शैली इन बन्धनों से परे है।

उद्भव, उद्गम एवं विकास :

ख्याल गायन शैली के आर्विभाव के संबंध में अनेक विद्वानों के अनेक मत है। ऐसा समझा जाता है कि पहले छन्द, प्रबंध, ध्रुपद व क़व्वाली आदि गायन प्रकार प्रचलित थे और इन्हीं का प्रभाव ख्याल पर पड़ा अथवा कह सकते है कि उनके प्रभाव से ख्याल की उत्पत्ति हुई। कुछ विद्वान ख्याल की उत्पत्ति ध्रुपद से, कुछ ध्रुपद तथा क़व्वाली से व कुछ साधारणी गीति को इसका जन्मदाता मानते हैं। इस प्रकार कई मत सामने आते हैं किन्तु उन सब पर विचार करने के पश्चात् ही हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। "कुछ विद्वानों के मतानुसार 14वीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत में ईरानी संगीत का मिश्रण करके अपनी कल्पना से ख्याल शैली का आविष्कार किया।"[1] एक विद्वान का कहना है कि छः-सात सौ वर्ष पूर्व संगीत की दो शैलियाँ प्रबन्ध व रूपक के नाम से प्रचलित थीं। प्रबन्ध में रचना के साहित्यिक अंग पर

1. नन्दराम चतुर्वेदी–"भारत में संगीत शिक्षा"।

तथा स्वरों के लगाव आदि पर अधिक ध्यान दिया जाता था। इसी कारण नियमों के बन्धन भी अधिक थे। यह शैली बाद में ध्रुपद के रूप में सामने आई। रूपक में भावों को प्रकट करना ही विशेष अर्थ रखता था। इसकी पूर्ति हेतु गायक जो भी स्वर, लय या गमक आदि प्रयुक्त करना चाहता था अपनी कल्पना के आधार पर भावों के अनुसार प्रयुक्त कर सकता था। यही शैली आगे चलकर ख्याल के रूप में सामने आई। इनके अनुसार इस गायन शैली के ख्याल संज्ञा अमीर खुसरों ने दी।[1] ऐसा भी कहा जाता है कि विलम्बित ख्याल का आविष्कार उत्तर प्रदेश में **जौनपुर** के सुल्तान हुसैन शर्की द्वारा 15वीं शताब्दी में हुआ और द्रुत ख्याल का चलन अमीर खुसरो द्वारा आविष्कृत क़व्वाली गायन शैली से हुआ।[2] अमीर खुसरो को ख्याल का आविष्कारक मानने के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से मत हैं जिनमें से एक मत ये भी है कि ख्याल के आविष्कारक जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की थे। ख्याल का आविष्कार तो 15वीं शताब्दी में हुआ परन्तु इसका प्रचार 18वीं शताब्दी में सदारंग तथा अदारंग द्वारा ही पूर्णरूप से हुआ। इस प्रकार अमीर खुसरो, सुल्तान हुसैन शर्की, व सदारंग–अदारंग के नाम ख्याल शैली के उद्गम की चर्चा में सामने आते हैं।

श्री प्रभु दयाल मीतल ने ख्याल की तुलना एक वृक्ष से करते हुये कहा है कि– "ख्याल शैली का बीजारोपण तो अमीर खुसरो के समय हो गया था परन्तु उसका अंकुर जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की के समय निकला और मुग़ल सम्राट मुहम्मद शाह रंगीले के समय में उसने लहलहाते हुये वृक्ष का रूप धारण कर लिया।"[3] एक और विद्वान के मतानुसार ख्याल, ध्रुपद तथा क़व्वाली का साम्मिलित रूप है, इसमें **'स्थाई और अन्तरा'** ध्रुपद से लिये गये तथा **'तान'** क़व्वाली से ली गई थी। इसकी विषय वस्तु इस्लाम से संबंधित होती थी और जिन तालों में ये ख्याल निबद्ध होते थे वे फ़ारसी छन्दों पर आधारित थी। अल्लाह आदि से संबंधित विषय वाली रचनाएँ जो

---

1. डॉ० समर बहादुर सिंह–"ख्याली दुनिया की उपज ख्याल"
2. हरिप्रसाद नायक अंशुमाली – "भारतीय संगीत की ऐतिहासिक परंपरा"
3. ब्रज की कलाओं का इतिहास

क़व्वालों द्वारा गाई जाती थी परन्तु सूफ़ी लोग क्योंकि लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम का साधन मानते हैं इसी से श्रृंगार रस की रचनाएँ भी ख्याल में होने लगी और फिर नायिका भेद को भी इसमें स्थान मिल गया। मुहम्मद शाह रंगीले के समय में ख्याल इतना प्रचलित हो गया था कि वह शास्त्रीय संगीत का ही दूसरा रूप समझा जाने लगा। ख्याल में ध्रुपद की कुछ विशेषताएँ उपस्थित होने के कारण वह 'बंडा' या 'लंगड़ा' ध्रुपद भी कहलाता था। इस प्रकार इसका उद्गम ध्रुपद व क़व्वाली के मेल से माना जा सकता है और यह मेल सूफ़ी प्रभाव का परिणाम था।[1] पं० भातखंडे जी का इन सबसे भिन्न मत है। उनका कहना है कि यह मानना ठीक नहीं है कि किसी एक व्यक्ति ने ख्याल का आविष्कार करके उसका प्रचार किया बल्कि यह हो सकता है कि इस प्रकार का गाना तो समाज में था परंतु सामान्य न था फिर सुल्तान हुसैन शर्की को वह गायन अच्छा लगा और उन्होंने प्रचार में लाने का प्रयास किया।[2]

इस प्रकार ख्याल के उद्गम के संबंध में विभिन्न मत हमारे सम्मुख आते हैं किन्तु उपरोक्त मतों का विश्लेषण करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि–ये एक अटूट सत्य है कि मनुष्य का स्वभाव परिवर्तनशील है। वह एक के पश्चात् दूसरी नई चीज देखना, सुनना अथवा अनुभव करना चाहता है और फलस्वरूप, संगीत की गायन शैलियों में जो परिवर्तन आते गये वह मुनष्य के परिवर्तशील स्वभाव का ही परिणाम था, ऐसा मानना अनुचित न होगा अर्थात् ख्याल शैली का उद्गम किसी एक व्यक्ति विशेष के द्वारा अचानक नहीं हुआ अपितु यह परिवर्तशीलता और विकासक्रम का परिणाम है। विकासक्रम का आधार परिवर्तन होता है, इन सबके साथ यह भी निश्चित है कि परिवर्तन किसी एक मनुष्य के प्रयत्नों से नहीं होता बल्कि वह धीरे–धीरे पहले स्वाभाविक रूप से होता है और जब उसका रूप कुछ बदल जाता है तब शास्त्रकार आदि उसे नियमानुसार एक विशेष रूप को वास्तविक रूप मानकर ग्रहण करते हैं। कुछ समय पश्चात् जब वे स्वयं उस शैली में नये प्रयोग करना आरंभ करती

1. आचार्य बृहस्पति–'मुसलमान और भारतीय संगीत'
2. भातखंडे संगीत शास्त्र।

है तो फिर से परिवर्तन होना आरंभ होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उपरोक्त विचारधारा के आधार पर हम यह मान सकते हैं कि 'ख्याल' किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं है बल्कि किसी प्राचीन शैली अथवा शैलियों का परिवर्तित या विकसित रूप है। केवल गायन ही नहीं अपितु उसके पहले की जितनी भी गायन शैलियाँ है जैसे ध्रुपद, प्रबंध, गीति, जाति आदि यहाँ तक कि स्वर की संख्या भी इसी प्रकार धीरे-धीरे क्रमिक रूप से विकसित हुई है।

अब सर्वप्रथम ये विचार करने योग्य है कि क्या प्राचीन गेय शैलियों में कोई ऐसी शैली है जिसमें ख्याल शैली से कुछ साम्यता दिखाई देती हो। शास्त्रीयता की दृष्टि से देखें तो इसके लिये हमें गीतियों की ओर ध्यान देना होगा जो दो प्रकार की थी- पदाश्रिता और स्वराश्रिता। पदाश्रिता गीतियों में गीत के चार अंगों स्वर, पद, ताल व मार्ग में से पद प्रधान रहता था। इसमें शब्द अथवा शब्द खंडों को लय प्रधान रूप में प्रस्तुत किया जाता था। स्वराश्रिता गीतियों में स्वरों के विभिन्न प्रयोग महत्वपूर्ण थे। किन्तु साधारणी गीति ऐसी थी जिसमें सब गीतियों की विशेषताएँ समाहित थी इसलिये इसमें सीधी-सरल, कोमल-मधुर ध्वनियों का प्रयोग, मधुर गमकों के साथ वक्रगति में स्वरों का प्रयोग, नियमित कंपन के साथ तीनों सप्तकों में विस्तार आदि सब सम्मिलित था। आधुनिक समय की प्रचलित ख्याल में भी हर प्रकार की गमक, खटका, मुर्की, वक्रस्वर, कंपन, तीनों सप्तकों का प्रयोग, आंदोलन आदि सबका प्रयोग होता है। जिस प्रकार साधारणी गीति में राग की स्वर रचना के अर्न्तगत अन्य गीतियों शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, बेसरा के गुण मिलते थे, उसी प्रकार आज ख्याल गायन शैली में ध्रुपद, धमार, टप्पा, ठुमरी आदि अन्य गायन शैलियों की गायकी के गुण मिलते हैं। अतः ये ही मार्गदर्शक सूत्र हमें आज की ख्याल शैली व प्राचीन कालीन साधारणी गीति में दिखाई देता है। इसी प्रकार प्रतिग्रहणिका के पश्चात् रूपक के पकड़ रूप अवयव को पुनः ग्रहण करना, स्थायभंजनी आदि विशेषताओं से युक्त रूपकालप्ति गायन से आधुनिक ख्याल शैली अपनी प्रस्तार विधा के रूप में कुछ साम्यता रखती दिखाई देती है।

रूपकालप्ति व साधारणी गीति से ख्याल का ताल–मेल पूर्ण रूप से ठीक बैठता है इसलिये उसको हम ख्याल का आधार मान सकते हैं। प्रबन्ध व ध्रुपद आदि प्रधान शैलियों की छाया में गौण रूप से विकसित होने के कारण उनका प्रभाव भी इस शैली पर पड़ा। साथ ही साथ क़व्वाली गायकों द्वारा ख्याल गाये जाने के कारण यह शैली निःसंदेह रूप से क़व्वाली शैली से भी प्रभावित रही। लोक परंपरा की छाप के कारण प्रसंगों की विविधता से इसे जनमानस में लोकप्रियता मिली व संगीत का मनोरंजन पक्ष प्रबल हो गया। संगीतोपासना करने वाले संगीतज्ञों को स्वरप्रधान शैली होने के कारण स्वर की गंभीरता व गहनता के साथ संगीत साधना करने का अवसर मिला। गायन स्वतंत्रता अधिक होने के कारण स्वर–सौन्दर्य को तथा भावाभिव्यक्ति प्रधान होने के कारण बंदिश को तथा उससे अधिक बंदिश की की स्वर संरचना (Tonal Structure) के विस्तार को महत्व मिला।

मुसलमान जब भारत में आये तो उनके साथ क़व्वाली का भी भारत में प्रचलन हो गया। इसी समय में मुसलमान गायकों ने रूपकालप्ति पर आधारित गायकी के भावनात्मक स्वरूप को देखकर उसके आधार पर अल्लाह, रसूल, पीर आदि के ध्यान वाली विषय–वस्तु युक्त रचनाएँ की हो और उन्हीं रचनाओं को फ़ारसी नाम 'ख्याल' दे दिया हो क्योंकि फ़ारसी में ख्याल का अर्थ है–'ध्यान' परंतु यह संभव है कि उस समय के छोटे–छोटे अप्रसिद्ध गायकों द्वारा ख्याल प्रचार में नहीं आ सका। अमीर खुसरो के दरबार में प्रविष्ट होने पर उसक गायकी को सहारा मिला । जैसा कि कहा जा चुका है कि दरबारी गायक होने के कारण इनके द्वारा प्रचारित गाने का प्रभाव उस समय की जनता पर अधिक व जल्दी होता था। अमीर खुसरो एक अच्छे गायक, रचयिता व भक्त होने के कारण निजामुद्दीन औलिया, अल्लाह व खुदा से संबंधित रचनाएँ करते थे। इस प्रकार एक दरबारी गायक द्वारा प्रचारित शैली को लोगों ने मान्यता दी और ख्याल का आविष्कर्ता उसे ही घोषित करने लगे। नामदेव के अभंग में जो 'ख्याल' शब्द आया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अमीर खुसरो के पहले ही

यह शैली भारत में विद्यमान थी परन्तु उसे पनपने का अवसर नहीं मिला था। नामदेव (1260-1350ई०) अमीर खुसरो (1264-1325ई०) का समकालीन था। इसलिये ये स्पष्ट है कि ख्याल अमीर खुसरो के पहले ही आरंभ हो चुका था। ख्याल रचनाओं को अधिकतर सूफ़ी सन्तों या क़व्वालों ने ही गाया। क़व्वाली उस समय मुसलमानों की गायकी थी इसलिये जब क़व्वाली गायकों ने ख्याल गाया तो उनके ख्याल गायन में क़व्वाली की वह विशेष हरकतें जो कव्वालों के गले में पहले से विद्यमान थी, स्वाभाविक रूप से ही उतर आई। ख्याल गायन शैली की विषय वस्तु पर गौर करें तो उस समय बादशाह लोग रंगीली तबियत होने के कारण श्रृंगारपूर्ण व विलासितापूर्ण सामग्री मनोरंजन के लिये चाहते थे। साथ ही साथ वे अपनी प्रशंसा से युक्त गीत भी चाहते थे लेकिन ख्याल उस समय में एक अविकसित एवं शास्त्रीय संगीत की अन्य शैलियों से प्रभावित सीधी, सरल, एवं ईश्वर से संबंधित भक्तिपूर्ण शैली थी जिसमें अल्लाह, रसूल, पीर तथा धार्मिक पुरूषों से संबंधित विषयवस्तु होती थी। इस बात का समर्थन करते हुये प्रमाणस्वरूप अमीर खुसरो के निम्नलिखित पद का उल्लेख किया है—

''जय-जय निजामुद्दीन जग तारन, जा पर मैं प्रान करूँ वारन।
खुसरो के प्रभो अहमद के पूत, तन मन और धन करूँ निवारन।।''

समय के साथ धीरे—धीरे ख्याल के इस सीधे, सरल व भक्तिपूर्ण स्वरूप पर तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों तथा श्रृंगारप्रिय बादशाहों की रूचि का प्रभाव पड़ने लगा। मुसलमानों ने लोगों को प्रलोभन देकर अपनी संस्कृति व सभ्यता को सुदृढ़ बनाने के लिये उसकी प्रशंसा में उनसे ग्रन्थ लिखवाये, रचनाएँ करवाई। इस सबके फलस्वरूप उस समय में प्रचलित प्रबन्ध शैली में परिवर्तन आये और दरबारी ध्रुपद शैली सामने आई। जो लोग इन प्रलोभनों में नहीं फँसे उनसे जबरदस्ती रचनाएँ करवाई गई। मुसलमानों ने उस समय उथल—पुथल मचा दी थी, हिन्दू ग्रंथों आदि को नष्ट करवा दिया था।

घरानों के रूप में ख्याल शैली का विकास :

अब हमें ये देखना है ख्याल शैली के विकास में घरानों ने किस प्रकार अपना योगदान दिया और अपने महत्व की कसौटी पर खरे उतरे। ख्याल शैली के प्रचार–प्रसार व विकास के सन्दर्भ में घरानों की चर्चा विशेष स्थान रखती है क्योंकि घरानेदार संगीतज्ञों के जाने–अनजाने प्रयत्नों व प्रेरणा से ख्याल शैली को शास्त्रीय संगीत की अन्य अनेक शैलियों के बीच प्रधान स्थान मिला और पश्चातवर्ती समय में सर्वाधक लोकप्रियता प्राप्त हुई। ख्याल शैली की संपूर्ण गायकी के रूप में भारत के प्राचीन संगीत के स्वरूप का आंशिक दर्शन परंपरागत रूप से चलने वाली गुरू–शिष्य परंपरा की ही देन है। मुग़ल काल में सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप ख्याल शैली का स्वरूप परिवर्तित व निर्मित हो गया परंतु साथ ही साथ राजनैतिक परिस्थितियोंवश संगीत घेरों तथा वर्गों में विभक्त होता गया और विभिन्न घरानों के रूप में ख्याल गायकी के अनेक रूप में संगीताकाश में टिमटिमाते अनेक तारों के रूप में अपनी छटा दिखाने लगे। धीरे–धीरे घरानों के विषय में कलाकारों तथा श्रोताओं की मान्यतायें इतनी दृढ़ हो गई कि ख्याल गायन आरंभ होते ही श्रोतागण कलाकार के गायन की रसवत्ता, आकर्षण तथा स्व–सौन्दर्य आदि गुणों की प्रशंसा करने की अपेक्षा यह विश्लेषण करने पर अधिक ध्यान देने लगे कि विशिष्ट घराने की गायकी को अपनाने व प्रदर्शित कर पाने में गायक कहाँ तक सफल हो पाया है। यह एक विश्वास बन गया कि ख्याल गायकी की श्रेष्ठता किसी न किसी घराने से सम्बद्ध होने पर ही निर्भर करती है। कलाकार और श्रोता दोनों में ही घरानों के प्रति आज भी इतनी अधिक आस्था है कि ख्याल शैली के साथ घरानों की चर्चा स्वयमेव स्थान ग्रहण कर लेती है। इस महत्ता का एक कारण ये हो सकता है कि ख्याल शैली में गायक को स्वर के विभिन्न प्रयोगों व संगीत अलंकरणों के विविध प्रयोगों की स्वतंत्रता बहुत मिलती है। ये प्रबन्ध या ध्रुपद की भाँति उतना नियमों या बन्धनों से जकड़ा हुआ नहीं होता। गायक

की अपनी कल्पनाशक्ति, भाव प्रदर्शित करने की सामर्थ्य व गले से चमत्कारिक तानों को प्रदर्शित करने की क्षमता आदि पर ही गायन का सफल होना निर्भर करता है। इसलिये प्रत्येक गायक अपनी–अपनी योग्यता के अनुसार उसमें मधुरता, रंजकता व चमत्कारिकता लाने का प्रयास करता है। यहाँ तक कि एक शिष्य भी अपने गुरू से जो सीखता है उसके अतिरिक्त उसमें कुछ नयापन लाने का प्रयत्न करता है परन्तु फिर भी गुरू की गायन शैली की छाप उसके गायन में मुख्य रूप से उभरती है और साथ–साथ अपनी प्रतिभा भी दृष्टिगोचर होती है। इसी स्वतंत्र प्रतिभा को दर्शाने हेतु किसी ने आलाप पक्ष पर जोर दिया तो किसी ने तान पर, किसी ने लयकारी दिखाने की विशेष चेष्टा की तो किसी ने स्वर की तरलता को ही महत्व दिया और जब यही गायकियाँ उन गायकों ने अपने शिष्यों को सिखाई तो कुछ पीढ़ी तक चलने के बाद उन्होंने घरानों का रूप ले लिया और उपरोक्त विशेषताएँ उन घरानों की निजी विशेषताएँ बन गई। जैसे ग्वालियर घराना आलाप प्रधान, जयपुर घराना तान प्रधान, आगरा घराना लय प्रधान तथा किराना घराना ने स्वर प्रधान गायकी को अपनाया। अतः गायकों की गायन शैली में पर्याप्त भिन्नता होने के कारण उनके सौन्दर्याविष्कार प्रणाली में अन्तर रहा और इस प्रकार विविधताओं को समेटे हुए विभिन्न घरानों के रूप में ख्याल गायन शैली का खूब विकास हुआ जिसमें उत्तर प्रदेश की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

ख्याल शैली के **आविष्कार** की तिथि निश्चित करना अभी भी संदिग्ध बना हुआ है। प्राप्त मतों का विश्लेषण करने के पश्चात् ज्ञात होता है कि भरत द्वारा वर्णित **नाट्य संगीत** के लिये निर्मित शास्त्र से प्रेरणा पाकर लोक परंपरा में गाये जाने वाले नाट्य संगीत को भी धीरे–धीरे शास्त्रीय संगीत में सम्मिलित होने का अवसर मिलने से शास्त्रीय संगीत की अन्य प्रधान शैलियों के बीच ख्याल शैली भी जड़ पकड़ती रही। 7-8 वीं शताब्दी में साधारणी तत्पश्चात् रूपकालिप्त का जो विवरण मिलता है उससे तुलना करने पर पर्याप्त साम्य दिखाई पड़ता है, जैसा कि पूर्व उल्लिखित है अर्थात् 7-8

वीं शताब्दी में इस प्रकार की गायकी को शास्त्राधार भी मिल गया। तत्पश्चात् 13वीं शताब्दी में नामदेव (1250-1260ई०) ने **अभंग** में 'ख्याल' की स्पष्ट व्याख्या की। अमीर खुसरो (1254-1325ई०) के साथ भी 'ख्याल' का नाम जुड़ा। इससे अनुमानित है कि 13वीं शताब्दी तक 'ख्याल' शास्त्रीय संगीत के प्रचलित रूप में कुछ स्थान बना चुका था। ख्याल गायकी का विकास मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश में स्थित जौनपुर के शर्की सुल्तानों के दरबार में हुआ, जिसमें सुल्तान **हुसैन शाहशर्की** (15वीं शताब्दी) का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है। किन्तु इससे पूर्व लोदी काल में सन् 1414-1526ई० तक के बीच के समय में हमें ख्याल गायकी का प्रसंग इस रूप से मिलता है–"इस युग में क़व्वाली , ग़ज़ल ख्याल, ठुमरी, आदि देश के अन्दर खूब प्रचलित हो गये थे। यहाँ तक कि गाँव वाले भी क़व्वाली गाते हुये देखे जाते थे। नारियाँ भी क़व्वाली, गाती थीं,........ख्याल भी गाये जाते थे।"[1]

मुग़लकाल के प्रथम चरण में बाबर के समय ख्याल, क़व्वाली तथा ग़ज़ल का खूब प्रचलन हुआ– "बाबर काल में भारतीय संगीत का विकास रूक नहीं गया बल्कि उसकी गति तेज ही हुई। ख्याल और क़व्वाली का प्रचलन अधिक रहा।"[2] 16वीं शताब्दी में **'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'** नामक ब्रजभाषा में लिखित ग्रन्थ में ख्याल गायन का प्रसंग मिलता है। मुग़ल काल के द्वितीय चरण में शाहजहाँ (1628-1658ई०) "हिन्दी के गीतों, भजनों, ध्रुपद शैली में गाये हुये गीतों को उसी चाव से सुनता था जिस चाव से वह ख्याल तथा क़व्वाली सुनता था।"[3] 18वीं शताब्दी तक आते–आते ख्याल के स्वरूप को मुहम्मद शाह रंगीले के समय में पूर्णतः पनपने का अवसर मिला। इस समय यद्यपि इसमें श्रृंगारिकता का स्थान बढ़ गया था फिर भी सदारंग–अदारंग के प्रयत्नों से ख्याल शैली का इतना अधिक प्रचार हुआ कि जिसके प्रभाव से आज तक इस शैली को मान्यता प्राप्त हो रही है। किन्तु इतना अवश्य कहना होगा कि ख्याल

---

1. उमेश जोशी–'भारतीय संगीत का इतिहास'
2. उमेश जोशी–'भारतीय संगीत का इतिहास'
3. उमेश जोशी–'भारतीय संगीत का इतिहास'

शैली का उद्‌गम एवं विकास अनेक राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों, अनेक व्यक्तिगत कारणों तथा अनेक गायन शैलियों के मिश्रित प्रभाव का फल है। फिर भी यह तो मानना होगा कि ख्याल शैली को सुनियोजित रूप देने व शास्त्रसम्मत बनाने में निश्चित रूप से ही अनेक महान संगीतज्ञों का परिश्रम छुपा हुआ है।

ख्याल गायन के घराने (उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में)

परंपराओं का पालन करने व नई सौन्दर्य दृष्टि अपनाने से ही कला की नींव सुदृढ़ होती है व विकासक्रम सहज रूप से बना रहता है। इस कथन पर विश्वास करके यह कहा जा सकता है कि घरानों के रूप में ही परंपरा को प्रधानता देते हुये प्राचीन संगीत का स्वरूप तथा विशिष्ट लक्षण कुछ सीमा तक सुरक्षित रह सके तथा शास्त्रीय संगीत की धारा अनवरत रूप से चलती रही। यद्यपि प्राचीन संगीत को अब तक जीवित रखने के प्रयत्न करने पर भी उसमें पर्याप्त परिवर्तन आ चुके है तथापि आंशिक रूप से आधार स्वरूप उस गायकी को जीवित रखा जा सका। इसका श्रेय निश्चित रूप से उन संगीतज्ञों को प्राप्त है जिन्होंने अपनी मेहनत, लगन तथा परिश्रम से अपने गुरूजनों की सेवा करके संगीत विद्या को प्राप्त किया तथा अपने शिष्यों को सिखाकर संगीत के प्राचीन रूप को, कला को, सामान्य सिद्धान्तों और पुरानी बन्दिशों को जीवित रखने का प्रयास किया। संगीत तो एक ऐसी कला है जिसका क्रियात्मक रूप बिना **'जीवित कला'** के जीवित रह ही नहीं सकता। ख्याल गायन के घरानों के बारे में जानने से पूर्व ये जानना आवश्यक है कि वास्तव में **'घरानेदार संगीत'** क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? 'घराना' शब्द का अर्थ और तात्पर्य क्या है?

घरानेदार संगीत को हम **'टकसाली'** ऐसे विशेषण से भी सुशोभित करते हैं। जिस संगीत को हम टकसाली कहते हैं वह सच्चा और प्रामाणिक घरानेदार संगीत को कहते हैं जिसके सिक्के सच्चे होते हैं और जाली कभी नहीं होते। संगीत के क्षेत्र में उनका सच्चा मूल्य होता है। ऐसे संगीत के राग सच्चे होते हैं और शास्त्रीय संगीत के

अन्तर्गत होते हैं। इस संगीत की बंदिशें भी प्रतिष्ठित ओर बेजोड़ होती है और सब संगीतज्ञ उनका सम्मान करते हैं। इस संगीत की शैलियाँ भी गायकी और बाज के उच्चतम आदर्शों का पालन करती है और हर तरह से बेजोड़ होती है। उनका ठीक–ठीक अनुवाद करके ही शैलियों का विकास होता है। यदि प्रतिष्ठित, घरानेदार संगीत ही संगीत की टकसाल माना जाता है तो प्रामाणिकता पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। उसके आधिपत्य को सारे संगीतज्ञ, गायक तथा वादक मान्यता देते हैं और सत्ता अथवा उसके अधिकार का विरोध कोई भी संगीतज्ञ, चाहे वह कोई भी हो, नहीं कर सकता। तो इस घरानेदार संगीत का वही अधिकार है और उसका वही गौरव है जो विज्ञान और साहित्य की किसी प्रतिष्ठित अकादमी का होता है चाहे वह इंग्लैण्ड की हो अथवा अमेरिका की। इस देश में सामूहिक रूप से घरानेदार संगीत को ही एक प्रतिष्ठित अकादमी का पद और गौरव मिला है। प्राचीन घरानेदार संगीत की जो उत्तम व्याख्या हम उनके मुख से, हाथ से और उनके कंठ से सुनते हैं उस पर परंपरागत संगीत की छाप पड़ी होती है। यह वह परंपरागत संगीत है जिसे इन प्रतिष्ठित घरानेदार संगीतज्ञों ने बड़े परिश्रम और अपनी निरंतर साधना से सुरक्षित रखा है और दूसरों तक पहुँचाया है। बड़ी उदारता से उन्होंने अपने संगीत के ज्ञान भंडार को अपने शिष्यों और अपनी शिष्य परंपरा को बाँटा और इस तरह घरानेदार संगीत को जीवित रखा। इसी संगीत को हम उत्तम संगीत मानते हैं और संगीत की टकसाल भी मानते हैं और यह संचित धन संगीत की पूँजी बन गया और बढ़ता ही गया और अन्त में उनकी शिष्य–परंपरा की सम्पत्ति कहलाने लगा।

साधारणतः 'घराना' कहते ही किसी 'विशिष्टता' का अनुमान सरलता से हो जाता है। संगीत जगत में भी भिन्न 'घराने' अपनी–अपनी गायकी में भिन्न–भिन्न विशेषताएँ अनुस्यूत रखते हैं या कहा जा सकता है कि गायकी की किन्हीं विशेषताओं को उसी रूप में चिरकाल तक जीवित रखने के प्रयत्न में ही घरानों का जन्म हो गया

और संगीत क्षेत्र में कुछ घरानों का महत्वपूर्ण स्थान रहा। 'घराना' शब्द की व्याख्या करके उसमें निहित अर्थ को समझने के लिये अनेक संगीतज्ञों व विचारकों द्वारा दी गई परिभाषाओं, मान्यताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

साधारण भाषा में 'घराना' शब्द के अनेक अर्थ है जैसे घर, कुटुम्ब, परिवार, सम्प्रदाय, वंश परंपरा आदि। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में 'घराना' शब्द इन्हीं में से किसी एक या अनेक अर्थों के साथ सम्बद्ध प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों ने घराना शब्द का अर्थ 'घर' माना है। कुछ विद्वानों ने घराने के अर्थ को विस्तृत रूप में वंश परंपरा के साथ जोड़ा है। श्री कृष्ण राव शंकर पंडित के अनुसार "शताब्दियों या बहुत वर्षों की परंपरा सब मिलाकर एक घराना बनता है।" उपरोक्त विद्वानों के मतानुसार संगीत में 'घर' या घराना' शब्द का तात्पर्य गायकों के ऐसे वर्ग से है जिन्होंने पिता–पुत्र परंपरा से या गुरू–शिष्य परंपरा से गुरू की गायन शैली को अपनाया है। जिस प्रकार एक घर के सब लोग मिलकर रहते हैं उसी प्रकार बाबू भाई बैंकर के अनुसार "एक ही शैली से गाने वालों को एक ही घराने का कहते हैं।" संगीत की विशिष्ट गायन शैली का सीधा संबंध 'घराने' से बताते हुये श्री श्रीकृष्ण राव शंकर पंडित ने भी कहा है कि "विभिन्न शैलियों के निर्माताओं ने अपनी प्रतिभा तथा कठिन साधना से एक विशिष्ट शैली का निर्माण किया जो लोकप्रिय हुई तथा उनके शिष्यों द्वारा उसका प्रचार प्रचुर मात्रा में किया गया। इस शैली को घराना कह सकते हैं।" फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि एक घराने के अनेक कलाकारों के गायन में अन्तर नहीं है। भारतीय शास्त्रीय संगीत की यह विशेषता है कि संगीत शास्त्र के नियमों का तथा गुरू से प्राप्त शैली के मूल सिद्धान्तों का पालन करते हुये भी कलाकार को अपनी प्रतिभा तथा विशिष्ट कलात्मक गुणों को भी दर्शाने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। उसका संगीत, उसकी विशिष्ट संस्कृति स्वभाव आदि के साथ एक रूप होकर उभरता है। परिणामस्वरूप एक ही घराने के अलग–अलग कलाकारों में से प्रत्येक की आवाज़ के लगाव, गायन विस्तार तथा स्वर प्रयोग में भिन्नता होती है।

इस प्रकार 'घराना' यह एक ही गायकी का अनेक शिष्यों के रूप में लचीला संचालन है जिसमें विशिष्ट घराने के कुछ आधारभूत नियमों का पालन करना आवश्यक माना जाता है। फिर भी उसमें कल्पनात्मक विस्तार के रूप भेद के लिये पर्याप्त अवसर रहता है जैसा कि देशपांडे जी ने कहा है– "अतः घराना माने निशानी या पहचान के हिसाब से गायकी की विशिष्ट रीति बनाये रखने वाली और इस प्रकार सिलसिला बनाये रखने वाली एक परम्परा है, यह कहना होगा। यानि परंपरा तथा पृथगात्मकता के सम्मिश्रण से घराने जड़ पकड़ते और बढ़ते जाते हैं, यह भी कहा जा सकता है।"[1] [घरानेदार गायकी देश पांडे] किसी भी विलक्षण गायकी अथवा नये बाज का घराना अपने आप नहीं बन सकता। घराना बनने की भी एक शर्त होती है जो अनिवार्य होती है। किसी घराने की शैली की सुव्यवस्थित परंपरा और उसके विशेष संगीत का क्रम ही उसे घराना बनने का अधिकार देते हैं। गायकों अथवा वादकों की कम से कम तीन या चार पीढ़ियों के बाद ही किसी घराने का जन्म हो सकता है और संगीत में प्रगति हो सकती है। यह आवश्यक नहीं है कि एक विलक्षण अथवा अनोखी गायकी का घराना ऐसे बन जाये जब तक उसके प्रतिभाशील अनुयायी उसे प्रचलित न करें और उसे संपूर्ण मान्यता के योग्य न बनाए। कोई बहुत बुद्धिमान अथवा विलक्षण गायक अपनी अलग शैली का निर्माण कर सकता है परन्तु यह जरूरी नहीं कि उसका एक घराना भी बन जाये। उपर्युक्त विवेचना से यही निष्कर्ष निकलता है कि कुछ सारभूत तत्वों के पालन से घराने की उत्पत्ति हो जाती है। घरानों की महत्वपूर्ण विशेषताओं तथा तत्वों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुये देशपांडे जी ने कहा है–

(1) घराना 'घराने' की प्रतिष्ठा तभी प्राप्त कर सकता है कि जब कई पीढ़ियों का सिलसिला लगातार चलता रहता है।

(2) 'घराने" की अपनी 'रीत' या अनुशासन होता है। संगीत की भाषा में कहा जाय तो घराने के कुछ 'कायदे' होते हैं।

---

1. देशपांडे–'घरानेदार गायकी'

(3) प्रत्येक घराना किसी एक प्रभावशाली गुरू की आवाज की प्रकृति पर आधारित होता है।

इस प्रकार घराने के बारे में अनेक मत प्राप्त होते है और इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जब एक गायक अपनी गायकी में अपनी स्वतंत्र प्रतिभा से कुछ विशेषता या अन्य गायकों से भिन्नता ले आता है और वही गायकी अपने पुत्रों या शिष्यों आदि को सिखाने लगता है तो शिष्यगण भी उसी प्रकार की गायकी का अनुसरण करने लगते हैं। कुछ पीढ़ियों तक गायकी की वही परंपरा चलने पर वह एक घराने के नाम से जानी जाने लगती है। साधारणतया यह नाम या तो उसी मुख्य गायक के नाम पर या उसके निवास स्थान के नाम पर रख दिया जाता है। इस प्रकार जब एक ही गायकी शिष्य–प्रशिष्यों के रूप में अनेक पीढ़ियों तक चलती रहे तब वह एक घराना बन जाता है अर्थात् एक ही ढंग की गायकी गाने वाले अनेक गायकों को एक ही घराने का कहा जाता है। अब संक्षिप्त में ये देखना है कि घराने की उत्पत्ति कहाँ से हुई?

मानव के प्रारभिक जीवन पर दृष्टिपात करने से ऐसा अनुभव होता है कि संगीत का विकास उस समय में इच्छित ढंग से हुआ होगा क्योंकि उस समय कोई शास्त्र नहीं थे, कोई नियमों का बन्धन नहीं था जिसकी जो इच्छा हुई उसी ढंग से गाकर उसने अपना मनोरंजन किया। जैसे–जैसे वर्ग बनते गये, सभ्यता बढ़ती गई संगीत भी बदलता गया और अनेक प्रकार, अनेक भाषाओं व अनेक वर्गों के रूप में संगीत विकसित होने लगा। इन वर्गों में जिस प्रकार प्राकृतिक जलवायु, प्रदेश व वातावरण की अनुकूलता के कारण खाने, पीने, रहन–सहन में व अन्य गतिविधियों में अन्तर था। उसी प्रकार उनके संगीत में भी अन्तर था प्रत्येक स्थान पर एक से वाद्य नहीं बनाये जा सकते थे। जहाँ जहाँ जैसी उपलब्ध हुई उससे वैसे ही वाद्य बनाये गये। वाद्यों की अनुकूलता, रहन–सहन के ढंग तथा अन्य प्राकृतिक कारणों से प्रत्येक स्थान का गायन अलग–अलग प्रकार का था। यही संगीत अपने–अपने वर्गों में विकसित होता गया व बदलता गया। आज लोकसंगीत के रूप में वही संगीत विद्यमान है। इसी कारण आज

भी हर प्रदेश का लोक संगीत अलग–अलग प्रकार का है। जैसे–राजस्थानी, बंगाली, पंजाबी, आदि। इनमें केवल भाषा का ही नहीं वरन् सांगीतिक अलंकरणों के विशिष्ट प्रयोग में भी अन्तर परिलक्षित होता है। यहाँ तक कि हर प्रांत के गाँव का व शहर का संगीत भी एक दूसरे से पर्याप्त भिन्नता रखता है और आज भी जो आदिवासी जनसमुदाय कुछ स्थानों पर है उनका संगीत तो बिल्कुल ही अलग प्रकार का होता है। ये तो हुई लोकसंगीत की बात। यदि हम शास्त्रीय संगीत की ओर देखें तो शास्त्रीय संगीत के नियम बन्धन वैदिक समय में निर्धारित किये गये थे। यह सर्वविदित है कि सामवेद में गायन की एक हजार शैलियाँ प्रचलित थी परन्तु पश्चातवर्ती समय में केवल पन्द्रह शाखाएँ ही प्रचलित रह गई और अन्ततः जो तीन शाखाएँ प्रचलित हुई, वे थी रानायनी, जैमिनी व कौथुमी। यह भी एक प्रकार के वर्ग कहे जा सकते हैं क्योंकि प्रत्येक शाखा के गायक अपने विशिष्ट नियमों का पालन करते थे।

इस प्रकार चाहे इन्हें पद्धति, शैली या गायन शाखाएँ कहें, एक प्रकार से घरानों या वर्ग के अनुरूप ही दिखाई देते है। इसके पश्चात् हम प्रबन्ध पर आते हैं। प्रबन्ध में भी तीन विभाग थे–सूड़ आलि, विप्रकीर्ण। इनमें से प्रत्येक के अनेक उपविभाग थे। इन सभी प्रबन्धों के गायन में अलग–अलग समुदाय, अलग–अलग प्रकार के प्रबन्ध गायन में कुशलता रखते थे। प्रबन्ध के बाद ध्रुपद का आर्विभाव हुआ। ध्रुपद में भी अलग–अलग ढंग से गाये जाने के कारण उसमें मुख्यतः चार भेद हो गये। ध्रुपद के पश्चात् जब ख्याल आया तो इसमें भी वर्ग बन गये, घराने बन गये। ख्याल गायन की भिन्न–भिन्न गायकियाँ भिन्न–भिन्न गायकों ने जब अपने शिष्यों को सिखाई तो कुछ पीढ़ी तक चलने के बाद उन्होंने घरानों का रूप ले लिया।

घराने की उत्पत्ति के सन्दर्भ में श्री जी० एन०जोशी का विचार है कि 'मुगल काल के अन्त में दरबारी संगीत छोटी छोटी रियासतों में बँट गया था। इन रियासतों में ग्वालियर, उदयपुर, रामपुर, लखनऊ, आगरा पाटियाला, बड़ौदा, जयपुर, हैदाराबाद, आदि प्रमुख थे। सतत् साधना के फलस्वरूप इनको इतनी प्रसिद्धी मिल गई जिसे

कालान्तर में उनके अपने नाम से या उनके निवास स्थान के नाम से पहचाना जाने लगा, यही घराने कहलाये।"

डा० सुमति मुटाटकर का विचार है कि साधना द्वारा अपनी विशेष गायकी तैयार करने तथा प्रसिद्धी पाने के उपरान्त भी अशिक्षित होने के कारण यह गायन कला को वैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक व शिष्ट बनाने में असमर्थ रहे जिसके कारण गायकों के विभिन्न वर्ग या घराने एक दूसरे से बिल्कुल अलग हो गये। प्रत्येक घराने के गायक अपने सांगीतिक लक्षणों को सुरक्षित रखने के प्रयास में अहंकारी व हठी बन गये। इसी प्रकार समस्त संगीत की एकता समाप्त होकर हर घराने की विशिष्टता आपसी ईर्ष्या का कारण बन गई क्योंकि वे लोग उस पर अपना वंशगत उत्तराधिकार मानने लगे।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त आवाज़ के गुण, धर्म तथा व्यक्ति की वैयक्तिक रूप से स्वाभाविक सीमाएँ भी घराने की उत्पत्ति का कारण रही है। कुछ गायकों ने अपनी आवाज़ के धर्म के अनुसार आवाज़ के किसी विशिष्ट दोष को छुपाने के लिये किसी विशिष्ट प्रकार की गायकी बना ली जो अत्यन्त आकर्षक लगने लगी उसे ही साधना के द्वारा वह विशेष चमक देने में वह सफल हो गये। जब उन्होंने वही गायकी अपने शिष्यों को सिखाई तो वही विशिष्टता उस घराने की पहचान बन गई और शिष्यगण उस गायकी को उसी रूप में अपनाने का प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार एक प्रकार की गायकी को अपनाने वाले वर्ग विशेष के रूप में वह एक घराना बन गया। श्री बी०आर० देवधर के शब्दों में "महेनत और रियाज़ के द्वारा चमकीला बनाकर विशेष आकर्षण बनाने का प्रयत्न हर घराने के संस्थापक करते हैं। कालान्तर में वही उस घराने की पहचान बन जाती है।"

इस प्रकार घरानों की उत्पत्ति के विषय में अनेकानेक मत प्राप्त होते हैं और यही निष्कर्ष निकलता है कि गायकों की निर्बलता या उनकी कुछ विवशताएँ, संगीतज्ञों का संकुचित दृष्टिकोण, कुछ राजनैतिक परिस्थितियाँ, प्रतियोगिताएँ जीतने के लिये बाध्य होना, बादशाहों को प्रसन्न करने के लिये गायकी में गले की तैयारी दिखाना

आदि अनेक कारणों से घराने बने और विकसित हुये परन्तु इसके साथ ही साथ कुछ सामाजिक परिस्थितियाँ, वैज्ञानिक साधनों का अभाव तथा संगीतज्ञों की कुछ अपनी विवशताएँ भी इसका कारण थी।

इस सभी कारणों से हटकर यदि घरानागत विशेषताओं पर ही ध्यान दिया जाय तो उनके विवेचन से भी घरानों के स्वाभाविक रूप से उत्पन्न व विकसित होने के विचार पर प्रकाश डाला जा सकता है। प्रत्येक घराने की ख्याल गायकी का आधार एक ही रहते हुये भी उनमें थोड़ा–थोड़ा अन्तर अवश्य होता है जैसे किसी घराने में आलाप का विस्तार अधिक किया जाता है तो किसी भी बोल तान अधिक की जाती है। कोई ख्याल के गीत के भावों को स्पष्ट करने में अधिक ध्यान देता है तो किसी घराने में ठहराव कम होकर तान की अधिकता होती है। कुछ घरानों में आरंभ का आलाप नोम्–तोम् में किया जाता है तो कुछ में आकार का आलाप लिया जाता है। किसी घराने में गीत के शब्द इतने अस्पष्ट गाये जाते हैं कि वास्तविक शब्द ही समझ में नही आता तो किसी में शब्दों की स्पष्टता व भाव प्रदर्शन को ही अधिक महत्व दिया जाता है।

हिन्दुस्तानी संगीत के विभिन्न घरानों के इतिहास पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो इस संबंध में उत्तर प्रदेश बहुत समृद्ध रहा है। जिस प्रकार उत्तर प्रदेश सुन्दर पर्वतमालाओं, नदियों, वनों और अनेक रीति–रिवाज़ों से भरापूरा है उसी तरह वह वृन्दावन, मथुरा, काशी और अयोध्या जैसे सांस्कृतिक केन्द्रों से समृद्ध है। जहाँ इस प्रदेश में वाल्मीकि और भारद्वाज आदि ऋषियों के आश्रम है वहाँ इस प्रदेश में आगरा, लखनऊ, रामपुर, जौनपुर, मथुरा, खुर्जा, सहसवान, किराना मौजूद है। यदि ये कहा जाये कि आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत का जन्म उत्तर–प्रदेश में हुआ है तो गलत न होगा। इसी संगीत को हम आजकल शास्त्रीय संगीत कहकर पुकारते हैं। जो लोग संगीत में अनभिज्ञ होते हैं अथवा जिनकी जानकारी बहुत मामूली होती है वह अपनी

बोलचाल की भाषा में इस संगीत को 'राग रागनियों वाला संगीत' अथवा 'पक्का गाना–बजाना' कहकर पुकारते हैं। जिस ब्रजभाषा और जिस सांस्कृतिक विचारधारा का संबंध इस संगीत से रहा है उसका जन्म भी उत्तर प्रदेश के साहित्य और उसके दार्शनिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और कला संबंधी विचारों में हुआ है। यह कहना भी ठीक होगा कि उत्तर प्रदेश में साहित्य और संगीत ने बड़े सहयोग की भावना से प्रोत्साहित होकर एक ही तरह का सैद्धान्तिक प्रचार किया था। जिस तरह संगीत साहित्य पर निर्भर रहा है उसी तरह साहित्य को भी संगीत ने अपनाया है और अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति का साधन बनाया है। कबीरदास की अमर पंक्ति **''घूँघट के पट खोल तोहे राम मिलेंगे''** को गायकों की बहुत पीढ़ियाँ राग दरबारी में गाती चली आई है। राग दरबारी की यह विशेष रचना अपने ढंग की निराली रचना है। परंपरा और घरानेदार संगीत ने इस ख्याल की रचना पर अपनी अमिट छाप लगाई है। जिस मथुरा, वृन्दावन और बरसाने क्षेत्र में कृष्ण काव्य और कृष्ण संगीत तथा कृष्ण नृत्य का जन्म हुआ था उसी के आस पास हिन्दुस्तानी संगीत की मौलिक विचाराधारा का भी जन्म हुआ था।

उत्तर प्रदेश के बहुत से बड़े और छोटे शहर भी घरानेदार संगीत और संगीतज्ञों से संबंधित रहे हैं। हम जानते हैं कि लखनऊ, बनारस और रामपुर संगीत के केन्द्र माने गये है। परन्तु इनके अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे नगर और कस्बे काफी मशहूर हुये है। सहसवान के ख्याल गायकों का भी काफी नाम हुआ है। इनायत हुसैन खाँ, इमदाद खाँ और मुश्ताक़ हुसैन खाँ के अतिरिक्त सहसवान और बदाऊँ के फिदा हुसैन खाँ और निसार हुसैन खाँ भी अच्छे ख्याल गायक माने गये हैं। कालपी, खजूर गाँव और बाँदा के संगीतज्ञों के अलावा मेरठ और मुरादाबाद के तबलावादक तथा गायक भी मशहूर हुये हैं।

आगरा घराना

गायकों के प्रतिष्ठित घरानों में आगरा घराने का बहुत नाम हुआ है। जहाँ तक गायकी का संबंध है इस घराने की गायकी का बड़ा गहरा संबंध ग्वालियर की गायकी से रहा है। परन्तु इसके पहले कि हम इस तथ्य पर प्रकाश डालें, इस घराने के जन्म के बारे में जानकारी आवश्यक है।

आगरा घराने का आरंभ अलखदास और मलूकदास से बताया जाता है। कहते हैं कि ये लोग हिन्दू थे पर बाद में किसी कारणवश इन्हें मुसलमान बन जाना पड़ा। अलख दास के पुत्र हाजी सुजान खाँ एक अच्छे ध्रुपद–धमार गायक थे और स्पष्टतः अकबर युग के हाजी सुजान खाँ ही इस घराने के आरंभकर्ता अथवा जन्मदाता माने जाते हैं। ये घराने वाले इन्हीं को अपना पूर्वज अथवा आदि पुरूष मानते हैं। हिन्दुस्तानी संगीत के ध्रुपद युग में हाजी सुजान खाँ धमार शैली के अन्वेषक माने गये है। यही कारण है कि इस घराने में ध्रुपद और धमार का भी रिवाज़ रहा है जिससे इस गायकी में एक विशेष प्रकार की गंभीरता का भाव मिलता है। संगीत के आधुनिक युग में भी इसी प्राचीन घराने के वंशज घघ्घे खुदाबख्श ने 19वीं शताब्दी में इस घराने की ख्याल पद्धति का आरंभ किया। वह इस घराने की ख्याल शैली के अन्वेषक माने जाते हैं। इस तरह से इस घराने में ध्रुपद–धमार परंपरा और ख्याल परंपरा दोनों का उत्तम सहयोग और मिश्रण रहा यह तो रही इस घराने की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की बात। परन्तु यह घराना ख्याल शैली का ही एक प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध घराना माना जाता है।

अलखदास के पुत्र हाजी सुजान खाँ हुये किन्तु मलूकदास के दो पुत्र हुये सरसरंग और श्यामरंग। सरसरंग की कोई संतान न थी, श्यामरंग के चार पुत्र थे–जंगु खाँ, सस्सू खाँ, गुलाब खाँ और खुदाबख़्श। खुदाबख्श की आवाज कुछ बैठी हुई थी इसलिये उन्हें घघ्घे खुदाबख्श कहा जाने लगा। आवाज़ कुछ खराब होने के कारण इन्हें अपने बुजुर्गो से मामूली तालीम मिली और आप फिर ग्वालियर के नत्थन पीरबख्श के पास पहुँचे और वहाँ से आपने ख्याल गायन की शिक्षा प्राप्त की। उसके बाद आपने वापस आगरा आकर अपने दो पुत्रों

गुलाम अब्बास खाँ तथा कल्लन खाँ [असली नाम गुलाम हैदर खाँ] तथा भतीजे शेर खाँ को तालीम दी। इसके अतिरिक्त अलीबख्श भरतपुर वाले तथा पं० विश्वनाथ के पुत्र पं. शिवदीन को भी आपने संगीत की शिक्षा दी। गुलाम अब्बास खाँ ने लयकारी युक्त तान की फिरत व बोल अंग में भी गायकी के स्वरूप में लयकारी का विशेष प्राबल्य, इन दो अंगों से मूल ग्वालियर गायकी को थोड़ा बदल कर आगरा घराने की स्वतंत्र गायकी का निर्माण किया। इस प्रकार आगरा घराने वालों ने ग्वालियर घराने की गायकी में अनेक नए प्रकार डालकर व उसको दूसरे ढंग से सुन्दर व समृद्ध बनाकर उसका प्रचार किया। इसकी कारण ग्वालियर व आगरा ये दोनों घराने इतने पास हैं कि कहा जा सकता है कि दोनों की सौन्दर्याविष्कार प्रणाली का तत्व एक ही है।

गुलाब अब्बास खाँ ही इस पिछले युग में आगरा घराने के मार्गदर्शक माने गये हैं और वही इस घराने की प्रचलित शैली के अन्वेषक भी माने जाते हैं। आधुनिक युग में गुलाम अब्बास खाँ ने ही इस घराने की गायकी की महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक व्याख्या की और उसका कलात्मक संघटन भी किया। इन्होंने अपने घराने की गायकी को सुरक्षित रखने के लिये घराने के तीन प्रसिद्ध गायकों को विधिवत् शिक्षा दी और इन्हें बड़ी मेहनत से तैयार किया, जिनमें भतीजे नत्थन खाँ, भाई कल्लन खाँ और नाती फ़ैयाज़ हुसैन खाँ थे जो इस जमाने में आगरा घराने के सर्वश्रेष्ठ गायक और सरताज माने गये। कल्लन खाँ ने अपने पुत्र बसद्दुक हुसैन खाँ को भी बहुत अच्छी तालीम दी। आपके अन्य शिष्यों में खादिम हुसैन खाँ, अनवर हुसैन, नन्हें खाँ, बशीर खाँ तथा विलायत हुसैन खाँ प्रसिद्ध है। आपने मुरादाबाद के नज़ीर खाँ व गफूर खँा को भी ख्याल गायकी की शिक्षा दी थी। आपके शागिर्दों में फिरदौसी बाई तथा जयपुर की बिब्बोबाई के नाम भी प्रसिद्ध है। नत्थन खाँ का असली नाम निसार हुसैन खाँ था। आपकी तालीम अपने चाचा गुलाम अब्बास खाँ के अतिरिक्त घसीट खाँ साहब तथा ख्वाजा बख्श साहब से भी हुई। नत्थन खाँ बहुत विलंबित लय में गाते थे और उनमें

भी मध्य, द्रुत, आड़ आदि लय के काम, तान की फिरत में दिखाते थे। आपके शिष्यों में भास्कर राव बखले प्रमुख स्थान रखते हैं। बंबई की बावली बाई भी आपकी अच्छी शिष्या थी। नत्थन खाँ के पुत्र थे मुहम्मद खाँ, अब्दुल्ला खाँ, मु० सिद्दीक खाँ, विलायत हुसैन खाँ और नन्हें खाँ। मुहम्मद खाँ के शिष्यों में बांकाबाई, ताराबाई सिरोलकर, चंबाबाई कवलेकर, भाई शंकर, भाई प्राणनाथ, आपके पुत्र बशीर अहमद खाँ आदि है। नन्हें खाँ के शिष्यों में सीताराम फाथर फैकरयल्लापुरकर, रत्नकांत रामनाथकर तथा गुलाम अहमद आदि प्रसिद्ध है। विलायत हुसैन खाँ ने अनेक उस्तादों से शिक्षा प्राप्त की जिनमें करामत हुसैन खाँ, मुहम्मद बख्श तथा अल्लादिया खाँ के नाम उल्लेखनीय है। आपके शिष्यों में अंजनी बाई जाम्बोलीकर, गिरिजाबाई केलकर, पं० जगन्नाथ बुवाा पुरोहित, राम मराठे आदि के नाम प्रसिद्ध है। आपके पुत्र उस्ताद यूनुस हुसैन खाँ इस घराने के आधुनिक प्रतिनिधि और एक अच्छे गायक हुये। इस घराने के नाम को उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ ने बहुत ऊँचा किया और अनेक उपाधियाँ भी प्राप्त की जैसे **"संगीत चूड़ामणि,"** **"संगीत-सरोज"**, **"संगीत भास्कर"**, आदि। आपके शिष्यों में पं० दिलीपचन्द्र बेदी, श्री कृष्ण नारायण रातनजंकर, अता हुसैन खाँ, बन्दे अली खाँ आदि के नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार आगरा घराने की शिष्य परंपरा में अनेक प्रतिभाशील गायक हुये।

विशेषताएँ :

आगरा घराने की गायन कला और उसकी गायकी की क्या विशेषता है, इस पर विचार करते समय हमें उसका सबसे अच्छा उदाहरण और नमूना स्व० उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ के गायन में मिलता है। उनके गायन में इस घराने की गायन शैली अपनी पराकाष्ठा के उच्च शिखर पर पहुँची थी। पहली बात जो इस घराने में मुख्य है वह है इसके रागों की शास्त्रीय शुद्धता और उनकी परंपरागत सच्ची व्याख्या। आम जुबान में हम इस बात को इस तरह से कहेंगे कि इस घराने के राग हमेशा सच्चे होते हैं। संगीत शास्त्रों में रागों की जैसी व्याख्या है वैसी ही इस घराने के गायन में भी है।

मगर इसके साथ–साथ इसके रागों में केवल एक कोरी शास्त्रीय शुद्धता ही नहीं होती। दूसरा गुण जो इस गायकी में है वह है इसके रागों का भावात्मक और रसात्मक प्रदर्शन । कोरा शास्त्रीय गाना नीरस भी हो सकता है परन्तु कला की सच्चाई केवल गणित की सच्चाई नहीं होती। यह तो एक प्रकार का मौलिक सत्य है जिसमें कला की अनुभूति नहीं है। गायन कला में किसी राग के स्वरों का मौलिक शास्त्र वाला नीरस वर्णन नहीं होता। स्वरों की व्याख्या भावों और रसों के साथ होती है। आगरा गायकी का बल, सौन्दर्यबोध भाव पर अधिक है। प्रायः एक सुरीली आवाज़ वाला गायक संवेगात्मक भावुकता का सहारा लेकर अपने श्रोताओं को खुश कर लेता है। परन्तु इस प्रकार के आनंद में कला की सौन्दर्यानुभूति नहीं होती । केवल तत्काल भाव का जन्म ही ऐसे संगीत के प्रदर्शन में होता है और उसकी संगीत कला में कोई सौन्दर्य गुण विवेचन नहीं होता। इस प्रकार के संगीत में हम गायक को सौन्दर्य विभव नहीं पाते और न श्रोता में हम कला के सौन्दर्य–निर्णय की कोई भावना पाते हैं। दोनों ओर से एक सहज भावुकता की लहर उठती है और एक प्रकार की सहज अनुक्रिया का जन्म होता है और इसमें गायक के भावों का नियंत्रण नहीं होता। इस प्रकार के संगीत में केवल एक नाटकीय भावना होती है। लेकिन ये बात आगरा गायकी में नहीं है। इसमें श्रोता आवेग से ही नहीं परन्तु अपनी समझ से भी काम लेता है। गायक के गायन का वह स्वयं भावात्मक अनुभव करता है चाहे वह वात्सल्य हो अथवा अनुराग या करूणा या श्रृंगार। श्रोता की भावात्मक प्रतिक्रिया में समझ होती है, केवल भावोन्माद नहीं होता। इस प्रकार के श्रोता में इस प्रकार के आनंद लेने के लिये केवल उथली भावुकता ही नहीं होती परन्तु एक प्रकार की भावात्मक परिपक्वता भी होती है। गायक के संगीत के प्रति ऐसे श्रोता में भावात्मक सामंजस्य करने की क्षमता होती है। उसको अपनी समझ से यह ज्ञात होता है कि उसको गायक के संगीत का पूरा आनंद आ रहा है। इस कारण आगरा गायकी में गायक और श्रोता के बीच में एक प्रकार का भावात्मक विनिमय होता है।

आगरा घराने की परंपरा एवं गायन शैली **नौहार वाणी** की परंपरा है। इस घराने की शिक्षा ध्रुपद–धमार से प्रारंभ होती है जिसके द्वारा श्वास नियंत्रण एवं ताल की पकड़ का ज्ञान कराया जाता है। ख्याल गायन में भी प्रारंभिक नोम्–तोम् की विशेषता केवल आगरा घराने की है, जिससे स्वर खुलने में सहायता मिलती है। इस घराने की मूल परंपरा में चूँकि ध्रुपद–धमार है जिनमें स्वरों का लगाव खड़ा और खुला है, स्वरों के उच्चारण में कण नहीं होते और आवाज की फेंक में ख्याल की अपेक्षाकृत ज्यादा बल या जोश होता है। ध्रुपद–धमार के प्रभाव के कारण आगरे घराने के ख्याल गायन में यह प्रभाव स्पष्ट है। आगरा गायकी Full Throated voice की हो गई। चौड़ी, बुलन्द आवाज़, लय से सराबोर गायकी आगरा घराना की प्रधानता रही। स्वर रेंककर, ठेलकर, घुरचकर लगाने की पद्धति आगरा शैली का अंग बन गई। मींड–गमक के प्रयोग के समय भी स्वरों का लगाव खड़ा रहता है।

इस घराने के गायक के गायन में उसके व्यक्तित्व की छाप होती है और उसका व्यक्तित्व होता है। गायक अपने गायन में सक्रिय भाग लेता है और उसको अपना खुद का गायन बनाता है। वह केवल संगीत का यंत्र अथवा औजार नहीं बन जाता और उसके नियमों का केवल निष्क्रिय पालन ही नहीं करता। वह अपने संगीत का जन्मदाता है और उसका निर्माण करता है। उसके संगीत में उसके व्यक्तित्व की छाप होती है इसी कारण वह समझबूझकर गाता है और अपने गायन को अपने ही ढंग से सजाता है। इस गुण के बिना गायक संगीत के कानूनों तथा नियमों का गुलाम बन जाता है और वह अपनी कल्पना से काम नहीं लेता। आगरा गायकी में ये दोष नहीं है। परंतु इसके साथ–साथ इस घराने का गायक अपनी गायकी का तकनीकि विशेषज्ञ भी होता है। वह बढ़त और फिरत के मूल सिद्धान्तों से परिचित होता है और ख्याल की रचना के स्थाई और अन्तरे को भरना जानता है। उसके बहलावे, उसका स्वर लगाव, उसकी संगीतमय भावुकता, उसकी गाने की पुकार, उसकी बन्दिश का सजाव, उसकी राग का जीता–जागता चित्र, उसका ताल चमत्कार और उसकी गायकी के तरह–तरह के

आभूषण यह सब उसके गायन को सजाते हैं। जब वह गाता है तो हर श्रोता का सिर हिलने लगता है और उसके शरीर में गति होने लगती है। वह अपने गायन में अपने श्रोताओं से मानों बातें करता है और उनकी कल्पनाओं को उत्तेजित करता है। यही कारण है कि श्रोता उसके गाने का पूरा आनंद लेते है और ऊबते नहीं हैं। परन्तु ऐसे गायन में एक गुण और होता है वह है रचना के शब्दों का स्वाभाविक, स्पष्ट और भावुक उच्चारण। गायक की बन्दिश का रचनात्मक चमत्कार भी श्रोता के सामने आ जाता है जिससे न तो वह अपने शब्द चबाता है, न खाता है परन्तु उनका सुन्दर, कलात्मक उच्चारण करता है और अपनी राग, अपनी बंदिश की बढ़त में इस भावुक शब्द उच्चारण से वह श्रोता को मुग्ध कर देता है।

रागों के विस्तार तथा बंदिश की बढ़त का निजी ढंग इन्होंने अपनाया। अपने पूर्वजों से सीखी गई बंदिशें आगरा घराने के गायक गाते हैं। बंदिश की बढ़त में गायक स्थाई की कोई दूसरी पंक्ति, अंतरे की किसी पंक्ति को बार–बार दुहराकर, अलंकृत कर स्थाई या मुखड़े की तरह इस पंक्ति के द्वारा जो **मुखड़ाबन्दी** करता है, उससे राग का सौन्दर्य और बढ़ जाता है। आगरा घराने में नोम्–तोम् का आलाप एवं आकार का आलाप दोनों की ढंग से राग का विस्तार किया जाता है।

इन सब गुणों के रहते हुये यह गायकी अपने को हर गायकी से निराला बना लेती है। कद्रदान ऐसे गायन के भक्त बन जाते हैं। इस सबका कारण यह है कि इस गायकी में स्वर और ताल दोनों का सुन्दर सहयोग है। उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ के लिये लोग कहा करते थे कि वे ताल के बादशाह थे और लय उनकी गुलाम थी। ये बिल्कुल ठीक था। घराने के अच्छे गायकों में भी कभी–कभी यह गुण दिखाई देता है। उदाहरण– इस घराने की बोलतानें बड़ी सुन्दरता से सजाई जाती हैं। शब्दों को इस कलात्मक ढंग से बाँटा जाता है कि वह कानों को लय की गति में बड़े सुन्दर लगते हैं। शब्दों को इस कलात्मक और भावुक ढंग से कहा जाता है कि वह ताल की मात्राओं में नपे–तुले चले आते हैं। जब गायक अपनी बोलतान के साथ सम पे आता है

तो उसकी भावुक रचना नाटकीय गीत का रूप धारण कर लेती है और उसमें एक प्रकार का चकित करने वाला नाटकीकरण होता है। यह केवल एक प्रकार का ताल संबंधी अभिनय नहीं होता परन्तु उसमें लय के सूक्ष्म दर्जो का कलात्मक प्रदर्शन भी होता है। यही कारण है कि इस गायकी के तिहैये अचानक और स्वाभाविक होते हैं और श्रोता को चकित व आनंदित करते हैं। सबसे बड़ी बात तो ये है कि स्थाई के शब्दों को इस ढंग से कहा जाता है कि रचना की पंक्ति में प्रतीक्षा का भाव होता है और सम सामने आता दिखाई देता है। परन्तु गायक ताल की मात्राओं को गिनकर ऐसा नहीं करता है। ताल उसके चित्त और मन में जम जाती है। गायक के दिमाग में लय समां जाती है और वह उसको गिनता नहीं। जब किसी गायक या वादक में इस तरह की लय होती है तो वह लय के बहुत से चमत्कार दिखा सकता है। मानना पड़ेगा कि घरानों के मुकाबले में आगरा घराना, जैसी उम्दा लय देखता है, यह बात कहीं और नहीं मिलती है। स्वर और लय का इतना पारस्परिक संबंध, ऐसा कलात्मक संश्लेषण और ऐसा सम्मिश्रण कहीं और नहीं मिलता। इस तरह गायक और तबला वादक में इस प्रकार का प्रजातांत्रिक सहयोग कहीं और नहीं मिलता। इस गायकी में तबला वादक केवल ठिकैत अथवा संगत करने वाला दास नहीं होता परन्तु साथी और सहयोगी होता है। आगरा घराने की लय न विलंबित और न मध्य लय से तेज होती है। ऐसी ही लय में राग, रचना, भाषा, भाव, तान, लय, सबका पूरा आनंद आता है। इसलिये इस गायकी को हम बहुमुखी और सर्वांगसम्पन्न गायकी कहते है। स्वर और लय इस गायकी के हृदय की धड़कने हैं। इस घराने की विशेषताओं के संबंध में श्री वी०एच०देशपांडे का कहना है कि इस घराने में आवाज़ लगाने की पद्धति अनुशासित, कुछ खुरदुरी तथा स्वर व लय के पेंचदार काम से युक्त है। इस घराने की गायकी में सरलता (Simplicity), गौरव (Dignity) और संयम (Restraint) दिखाई पड़ता है और इन सबके अतिरिक्त इनके भाव प्रदर्शन में, भाषा में तथा उच्चारण में एक वैचित्र्यपूर्ण भाव (Romantic expression) दिखाई पड़ता है। ग्वालियर घराने की गायकी का तेज व

चैतनत्व (Vigour & Vitality) तथा अन्य पुरूषत्व गुण केवल इन्होंने स्वर विस्तार व कल्पनात्मक बढ़त के लये प्रयुक्त किये। परंतु फिर भी वह गायन में एक प्रकार की गहराई (गाज या आयतन) लाने में अवश्य सफल हुये हैं। किराना और आगरा घराने की तुलना करते हुये आपने कहा है–

"किराना घराने ने रगड़–रगड़ कर आवाज़ एकदम चिकनी बना डाली तो इन्होंने उसे खुरदुरा बना डाला। इस घराने के द्वारा जिस कला का निर्माण किया गया था वह थी किसी भव्य वस्तु के समान। किलों के बुर्ज बनाने हो तो उसके लिये चिकने पत्थरों की क्या जरूरत है।"

आपके कथनानुसार इस घराने की गायकी में योद्धा की मस्ती भरपूर है। लयकारी प्रधान गायकी होने के कारण इस प्रणाली के सभी गायक ताल के बहुत पक्के हैं। परन्तु संगीतज्ञों का कहना है कि इस गायकी में जोश, लयकारी, बंदिश का सीधा अनुशासन, कायदे आदि बातों को ध्यान में रखने के कारण स्वरों के कोमल व नाजुक प्रयोग तथा कलात्मक बारीकियाँ इस घराने की गायन शैली में स्थान न पा सकी। आगरे घराने की गायकी व उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा को समृद्ध करने वाले कलाकारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

उस्ताद फ़ैयाज़ खाँः

प्रत्येक युग में कुछ ऐसे असाधारण, महान और प्रतिभाशाली व्यक्ति होते हैं जो उसकी प्रवृत्तियों, अभिलाषाओं, विशेषताओं और गुणों की प्रतिमूर्ति बन जाते हैं। वह अपने युग के केवल प्रतीक ही नहीं बन जाते हैं परन्तु उसका वह निर्माण भी करते हैं। ऐसे ही लोग अपने युग के सच्चे प्रतिनिधि होते हैं और उसके असली चरित्र को प्रकाशित करते हैं। जैसे कोई एक युग अपने महान पुरूषों का जन्मदाता बन जाता है उसी प्रकार वह भी उस युग का अपने ही हाथों से निर्माण करते हैं। जिस प्रकार काल, समय और सांस्कृतिक वातावरण मिलकर कला की विलक्षण प्रतिभा को जन्म देते हैं उसी तरह असाधारण प्रतिभा अपने काल और समय की सृष्टि करती है। मानव इतिहास में हमें इस विशेष बात का प्रमाण मिलता है।

उस्माद फ़ैयाज़ खाँ 20 वीं शताब्दी में अपने युग की अमूल्य देन है। परन्तु इसके साथ–साथ यह हिन्दुस्तानी संगीत के एक बीते हुए काल की जीती–जागती परंपरा के सुनहरे प्रतीक भी थे और उसके अतीत की सुनहरी यादगार भी थे। वह उन संगीतज्ञों में थे जो हमारे संगीत के भूले हुये दिनों की ताजा यादगार थे। उनके संगीत में अतीत के संगीत के स्वर गूँज उठते थे। वह हिन्दुस्तानी संगीत की परंपरा की साक्षात् सजीव मूर्ति थे। पुराने युगों में लोग मानते थे कि परंपरा, संगीत की रीढ़ की हड्डी है, जिसके बगैर वह सीधा खड़ा नहीं हो सकता था। संगीत की परंपरा ही में संगीत की प्रामाणिकता होती है। उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ इसी परंपरागत संगीत की अमूल्य देन थे। उनके गायन में संगीत की परंपरा और संगीत कला दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण था। उनके व्यवहारिक संगीत में "तालीम" और कला–चमत्कार का यथोचित् सहयोग था। इस कारण संगीत के विकास में घरानों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। इनका बड़ा गहरा संबंध गायकी, कला–कौशल और रागों की व्याख्या से रहा है। प्रत्येक प्रतिष्ठित और सम्मानित प्रथम श्रेणी के घराने ने अपनी गायकी अथवा अपने बाज की स्थाई छाप अपने घरानेदार संगीत पर डाली है। हमारा सारा व्यवहारिक संगीत इन्हीं घरानों के माध्यम से हम तक पहुँचा है। घरानेदार गायकों के गायन में हमें शास्त्रीय संगीत की सच्चा व्याख्या मिलती है। इस प्रकार के संगीत प्रदर्शन में हमें तोड़ी की गंधार और मारवा की रिखभ का सही रूप दिखाई देता है। ऐसे सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाशाली गायकों को हम" **मुजस्सिम संगीत**" अथवा संगीत की प्रतिमूर्ति कह सकते हैं।

आधुनिक युग में फ़ैयाज़ खाँ ही आगरा घराने के सर्वश्रेष्ठ गायक थे। इन्हीं के गायन में इस घराने का संगीत अपने बहुपक्षीय प्रतिभा के उच्च्य शिखर पर पहुँचा था। उनके गायन में आगरा की संगीत कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। जिस पौधे को हाजी सुजान खाँ ने अकबर के युग में लगाया था उसमें बीसवीं शताब्दी के पहले भाग में एक पुष्प निकला जो गुलाब का फूल था और जिसमें किसी पिछले युग के संगीत की सुगन्ध थी। आगरे के पास सिकन्दरे में इनका जनम 1880 में हुआ था।

इनके पिता का नाम सफ़दर हुसैन था और इस कारण यह रमजान खाँ रंगीले से संबंधित होते हुये **"रंगीला"** घराने के वंशज भी थे। यह मुहम्मद अली खाँ के पोते थे और इनके नाना आगरा घराने के गुलाम अब्बास खाँ थे। अपने नाना से ही इन्होंने अपने बाल्यकाल से लेकर बहुत वर्षो तक संगीत की पूर्ण शिक्षा पाई। गुलाम अब्बास खाँ ने इन्हें केवल तालीम नहीं दी अपितु इन्हें देश भर में साथ घुमाया और तरह–तरह के संगीतज्ञों को सुनवाया। **"देख्या, सिख्या, परिख्या"** ऐसी पुरानी कहावत का ही उन्होंने पूर्ण पालन किया। संगीत में 'तालीम' और 'रियाज' बहुत आवश्यक है। परन्तु इनसे अधिक आवश्यक अनुभव और व्यवहारिक संगीत की परख है। एक गायक और दूसरे गायकों को सुनकर बहुत कुछ सीखता और समझता है। तरूण गायक फ़ैयाज़ खाँ को इस प्रकार का अनुभव आरंभ से ही मिला और उनकी प्रतिभा का विकास संगीत गोष्ठी और कला के पारस्परिक विचार–विनिमय के वातावरण में हुआ। व्यक्तिगत अनुभव, समझ–बूझ और वादकों से मेलजोल का अतिपरिचय और अतिसंसर्ग, यह सब व्यवहारिक संगीत के क्षेत्र में एक होनहार गायक की प्रतिभा को असाधारण और अकाल प्रौढ़ता की ओर प्रोत्साहित करते हैं। ऐसे वातावरण में एक गायक के विलक्षण साहस और उसकी आत्मनिर्भरता का भी पूर्ण विकास होता है। निडर, साहसी और होनहार गायक महफिल को एक दंगल ही समझता है और उसकी कुश्ती की हार जीत से उसका (हियाव) खुलता है।

तरूण गायक फ़ैयाज़ खाँ के जीवन की एक विशेष घटना से यह बात साफ हो जाती है। बंबई की एक महफिल में एक दिन पटियाले के सुविख्यात गायक उस्ताद फतह अली खाँ के परम शिष्य मियां जान खाँ का गाना हुआ। यह आगरा घराने वालों की महफिल थी जिसमें मियाँ जान खाँ निमंत्रित थे। आगरा घराने के प्रसिद्ध संगीतज्ञ मुहम्मद खाँ इस महफिल के मानों सभापति थे। मियां जान खाँ प्रौढ़ गायक थे और उस दिन उन्होंने बहुत ही अच्छा गाया। उनके गाने के बाद मुहम्मद खाँ ने इधर–इधर देखा कि अब उनके बाद कौन गायेगा। तरूण फ़ैयाज़ खाँ पर जब उनकी नज़र गई तो

उन्होंने यों ही पूछा "फ़ैयाज़ क्या इसके बाद गायेगा? इस होनहार गायक ने उत्तर दिया " आप हुक्म तो करें। इसके बाद जब उन्होंने गाया तो उन्होंने पहले मियां जान खाँ के गाने का नक्शा सुनाया और फिर अपना गाना शुरू किया। उस दिन वे बहुत ही अच्छा गाये। गाकर वह एक कमरे में चले गये जहाँ उनके कपड़े पसीने से तर थे। कुछ ही क्षणों में मियां जान खाँ भी वहाँ पहुँचे और उनके गाने को बहुत दाद देकर उनसे बोले "तुम्हारे क्या कहने। तुसी तो उस्ताद जादे हो।" यह एक उदारचित, प्रवीण, अनुभवी और नामी गायक की सच्ची दाद थी। आगे चलकर कुछ ही सालों में फ़ैयाज़ खाँ के गाने की धूम चारों तरफ मच गई। वह 'उस्तादज़ादा' अपने युग का सुविख्यात और बेजोड़ गायक बन गया। फ़ैयाज़ खाँ की उस तीसरे पहर की मुलतानी के स्वर अभी भी कुछ लोगों के कानों में फिर से गूँज उठते हैं। इस मुलतानी की याद उन्होंने ने फिर बहुत सालों के बाद इलाहाबाद के एक संगीत सम्मेलन में दिलाई। उस दिन मियां जान खाँ के घराने के शिष्य बड़े गुलाम अली खाँ उस मुलतानी को सुनकर रोमांचित हो गये थे। वह सामने ही बैठे थे। जैसे–जैसे वर्ष गुजरते गये उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ की विलक्षण प्रतिभा का पूर्ण विकास होता गया। आगरा घराने का यह सर्वश्रेष्ठ गायक शीघ्र ही शास्त्रीय संगीत का अद्वितीय और लोकप्रिय गायक बन गया। बंबई की उस महफिल के बाद उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ बड़े–बड़े राजदरबारों के भी कुशल, प्रतिभाशाली गायक बन गये। 1916-1925 तक बड़ौदा, बनारस और लखनऊ के अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों ने इनको सर्वश्रेष्ठ ख्याल गायक माना। इसके बाद 1950 के अंत तक उन्होंने न मालूम कितने संगीत–सम्मेलनों, राजदरबारों और महफिलों को अपने संगीत की गंगा में बहाया।

1915 में बड़ौदा नरेश के बुलवाने पर वह होली के संगीत समारोह में सम्मिलित होने के लिये बड़ौदा गये और महाराजा बड़ौदा उनके गाने से इतने अधिक प्रसन्न हुए कि वह दरबार के गायक नियुक्त हो गये और फिर वह जीवन भर 1950 तक वहीं रहे। बड़ौदा राज्य के गायक फैज़ मुहम्मद खाँ ने अपने देशाटन में फ़ैयाज़ खाँ की

खोज आगरे में की थी और महाराजा बड़ौदा से उनकी बहुत प्रशंसा भी की थी। इसी कारण वह बड़ौदे के होली के जलसे में निमंत्रित किये गये थे। फ़ैयाज़ खाँ के नाम से बड़ौदा भी सारे भारतवर्ष में मशहूर हो गया था। उन्हें लोग **"बड़ौदे के फ़ैयाज़ खाँ"** के नाम से जानते थे। इन्दौर के राजा तुकोजी राव होल्कर ने 1918 में फ़ैयाज़ खाँ को होली के अवसर पर निमंत्रित किया। इस विशेष संगीत समारोह में भारतवर्ष के सभी प्रमुख गायक जमा हुए थे और यह एक शहाना जलसा था। महाराजा साहब ने फ़ैयाज़ खाँ को ऐसी इज़्ज़त दी कि दरबार में उन्हें बिल्कुल अपने पास बिठाया और उनका गाना सुना। महाराजा मैसूर ने उन्हें फिर से दुबारा 1924 में बुलाया और उनका गाना सुनकर इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें रियासत का राजचिन्ह और बहुमूल्य रत्नों से जड़ा हुआ एक कंगन पहनाया गया और उन्हें **"आफ़ताबे-मूसीकी"** की उपाधि दी गई। भातखण्डे जी इन्हें अपने साथ एक महीने के लिये कश्मीर रियासत भी ले गये थे और इन्हें फरमाइश कर करके खूब सुना। स्व0 भातखण्डे जी के पाँचों संगीत–सम्मेलनों में वह सम्मिलित थे। लखनऊ के 1924 और 1925 के संगीत–सम्मेलनों में वह सम्मिलित हुए और उनको सर्वश्रेष्ठ ख्याल गायक माना गया। कलकत्ते, बम्बई, देहली, बनारस और इलाहाबाद ऐसे शहरों के संगीत सम्मेलनों में भी वह जाते रहे और हजारों श्रोताओं को आनन्द से भरते रहे।

उनके शिष्यों में बहुत से अच्छे गायक हुए हैं। उनके घराने के होनहार गायकों में सबसे अधिक शिक्षा अता हुसैन खाँ ने पाई थी और उनके प्रतिभाशील शार्गिदों में थे और यदि उनकी अकाल मृत्यु न होती तो बहुत नाम कमाते। अता हुसैन खाँ के शिष्य शराफत हुसैन को भी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि इन्हें स्व० खाँ साहब का बहुत सत्संग मिला। परन्तु जिन होनहार गायकों में उनकी थोड़ी बहुत छवि मिलती थी उनमें प्रमुख आगरे के असद अली खाँ थे जिन्हें तसद्दुक हुसैन खाँ से तालीम मिली थी परन्तु वह फ़ैयाज़ खाँ के गाने की अच्छी नकल करते थे। वह पाकिस्तान जाकर वहाँ बस गये। सच पूछा जाय तो घराने के तरूण गायकों के अलावा दूसरे घरानों के

गायक भी उन्हें अपना गुरू मानते थे जिनमें अतरौली के अजमत हुसैन का नाम बहुत हुआ था। बंगाल के तरूण और होनहार गायकों में भीष्मदेव चटर्जी और ज्ञान गोस्वामी भी उनके शिष्य हो गये थे। उनके गाने में (खाँ साहब) ऐसा जादू सा प्रभाव था कि फिल्म गायक स्व० के०एल० सहगल भी उनके शिष्य हो गये थे और उन्हें अपना पूज्य गुरू मानते थे। इसी तरह लखनऊ के कथक घराने के मशहूर कलाकार लच्छू महाराज भी उनके शिष्य बन गये थे। स्व० शम्भू महाराज भी उनको "अब्बा" कहकर पुकारते थे और उनके परम भक्त थे। तबला सम्राट उस्ताद 'अहमद जान थिरकुआ' उनके संपर्क में बहुत रहे। पढ़े–लिखे और शिक्षित गायकों में जो उनके शिष्य थे उनमें संगीत के विद्वान स्व० श्रीकृष्ण नारायण रातनजंकर का नाम सबसे पहले आता है। जिन्हें स्व० भातखण्डे जी के अनुरोध से फ़ैयाज़ खाँ ने तीन–चार वर्ष तक शिक्षा दी थी। स्व० खाँ साहब के दूसरे सभ्य और शिक्षित शिष्य दिलीप चन्द्र बेदी थे जो पहले पं० भास्कर राव की सेवा में थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् उन्होंने फ़ैयाज़ खाँ का आश्रय ढूँढा और उनके शिष्य हो गये। जैसा पहले कहा गया है कि यह इतने आजाद तबियत के व्यक्ति थे और इनमें ऐसी प्रखर बुद्धि और दिलेरी थी कि वह किसी भी गायकी के गुलाम नहीं बनना चाहते थे। इन्होंने अपनी आवश्यकतानुसार अपनी एक अलग गायकी का निर्माण किया था जिसमें न तो भास्कर राव की गायकी के नक्शें थे और न फ़ैयाज़ खाँ की गायकी के ही कोई लक्षण थे। इनकी गायकी अनेक फूलों का गुलदस्ता था जिसमें अधिक सुगन्ध पंजाब के संगीत की थी।

उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ ख्याल गायक क्यों माने गये? इसका उत्तर हम उनके संगीत की विस्तारपूर्वक व्याख्या करके ही दे सकते हैं। पहली बात तो ये है कि आगरा घराने की गायन कला की समीक्षा करके ही हम उनके गायन के महत्व को ठीक–ठीक समझ सकते हैं। परंतु इसके साथ–साथ यह भी सच है कि उनकी गायन कला की व्याख्या करके ही हम आगरा घराना की गायन कला को ठीक–ठीक समझ सकते हैं। उनका गायन आगरा घराने की शैली का सबसे शानदार

और सबसे उत्तम उदाहरण था। किसी घरानेदार गायक का उसके घराने की गायकी से बड़ा गहरा संबंध होता है। आगरा घराने की गायकी क्यों उत्तम मानी जाती है? इसका पहला कारण तो ये है कि इस गायकी का संबंध ग्वालियर गायकी से है। इसके उत्तर में ये बताना आवश्यक है कि ख्याल गायन की सबसे मौलिक, प्रथम और श्रेष्ठ गायकी ग्वालियर की गायकी ही मानी गई है।

ग्वालियर गायकी के अनुशासन की सात्विकता की जगह आगरा गायकी में एक नई रमणीक भावुकता का प्रवेश हुआ जिसने कल्पना शक्ति के सहारे गायकी की रोचकता को बहुत बढ़ाया। इस प्रकार कला की तकनीक और शैली का औपचारिक आडंबर, गायन की कलात्मक और मौलिक व्याख्या के अधीन हो गये। राग की व्याख्या और बंदिश के कला–चातुर्य को प्रधानता मिली ओर इनके सहयोग से जिस संगीत का जन्म हुआ उसमें एक नया व्यक्तित्व था। ग्वालियर गायकी के प्रभाव से आगरा घराने की गायकी में प्रतिष्ठा की भावना आ गई जिसके साथ एक तरह का संयम भी जुड़ा हुआ था। परन्तु इस गायकी में एक रोबीलापन था, शान थी, शोभा थी, जो गायकी के आत्मसम्मान की भावना से प्रेरित थे। इस गायकी के पुरूषत्व में एक रोब और दबदबा था जिसमें कला के वैभव और इसकी मर्यादा का संकेत था। लागडाँट इस गायकी का प्राण था। श्रोताओं के लिये भी इस गायकी में एक तरह के सौष्ठव की भावना थी। ग्वालियर की गायकी के आधार पर इस गायकी ने सरलता और विश्वव्यापकता के मूल सिद्धान्तों का पालन किया। जो कला सहज और सरल होती है वही सबसे अधिक विश्वव्यापी भी होती है। परन्तु सरलता और प्रतिष्ठा के साथ–साथ इस गायकी में संयम भी था जिसमें सन्तुलन की भावना भी थी। आगरा गायकी में संयम और सीमारहित कल्पना दोनों का योगदान था। इससे एक कलात्मक संश्लेषण का भाव भी उत्पन्न होता है। इस घराने के किसी अच्छे और कुशल गायक में कल्पनाशक्ति की उड़ान भी होती है और संयम भी होता है। यह गुण अक्सर एक दूसरे के विपरीत होते हैं और कभी–कभी एक दूसरे से सहमत नहीं होते। इस प्रकार किसी प्रकार का

सन्तुलन अथवा आंतरिक सहयोग इन दोनों में असंभव सा मालूम पड़ता है। परन्तु उस्ताद फैयाज़ खाँ के गायन में इन दोनों का प्रस्तुतिकरण होता था और दोनों के बीच में किसी भी विरोध की भावना नहीं थी। वह अपनी कल्पना को पूरी स्वतंत्रता देते थे परन्तु साथ ही उसकी उड़ान पर पूरा अधिकार भी रखते थे। इस कारण उनकी गायन कला में एक प्रकार का गाम्भीर्य भी था जिसे हम किसी प्रकार की कट्टर सात्विकता के नाम से नहीं पुकार सकते। यह सौम्य उनकी शैली का पोषक था और उसे वह कभी भी अव्यवस्थित नहीं होने देता था। जिस गायक को अपनी कल्पनाशक्ति पर इतना पूर्ण अधिकार होता है वह अपनी शैली को सदैव अनुशासनहीनता के दोष से बचा सकता है। उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ के गायन में इस प्रकार का विलक्षण संयम था। संगीत कला में किसी भी गायक का ऐसा अद्भुत मानसिक अनुशासन एक महान गुण होता है। उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ की गायन कला में इस गुण का कलात्मक प्रदर्शन होता था। उनकी शैली में गंभीरता और भावुकता, संयम और रोचकता इन सबका उचित सम्मिश्रण था और उनका भावात्मक सहयोग भी था। इस प्रकार का संश्लेषण बहुत कम गायकों के संगीत में मिलता है। आगरा घराने के और गायक अपनी-अपनी जगह व्यक्तिगत रूप से कुशल और प्रतिभाशाली गायक थे और अपने घराने की गायकी को बड़े अच्छे ढंग से गाते थे। परंतु उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ ही इस घराने के एक ऐसे गायक थे जिन्होंने अपने घराने की शैली पर अपने व्यक्तित्व की छाप डाली अथवा उसकी मुहर लगाई थी। उनके बुजुर्गों के बाद उनके ऐसा शक्तिशाली, प्रभावशाली और गंभीर व्यक्तित्व और किसी का नहीं था। गुलाम अब्बास खाँ के बाद उनके वंश और शिष्यों में ऐसे अनोखे व्यक्तित्व वाला गायक और कोई नहीं था।

पिछली शताब्दी के पहले भाग में ऐसा और कोई दूसरा ख्याल गायक पहले नहीं हुआ जिसका व्यक्तित्व ऐसा सर्वांगसम्पन्न हो और जिसकी प्रतिभा ऐसी बहुपक्षीय रही हो। ख्याल शैली के सर्वश्रेष्ठ गायक होने के अलावा उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ आलाप और होरी धमार के भी बेजोड़ गायक थे। ध्रुपद-धमार के घरानेदार गायक उनका आलाप

और उनकी होरी सुनकर बहुत चकित होते थे। ख्याल गायकों में केवल उनका ही इन कठिन गायन शैलियों पर पूर्ण अधिकार था। उनका आलाप और धमार गायन इस युग के ख्याल गायन के संसार की एक अविश्वसनीय घटना थी। सच तो यह है कि पिछले सौ वर्षो में ऐसा **''चौमुखा'** ख्याल गायक शायद दूसरा और कोई नहीं था। जैसा उनका अपना व्यक्तित्व था जिसमें फ़ैयाज़ में दिली अथवा उदारता के साथ प्रतिष्ठा और सहृदयता का सम्मिश्रण था और उसी तरह उनका गाना भी अनेक गुणों से सुशोभित था। उनका आलाप रूखा और नीरस नहीं था। उनकी शैली राग की दिमागी व्याकरण नहीं थी, उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ ने आलाप को हर तरह से रोचक और भावुक बनाया और आम जनता भी उसका आनंद लेने लगी। यह आलाप मन को लुभाने वाले और हृदय के सोये हुये भावों को जगाने वाला संगीत होता था। उसमें किसी विशेष भाषा के शब्द नहीं होते थे। **'नोम्-तोम्' 'अनन्त हरी नारायन'** ऐसे संकेत वाचक शब्दों की केवल उलट–पलट ही इस आलाप में होती थी। परन्तु यह एक नई और परिचित सी भाषा प्रत्येक भावुक श्रोता के लिये बन जाती थी। उनके आलाप की मूक, शब्दहीन भाषा जीते–जागते भावों की भाषा बन जाती थी।

सच तो ये है कि इस युग में उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ ही ऐसे बेजोड़ गायक थे जिन्होंने आलाप और धमार की कठिन और उत्तम शैली को इतना लोकप्रिय और रोचक बनाया। ख्याल गायक होते हुए भी उन्होंने ध्रुपद–पद्धति के व्यवहारिक संगीत का इतना जबरदस्त प्रचार किया। खाँ साहब की आलाप और धमार शैली का वर्णन करते हुये यह कहना पड़ता है कि उनकी राग व्याख्या और गायकों की राग व्याख्या से बहुत कुछ अलग थी। वह एक राग की सजीव मूर्ति का अपने गायन द्वारा निर्माण करते थे। अनेक स्वरों के माध्यम से ही किसी राग का निर्माण किया जाता था। गायक का उत्तरदायित्व है कि जब वह किसी राग की सृष्टि करे, उसका निर्माण करे अथवा उसके गायन में उसका जन्म हो तो वह उसका पोषक भी बने और उसे वस्त्र भी पहनाये, उसे सजाये–सँवारे भी। खाँ साहब ऐसे ही प्रतिभाशाली, जिम्मेदार गायक थे।

कोई भी राग किसी वस्तु अथवा पदार्थ से नहीं गढ़ी जाती। स्वर ही उसकी सामग्री होते हैं परन्तु गायक उन स्वरों में प्राण फूँकता है और इस कारण उसमें जीवन का प्रवेश होता है। दरबारी, पूरिया, देसी, टोड़ी, आसावरी, रामकली, यमनकल्याण, जैजैवन्ती, बरवा ऐसी रागों को जब वह आलापते थे तो लोग झूमने लगते थे। एक दिन बंबई में उनका कोमल आसावरी का आलाप सुनकर सुबह उस्ताद अल्लादिया खाँ की आँखों में आंसू आ गये। बहुत साल पहले बंगाल संगीत सम्मेलन की एक गोष्ठी में एक दिन वह राग देसी का आलाप इस निराले ढंग से गाये कि अलाउद्दीन खाँ बोले कि ऐसी देसी बहुत बरसों पहले उन्होंने एक बार सुनी थी और उसके बाद आज फिर सुनी।

उनके ख्याल गायन में कुछ विशेषताएँ थी जिन पर हमें ध्यान देना चाहिये। एक ख्याल गायक की हैसियत से उन्होंने अपनी किशोर अवस्था से इस बात को समझ लिया था कि निरन्तर परिश्रम ही सफल गायन की कुंजी है। संगीत साधना है और गायक साधक है। प्रत्येक राग का अपना अलग अस्तित्व होता है जिसे प्रकाशित करना प्रत्येक गायक की गायन कला का धर्म है। परंतु ख्याल गाने में जहाँ तक गायकी का प्रश्न है, सबसे बड़ी चीज है स्थाई और अन्तरे को किस ढंग से कहें कि रचना के शब्द नपी–तुली लय में मात्राओं के साथ बराबर सही उतरे। स्व० अल्लादिया खाँ ने एक बार गायकों के एक समारोह में कहा था कि जिस तरह से फ़ैयाज़ खाँ ख्याल की बंदिश के स्थाई और अन्तरे को कहते हैं, दूसरा नहीं कह सकता। उनकी यह प्रशंसा ही उनकी सबसे बड़ी समालोचना थी। उन्होनें ख्याल गायन को स्थाई और अन्तरे की कसौटी पर कस दिया था। यह बिल्कुल ठीक कहा था। जिस गान से उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ स्थाई व अन्तरे को कहते थे उसमें ताल, स्वर, राग और बन्दिश सबका आनन्द आता था। ब्रज भाषा का जैसा सही उच्चारण उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ करते थे ऐसा आज भी कोई गायक नहीं कर पाता। वह शब्दों की मिठास और उसके माधुर्य का भी आनन्द लेते थे और उनका बहुत अच्छा उच्चारण करते थे। उसका कारण यह था कि वह खुद ब्रजभाषा में **'प्रेमपिया'** के नाम से रचना करते थे। जिस आसानी से वह अपने सम पर आते थे वह

ऐसा लगता था कि मानों हर श्रोता का सिर अपने आप लय पर हिलता था। मालूम होता था कि लय का प्रवेश श्रोताओं के शरीर में हो गया है और संगीत के आनन्द से उसमें एक तरह की स्वाभाविक गति पैदा हो गई है।

इसके अलावा वह अपनी बंदिश को सजाते और सँवारते भी थे। वह बड़ी समझ और परख से आभूषणों को चुनते थे। इस प्रकार की चयनशीलता में उनकी कल्पना शक्ति का बहुत हाथ होता था। उनकी विलक्षण प्रतिभा ही इस बात का अंतिम निर्णय करती थी। इस बात में उन्हें अपने श्रोताओं का अनुमोदन भी प्राप्त हो जाता था। मींड, सूत, गमक, तान, बोलतान, मट्ठी की तान, सट्टे की तान, सीधी, सरल तान, स्वरों के बहलावे, स्वरों का लगाव, स्वरों की पुकार, शब्दों का भावुक कलात्मक उच्चारण, स्थाई–अन्तरे का भराव तथा राग की कलायुक्त व्याख्या– यह सब गुण उनके गायन में थे। परन्तु उनका अलग–अलग प्रयोग बड़े उचित ढंग से किया जाता था। संयम, नियंत्रण, संतुलन, प्रतिष्ठा, शोभा, शान, कल्पना, भावुकता, रोचकता, रंजकता, राग व्याख्या का कौतुक, गांभीर्य, मधुर लालित्य और राग व बंदिश का कलात्मक संश्लेषण यह विशेषताएँ और यह सब गुण उनकी गायन कला के अंतर्गत थे। उनका अपना निजी व्यक्तिगत संगीत होता था, जिस पर उनके व्यक्तित्व की छाप होती थी। उन्होंने अपने घराने की गायकी को अपने ढंग से कलायुक्त और परिमार्जित बनाया तथा उसे भावुक और सुन्दर भी बनाया।

अंत में हम उनकी बहुमुखी प्रतिभा के बारे में दो–चार शब्द कहना चाहेंगे। उनके ऐसे अपूर्व बुद्धि के गायक जिनकी विलक्षण प्रतिभा के बहुत से पक्ष थे, प्रत्येक शैली को संगीत का सशक्त, भावुक और प्रतिभाशाली माध्यम मानते थे। शैली कोई भी हो गायक उसको अपनी कला से उत्तम और रोचक बना सकता है। जिस मिट्टी के बर्तन में संगीत का अमृत डाला जायेगा वह सोने का बर्तन बन जायेगा। शैली तो संगीत का माध्यम है जिसे गायक अपनी प्रतिभा के बल पर ही प्रयोग में लाता है। इसका प्रमाण हमें उस्ताद फ़ैयाज़ ख़ाँ की गायन कला में मिलता था। 'मुकुन्द पर वारी

जाऊँ नागर नन्दा' ऐसी एक पंक्ति को ही ख्याल की स्थाई की तरह राग इमनकल्याण में दो घंटे तक गा सकते थे अथवा एक पुराने ग़ज़ल की पंक्ति 'मुस्कुराते जाते हैं कुछ मँ से फरमाने के बाद अथवा ' पीके हम तुम जो चले मयखाने में' को वह बड़े भावुक और कलात्मक ढंग से राग में डूबे बड़ी देर तक गा सकते थे। परन्तु वह ग़ज़ल सस्ता संगीत न बनकर शास्त्रीय संगीत बन जाता था अथवा बनारस का वह दादरा 'रंग चुये रे चुनरिया मोरा खबरिया न ले' अथवा 'मोरे जुबना पर आई बहार बलम परदेसा न जइयो' को भी वह बड़े अनोखे ढंग से घंटे भर गा सकते थे और अपने सुनने वाले को अपने गायन से भावविह्वल कर देते थे। फिर वह भैरवी की ठुमरी के 'बेदरदा दरदिया न जानी बाई छुंनलिया में पीर' ऐसे बोलों को गाकर भी लोगों को तड़पा सकते थे अथवा बैठे एकाएक मौज में आकर वह अपने दादरे के बोल 'तू प्रेम की नज़र सों नजरिया मिलाये जा' बड़ी भावुकता और तन्यमता से कहकर सुनने वालों को बेहाल कर देते थे। इन्हें इतनी अच्छी–अच्छी होलियाँ याद थी कि उनकी खास सोहबत के आदमी उनसे हर बार एक नई होली सुनते थे जिनके शब्द इस तरह के होते थे जैसे–'सैया से पिचकारी ऐ छिनालों' अथवा 'बरजोरी करे रंग डार' इत्यादि। इनमें कुछ खास ब्रज के क्षेत्र की होलियाँ भी होती थी जो आमतौर से गाई नहीं जाती है। अबीर–गुलाल और रंग का पूरा आनंद उनके गायन से ही आता था। यथार्थ में वह ब्रज के रसिया थे।

शास्त्रीय संगीत में तराना, टप्पा, दादरा से लेकर ध्रुपद, धमार, आलाप, ख्याल इन सब शैलियों को वह एक ही तरह की निपुणता से गा सकते थे। चाहे वह जहाँ गाये, रेडियो से, संगीत सम्मेलनों में, दरबार में, जलसे में, कमरे में उनका गायन सदैव निराले ढंग का गाना होता था। फ़ैयाज़ खाँ का गाना फ़ैयाज़ खाँ का ही गाना था। आश्चर्य तो इस बात का था कि मियां की टोड़ी का आलाप करके उसकी होरी गाकर जब वह उसका ख्याल गाते थे तो हर बदलती शैली के साथ उनके संगीत का स्वभाव भी बदलता जाता और उसके साथ उसकी चित्तवृत्ति और भावना भी बदलती

जाती थी। इसके बाद जब वह भैरवी की ठुमरी 'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाय' शुरू कर देते थे तो वह अपने साथ अपने श्रोताओं को भावुकता और कोमल कल्पनाओं के दूसरे संसार में ले जाते थे। और यदि वह अपना मशहूर दादरा–'बनाओ बतियाँ चलो काहे को झूठी' तो वह भावुकता और कला के एक दूसरे संसार में पहुँच जाते थे। गांभीर्य, संयम, संतुलन और प्रतिष्ठा से लेकर रोचकता, भावुकता, कल्पना और भावना के सूक्ष्म संकेतों तक उनके बहुमुखी संगीत की तीनों सप्तकें पूरी हो जाती थी। उनके व्यक्तित्व का इतना विस्तृत क्षेत्र और उनका फैलाव उनकी बहुमुखी प्रतिभा को प्रकाशित करता था। संगीत की तरह–तरह की शास्त्रीय और लोकप्रिय शैलियों के लिये उनके पास अलग–अलग मिजाज़ अथवा स्वभाव था। अपने मिजाज़ को प्रत्येक शैली के लिये अनुकूल बनाना और फिर उस शैली को एक उत्तम कला बनाकर गाना फ़ैयाज़ खाँ, ऐसे गायक ही कर सकते थे। भावों के संसार वह अपने हर श्रोता को एक हकीकत से मजाज़ तक ले जाते थे और गांभीर्य से चंचलता तक की कोमल कल्पनाओं का प्रदर्शन कर सकते थे। ऐसे गायक के गायन में हिन्दुस्तानी संगीत की ऐसी कल्पनात्मक, भावुक और सर्वव्यापक व्याख्या किस और गायक के संगीत में मिलती है? उस्ताद फैयाज़ खाँ आधुनिक संगीत की अमूल्य देन थे। उन्हें भूलना आसान नहीं है। वह सचमुच में **'आफ़ताबे-मूसीक़ी'** थे क्योंकि 1950 ई० में उनके निधन पर संगीत का सूर्य अचानक डूब गया।

उस्ताद विलायत हुसैन खाँ :

आगरा घराने के सुप्रसिद्ध और श्रेष्ठ गायक फ़ैयाज़ खाँ का 1950 में निधन होने के पश्चात् उस्ताद विलायत हुसैन खाँ ने इस प्रतिष्ठित घराने की बागडोर अपने हाथ में ली। सच पूछा जाय तो किसी ऐसे नामी और अद्भुत प्रतिभा वाले गायक की जगह घराने का और कोई गायक नहीं ले सकता था। विलक्षण और अद्भुत प्रतिभा का उत्तराधिकारी बन जाना और बात है किन्तु उसकी मौलिक कला की अच्छे ढंग से व्याख्या करना बिल्कुल दूसरी बात है। उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ ऐसे सर्वांगसम्पन्न गायक की

जगह लेना जिसकी विलक्षण प्रतिभा बहुमुखी थी और जो आलाप, होरी, धमार, ख्याल से लेकर ग़ज़ल, ठुमरी और दादरा तक हर शैली पर पूरा कब्जा रखते थे। जो कोई आसान बात नहीं थी। विलायत खाँ एक सच्चे आदमी थे और यह इस बात को जानते थे। उस्ताद फ़ैयाज़ को वह अपना बुजुर्ग और बड़ा ही नहीं मानते थे अपितु श्रृद्धापूर्वक उनका बहुत ही अधिक आदर करते थे।

उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ के बाद आगरा घराने के संरक्षक उस्ताद विलायत हुसैन खाँ ही थे। वह हर तरह से इस योग्य थे कि वह अपने घराने की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखें। वह आगरा घराना के प्रतिष्ठित गायक नत्थन खाँ के चौथे पुत्र थे और उनका जन्म आगरा में 1895 में हुआ था। छः वर्ष की आयु तक वह अपने पिता के साथ मैसूर में रहे। जब 1901 में उस्ताद नत्थन खाँ का का देहान्त हुआ तब वह अपने छोटे दादा कल्लन खाँ और जयुपर वाले मुहम्मद बख्श के पास चले गये । यहीं पर इनकी संगीत शिक्षा का और उर्दू, हिन्दी, फ़ारसी की पढ़ाई का आयोजन हुआ। इनकी प्रारंभ की सैद्धान्तिक शिक्षा जिससे इनको स्वर ज्ञान, ताल ज्ञान, राग–ज्ञान और गायकी की समझ पैदा हुई, इनको जयपुर के उस्ताद करामत खाँ और अपने छोटे दादा कल्लन खाँ से ही मिली। वैसे तो उस्ताद विलायत हुसैन खाँ अपने बयालिस उस्ताद मानते थे परंतु उनको अपने घराने के बुजुर्गों से ही अपनी असली शिक्षा मिली थी। मगर यह भी सच है कि संगीत विद्या का प्रेम उन्हें मजबूर करता था कि वह भिन्न–भिन्न रागों और बन्दिशों की खोजबीन करें। यही कारण था कि उनके पास तरह–तरह के रागों और तरह–तरह की चीज़ों का जबरदस्त खजाना था। उनके गुलदस्ते में तरह–तरह के फूल थे। इस बात में वह अपने सबसे बड़े भाई मुहम्मद खाँ की तरह थे जो अप्रचलित रागों और टकसाली बन्दिशों के विद्वान विशेषज्ञ थे। हम उस्ताद विलायत हुसैन खाँ को आगरा घराने का एक प्रतिष्ठित और सम्मानित गायक ही मानते है और यह भी मानते है कि वह अपने जीवन काल में इस घराने की परंपरागत गायकी के सर्वोच्च्य टीकाकर थे। उनके जीवन काल के अंत तक इस घराने की मर्यादा पूर्ण रूप से सुरक्षित रही।

जब हम उनकी गायन कला और गायकी का मूल्यांकन करने बैठते हैं तो सबसे पहली बात जो हमारे सामने आती है वह यह है कि उनकी संगीत शिक्षा बड़े अच्छे ढंग से हुई थी और उसमें कभी कोई कमी नहीं आई थी। उनकी प्रारंभिक शिक्षा दो अद्वितीय अनुभवी गायकों से हुई जो जयपुर के प्रसिद्ध ध्रुपद गायक करामत खाँ और उनके छोटे–दादा कल्लन खाँ थे। ये दोनों बड़े नामी अनुभवी गायक के साथ बेजोड़ शिक्षक भी थे। अपने छोटे दादा के अलावा उन्होंने उनके सुपुत्र उस्ताद तसद्दुक हुसैन और भारत विख्यात उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ से भी शिक्षा प्राप्त की। जैसा कहा जाता है कि **हंसन की गति हंसहि जाने** उस्ताद विलायत हुसैन ने और भी गुणीजनों से संगीत विद्या का उपार्जन किया था। इसके अलावा इनको सदैव यह भी अवकाश मिला कि यह अच्छे–अच्छे नामी गायकों को सुने और अन्य घरानों को सुनने से संगीत ज्ञान की उन्नति होती है और तरह–तरह की स्वरों की तरकीबें कानों में पड़ती है जिससे अपनी गायकी को भी एक नया प्रोत्साहन मिलता है। जयपुर, बंबई एवं अन्य स्थानों में भी इन्हें इस प्रकार का अनुभव बराबर मिलता रहा। अपने बुजुर्गों के पीछे तंबूरा छेड़कर गाने से भी उन्हें अपनी घरानेदार गायकी का और गहरा ज्ञान हुआ। उस्ताद विलायत हुसैन खाँ "शैली ही असली कलाकार होती है" ऐसे कथन को अपने गायन से प्रमाणित करते थे। उनकी गायन–कला उनके व्यक्तित्व का सच्चा दर्पण था। जैसे वह थे वैसा ही वह गाते थे और वह किसी दूसरे नकली व्यक्तित्व के सहारे जनता के सामने नहीं आते थे। प्रत्येक प्रवीण और प्रतिभाशाली गायक जिसमें आत्मबल और आत्मनिर्भरता की प्रेरणा होती है, अपने व्यक्तित्व का जनता में किसी न किसी ढंग से प्रवेश अवश्य करता है और उसको उसके मानस पटल पर अंकित भी करता है। वह अपनी गायन कला के माध्यम से अपने असली व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है। उस्ताद विलायत हुसैन खाँ ऐसे गायक अपने किसी दूसरे बनावटी व्यक्तित्व पर निर्भर नहीं रहते थे। उनका एक ही व्यक्तित्व था जो उनके गाने से भी प्रकाशित हो जाता था। उनके संपर्क में जो कोई भी रहा है वह जानता है कि वह एक पढ़े लिखे, सभ्य और शिष्ट व्यक्ति थे जिनमें सौम्यता अथवा कुलीनता कूट–कूट कर भरी थी।

वह अपने सभा–चातुर्य के माध्यम से तरह–तरह के लोगों से अपना पूर्ण समंजन कर लेते थे। गायकों और वादकों के व्यापक समाज से भी उनका उचित समंजन था। वह उन गायकों में से थे जो अपने श्रोतागण से भी एक प्रकार का भावात्मक समंजन स्थापित कर लेते थे। कला चातुर्य के अलावा जिस गायक में इस तरह की क्षमता अथवा कुशलता होती है उसको हम एक कुशल और बुद्धिमान गायक ही मानेंगे। यही कारण था कि वह अपने गायन को केवल चमत्कार या कौतुक का ही पोषक नहीं बनाते थे। हम इनके गाने को साफ सुथरा और ख्याल शैली के नियमों के अनुसार व्यवस्थित अथवा यथाक्रम गायन की मानते है। ख्याल की रचना के स्थाई और अन्तरे को शैली के सिद्धान्तों के अनुसार ही वह उचित और कलात्मक ढंग से भरते थे। इस मूल सिद्धान्त की अपेक्षा वह कभी नहीं करते थे। किसी ख्याल रचना के शब्दों के लालित्य को वह उनके सही और सुन्दर उच्चारण के द्वारा प्रकाशित करते थे और उस रचना की कविता का भी आदर करते थे और ख्याल गायकों की तरह वह रचना के शब्दों के महत्व को कभी नहीं भूलते थे। उनकी रचना के शब्द साफ–साफ सुनाई देते थे और वह उन शब्दों का सही कलात्मक उच्चारण अपने गायन में करते थे। एक गायक की हैसियत से वह अच्छे संगीतकार भी थे और उन्होंने बहुत सी चीजों की रचना भी ''**प्राण पिया**'' के नाम से की, जो उनके बहुत से शिष्य अभी भी गाते हैं।

जैसा पहले कहा गया है कि अपनी शैली से ही एक कलाकार पहचाना जाता है। उस्ताद विलायत हुसैन खाँ का व्यक्तित्व भी उनकी शैली से प्रकाशित होता था। उनके ख्याल गायन में भी एक तरह की शिष्टता अथवा सौम्यता थी। पहली बात तो यह थी कि उनकी रागों का शास्त्रीय आधार हमेशा प्रामाणिक होता था और वह अपने गायन से अपनी राग व्याख्या को प्रमाणित करते थे। जैसा शास्त्रों में संगीत का सैद्धान्तिक आधार बताया गया है उसका ही पालन वह करते थो। किसी विशेष ताल में वह किसी विशेष टकसाली अथवा घरानेदार बंदिश को बड़े धैर्य व इत्मीनान से गाते थे जिसमें लय और सुर दोनों का अपूर्व आनन्द होता था। उनका राग हमेशा सच्चा रहता

था चाहे वह पूर्वी हो या पूरिया कल्याण अथवा शुद्ध कल्याण या हेम कल्याण। वह चाहे बिहाग गाये या नट बिहाग, बरवा गाये या देसी, सूर मल्हार गाये या रामदासी मल्हार या ललित अथवा ललिता गौरी या फिर विभास। उनका राग हमेशा सच्चा ही रहता था। रही कला–कौशल अथवा कला चातुर्य की बात, वह अपनी बन्दिशों को ख्याल शैली के सामान्य अथवा प्रचलित आभूषणों से ही सुशोभित करते थे। तानें भी उनकी दानेदार, साफ होती थी और बड़े सुर में होती थी। उनकी गायन शैली का एक निराला गुण उनकी बोलतानों का चमत्कार था, यह बोलतान आड़ी–तिरछी लय में भी ली जाती थी और लय की आड़–कुआड़ में भी वह बड़े कलात्मक ढंग से बिठाई जाती थी। इनकी बोलतानों की रचना भी बड़ी सुन्दर होती थी और उनके साथ सम का आनंद चौगुना बढ़ जाता था। वह एक घरानेदार गायक तो थे ही परन्तु इसके साथ वह आलाप और होरी–धमार भी बहुत अच्छा गाते थे और इस विशेष शैली पर भी उनका पूरा कब्जा था। आलाप और ध्रुपद–धमार के बहुत से घरानेदार गायक और उनके विशेषज्ञ भी इस बात को मानते थे। इस बात में उस्ताद विलायत हुसैन खाँ आगरा घराने के सर्वश्रेष्ठ गायक उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ के पद चिन्हों पर ही चले। इस प्रसंग में यह याद दिलाना आवश्यक है कि आगरा घराने में ख्याल शैली के साथ ध्रुपद–धमार की शिक्षा की भी सुविधा रहती है। इस घराने के जन्मदाता और प्रारंभकर्ता अकबर युग के हाजी सुजान खाँ धमार शैली के विशेषज्ञ थे। यही कारण है कि इस घराने में इस शैली की परंपरा की अविच्छिन्नता रही है। इसी का पालन उस्ताद फैयाज खाँ ने किया और उसका अनुकरण उस्ताद विलायत हुसैन खाँ ने भी किया।

किन्तु उस्ताद विलायत हुसैन खाँ के निधन से केवल आगरा घराने में ही एक जगह खाली नहीं हो गई थी परन्तु आधुनिक संगीत के क्षेत्र में एक कमी आ गई है। इस देश ने एक सुयोग्य और अनुभवी गायक ही नहीं खो दिया परन्तु एक अनुभवी संगीत–शिक्षक भी खो दिया। न सिर्फ आगरा घराने के तरूण, होनहार गायकी को ही उनके देहान्त से धक्का पहुँचा है वरन् उनके और दर्जनों शागिर्दों को भी बहुत बड़ा

धक्का पहुँचा है। गायकों को और वादकों के समाज में वह विद्वता, ज्ञान, उदारता, नम्रता, इंसाफ, सहिष्णुता, शिष्टता, सौम्यता के प्रतीकात्मक उदाहरण और आदर्श थे। वह आधुनिक संगीत के एक विद्वान गायक और शिक्षक ही नहीं थे बल्कि उसके एक बहुमूल्य रत्न भी थे।

"उत्तम संगीत में अपूर्व आनन्द का जन्म होता है।" ऐसे कथन का वह पूर्णरूप से समर्थन करते थे। वह संगीत को गायन अथवा वादन को रस और भाव का प्रतीक ही मानते थे। वह स्वर और लय को मकड़ी का एक अद्भुत जाल नहीं मानते थे परन्तु उत्तम संगीत का निर्माण मानते थे। वह गायन कला में दिमाग के चमत्कार से अधिक महत्वपूर्ण ह्रदय की संवेदनशीलता अथवा सुग्राहिता को मानते थे। यदि ऐसा न होता तो वह उस्ताद फैयाज खाँ के निधन के कुछ ही समय बाद यह न कहते कि "भाई साहब के चले जाने से गाने-बजाने का मज़ा खत्म हो गया। अब तो ऐसा लगता है कि आजकल का संगीत एक बगैर दूल्हे की बारात के समान है।" इनके निधन पर भी ऐसा लगता है कि मानों आधुनिक संगीत का एक दैदीप्यमान रत्न खो गया।

श्री कृष्ण नारायण रातनजंकर :

श्री कृष्ण रातनजंकर को लखनऊ और उत्तर प्रदेश के लोग इनको **'प्रिंसिपल रातनजंकर'** के नाम से जानते थे। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में यह **'डॉक्टर रातनजंकर'** के नाम से भी पुकारे गये। जहाँ तक इनके असली और स्वाभाविक व्यक्तित्व का संबंध है इस देश के संगीत प्रेमी और श्रोता इन्हें **"प्रिंसिपल रातनजंकर"** के नाम से ही जानते थे। इन नामों में एक प्रकार निजी भाव तथा एक अपनाहट है और वह एक विशेष ढंग से संगीत-संसार से संबंधित हो गये है।

40-45 वर्ष से अधिक काल के पहले लखनऊ के 1925 वाले अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन के पश्चात् स्व० भातखण्डे जी और राजा नवाब अली के प्रयत्नों से उत्तर प्रदेश के गवर्नर मैरिस के नाम से लखनऊ में पुराने जहाँगीराबाद हाउस में

'मैरिस म्यूजिक कालेज' 1926 में खोला गया जिसमें शिक्षा देने के लिये अच्छे शिक्षक नियुक्त किये गये। इनमें लखनऊ के तबलावादक आबिद हुसैन और गायकों में उस्ताद अहमद खाँ, उस्ताद मुन्ने खाँ, उस्ताद नसीर खाँ आदि के नाम उल्लेखनीय थे। इनके अलावा और भी शिक्षक थे जिनमें सबसे अधिक प्रतिभाशाली भी कृष्ण नारायण रातनजंकर थे जो कुछ समय पश्चात् इस कालेज के प्रिंसिपल नियुक्त कर दिये गये थे। आरंभ में इनका गायन इतना अधिक लोकप्रिय बन गया था कि लोग विशेष रूप से कॉलेज वाले इन्हें **"मास्टर श्री कृष्ण"** के नाम से ही पुकारते थे। यह इनके व्यक्तित्व का पहला रूप था और इसमें एक विशेष आकर्षण था– स्नेह का एक घरेलूपन अथवा अपनापन। यह उनका अपना और उनके गायन संगीत का यौवनकाल था। वह एक सोने के सिक्के के समान थे जिस पर फ़ैयाज़ खाँ की छाप पड़ी हुई थी। यहाँ पर आने से पहले उनको अपने दो गुरूओं का आशीर्वाद मिल चुका था। संगीत शास्त्र में उनके असली गुरू भातखण्डे जी थे और गाने में उनके गुरू आगरा घराने के सर्वश्रेष्ठ गायक फ़ैयाज़ खाँ थे। इन दोनों ने अपनी–अपनी शिक्षा देकर इनको हर तरह से एक सुयोग्य और प्रवीण संगीतज्ञ व गायक बनाया था। भातखण्डे जी ने ही इन्हें बड़ौदा के उस्ताद फैयाज खाँ का शिष्य बनवाया। सच तो यह है कि संगीत के मामले में भातखंडे जी बड़े सूक्ष्मग्राही और दूरदर्शी व्यक्ति थे। भातखण्डे जी यह भलीभाँति जानते थे कि उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ रंगीला घराने के वंशज होने के अलावा आगरा घराना के सम्मानित गायक और संरक्षक गुलाम अब्बास के नवासे भी थे और उनसे अपने बाल्य काल में संगीत की शिक्षा भी पाई थी। इसके अलावा भातखण्डे जी इस बात को भी जानते थे कि उस्ताद फ़ैयाज़ की प्रतिभा विलक्षण और बहुमुखी थी। वह केवल आगरा घराने के सर्वश्रेष्ठ गायक ही नहीं थे अपितु वह आलाप और होरी–धमार में भी पारंगत थे और ख्याल, ठुमरी, दादरा और ग़ज़ल जैसी रोचक लोकप्रिय शैलियों को भी कलात्मक ढंग से गाते थे। उनके ऐसा सर्वांगसम्पन्न ख्याल गायक उन्हें और कहाँ मिलता? यही कारण था कि उन्होंने अपने शिष्य श्री कृष्ण नारायण रातनजंकर को उस्ताद फ़ैयाज़

खां के पास संगीत शिक्षा के लिए भेजा। महफिल का व्यवहारिक संगीत वह उन्हीं से सीख सकते थे और ऊँची घरानेदार गायकी की शिक्षा भी उन्हीं से प्राप्त कर सकते थे।

संगीत की शास्त्रीय रूपरेखा और उसका सारगर्भित ज्ञान तो उन्हें अपने गुरू और संरक्षक भातखण्डे जी से मिला था। उन्हें बड़ौदा में सरकारी छात्रवृत्ति भी मिल गई थी और उन्होंने बी० ए० तक की शिक्षा भी ली थी। भातखण्डे जी की यह हार्दिक अभिलाषा थी कि उनका यह सुयोग्य, होनहार शिष्य एक सुयोग्य गायक बने। इस बात का सुबूत उन्हें लखनऊ के 1924 और 1925 के संगीत–सम्मेलनों में मिल गया जब ख्याल गायकों में संगीत–सम्मेलनों के विद्वानों की सलाहकारी कमेटी ने इन्हें ख्याल गायन में तीसरा इनाम दिया था। इस संगीत सम्मेलन के थोड़े समय के बाद ही श्री के. एन. रातनजंकर लखनऊ के मैरिस म्यूजिक कालेज के प्रिंसिपल नियुक्त हुए। ज्यों–ज्यों समय बीतता गया भातखण्डे जी के जीवन–काल में 1935 और उनके निधन के बाद भी 1973–74 तक रातनजंकर जी ही भातखण्डे जी की विचारधारा और उनके मत के सर्वश्रेष्ठ प्रचारक, अनुवादक और टीकाकार थे। उन्होंने ही भातखण्डे जी के मत की अपने जीवन–काल में ठोस और जबरदस्त व्याख्या की। शिक्षा, अनुसंधान और प्रचार के कार्यों के लिये उन्होंने अपने जीवन को समर्पित कर दिया था। उन्होंने भातखण्डे मत की महत्वपूर्ण व्याख्या को अपने जीवन की विशेष साधना बनाई।

प्रिंसिपल रातनजंकर ने जीवन भर भातखण्डे जी की हिन्दुस्तानी संगीत की आधुनिक व्यवस्था अथवा पद्धति, सुगम स्वरलिपि का आविष्कार तथा उनके द्वारा लिखित **'संगीत पद्धति'** **"लक्ष्य संगीत"** और **"अभिनव राग मंजरी"** के पांडित्य तथा उनके मतों का बड़े साहस से समर्थन ही नहीं किया अपितु उसकी उचित और सुन्दर व्याख्या भी की। वह स्वयं संगीत के बड़े ऊँचे विद्वान थे और व्यवहारिक संगीत का भी उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था। शायद यह कहना गलत न होगा कि शिक्षित समाज में उन ऐसा संगीत का विद्वान और गायक दूसरा नहीं था। उनकी विशेषता उनके विद्वतापूर्ण गायन में थी। लोग उनकी विद्या और उनके ज्ञान का श्रृद्धा–पूर्वक आदर करते थे और जानते थे कि वह एक बुद्धिमान संगीतज्ञ व गायक थे।

रातनजंकर जी बड़ी असाधारण प्रतिभा के विद्वान और मननशील गायक थे जिनकी गायन कला में एक विशेष चमत्कार था। सर्वप्रथम तो वह जो कुछ भी गाते थे वह शास्त्रीय ढंग से सही और दोषरहित होता था। वह संगीत के सैद्धान्तिक आधार का कभी किसी कीमत पर परित्याग नहीं करते थे। इस सिलसिले में यह कहना भी जरूरी है कि नामी घरानों के प्रति उनके मन में सच्ची श्रद्धा तो अवश्य थी परन्तु वह उनके दोषों की आलोचना भी करते थे। वह संगीत की परंपरा का न तो परित्याग करते थे और न उसका बहिष्कार करते थे। इस प्रसंग में यह बताना आवश्यक है कि भातखंडे जी की सांगीतिक विचारधारा और उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ की परंपरागत गायन पद्धति के बीच में कोई परस्पर विरोध अथवा प्रतिवाद नहीं था। भातखंडे जी ने रागों की जैसी व्याख्या लिख कर की है वैसी ही व्याख्या उस्ताद फ़ैयाज़ की गाई रागों में होती थी। जिस प्रचलित हिन्दुस्तानी संगीत क्रियाशीलता और मौलिक प्रतिभा का वर्णन भातखंडे जी ने अपने ग्रन्थो में किया था उसकी कलात्मक व्याख्या उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ अपने गायन के द्वारा करते थे। इसलिये जब रातनजंकर जी उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ के पास शिक्षा के लिये गये तो यह उनकी अपनी पहली शिक्षा का ही अविछिन्न अथवा लगातार सिलसिला था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रिंसिपल रातनजंकर एक सुयोग्य, प्रतिभाशाली विद्वान, संगीत–शिक्षक और गायक थे। उन्होंने स्वर की बहुत बड़ी साधना की थी और उनका गला बहुत सुन्दर व सुरीला था, जिस स्वर को वह लगाते थे वह सच्चा लगता था। उनकी आवाज़ का फैलाव अधिक नहीं था और न वह तीसरी सप्तक के स्वरों पर घूमने के चमत्कार के कायल थे। कुछ गायक जो तीसरी सप्तक में गला घुमाना गायन कला का चमत्कार समझते है यह भूल जाते है कि तार सप्तक से कभी–कभी उनका गला अपनी स्वाभाविकता खो बैठता है और बड़ी कोशिश से उनके स्वर सच्चे बोलते है।

रातनजंकर जी ने अपने कंठ की ऐसी उत्तम साधना की थी कि वह उसका कलात्मक सदुपयोग अपनी राग व्याख्या में बड़े सुन्दर ढंग से कर सकते थे। उनको

अपने कण्ठ पर पूरा अधिकार था और वह सुर में भीगा हुआ कंठ था। भातखंडे जी ने संगीत के जिस महासत्य का साक्षात्कार किया था उसे वे ही प्रकाशित कर सकते थे। उनके जीवन में संगीत की पुनीत धारा का आविर्भाव हुआ था और अपने दोनों गुरूओं के आशीर्वाद से उनकी विचारधारा का वातावरण शान्त, स्निग्ध और मनोरम था। उनकी अदमनीय आशा उन्हें प्रोत्साहित करती थी और उनके कदम आगे बढ़ते चले जाते थे वह एक प्रतिष्ठित घरानेदार गायक के शिष्य थे और किसी सामान्य शिक्षा–आयोजन के समर्थक नहीं थे। गायकी का प्राधान्य उनके गले में स्थापित हो चुका था और जो कुछ वह गाते थे उसमें गवैयापन होता था और गायकी की मर्यादा होती थी।

उनके गाने में सूझ, विद्वता और कला–चातुर्य भी था और वह अपने गायन को गायकी के आभूषणों से सजाते थे तथा और उसे कलात्मक बनाते थे। जब गाते–गाते वह सरगम करने लगते थे तो उनके स्वरों की उलट–पुलट में एक बड़ा चकित करने वाला चमत्कार होता था। इसी तरह उनके सुर के लगाव में बड़ी विचित्र रोचकता और मिठास होती थी। उनकी राग की बढ़त में कल्पना और बुद्दि दोनों का संयोग होता था। उनका गायन विचारधारा, गंभीर और मननशील होता था। जब वह किसी अप्रचलित राग जैसे **साडगवराली** अथवा **बसन्तमुखारी** को भी गाते थे, तब राग विस्तार में कोई कमी नहीं आती थी और वह उसी समझ–बूझ से उसे गाते थे। उन्हें बहुत सी अप्रचलित और अनूठी रागें याद थी उन्हें रागों के प्रकारों में भी बहुत रूचि थी। वह उनकी तलाश अथवा खोजबीन में हमेशा रहते थे। उनके इस प्रकार के पांडित्य में अनुचित अभिमान नहीं था, परन्तु एक तरह का विनीत भाव था।

उनके संगीत की विद्वता, उसकी शुद्वता और उसके सात्विक भाव को देखकर कभी–कभी कोई श्रोता उनके गायन में भावात्मक तन्मयता अथवा असीम भावुकता का अभाव सा पाता था। क्या इसका कोई विशेष कारण था? इस प्रश्न के उत्तर में हम इस बात को नहीं भूल सकते कि रातनजंकर जी विशेष ढंग के विद्वान, गंभीर और मननशील गायक थे। वह संगीत में एक गायक की हैसियत से प्रज्ञा को बड़ा ऊँचा

स्थान देते थे। किसी राग की शास्त्रीय अथवा सैद्वान्तिक रूपरेखा को ही सबसे अधिक महत्व देते थे। एक बुद्विजीवी गायक की हैसियत से वह गायन कला की बौद्धिक कला की निपुणता का बहिष्कार नहीं करते थे परन्तु कला में सन्तुलित बुद्धिवाद का समर्थन करते थे। वह संगीत में भावुकता का विरोध नहीं करते थे परन्तु उनका यही कहना था कि गायक को अपने गायन में मनोभाव, भाव, संवेग अथवा तत्काल भाव की अराजकता का विरोध करके उसको सौन्दर्य बोध भाव का सूचक बनाना चाहिए। अव्यवस्थित भावुकता एक प्रकार की भावात्मक अस्थिरता है अथवा एक प्रकार का भावोन्माद है। जिस प्रकार प्रतिबंध लगाना अथवा जिसका नियंत्रण करना आवश्यक हो जाता है। भावात्मक अक्षमता को तो वह एक दोष मानते थे। परन्तु इसके साथ–साथ वह गायन में आवेग–कुसमंजन अथवा मनमानी भावुकता को भी अस्वाभाविक और अनावश्यक मानते थे। यही कारण था कि वह सीमारहित भावुकता का विरोध करते थे और अपने गायन में उसका बहिष्कार करते थे। ऐसी सीमारहित भावुकता को जिसमें स्वरों का अनुचित और अशास्त्रीय उच्चारण होता था, वह अश्लील और भद्दा समझते थे। इसीलिए उनके गाने में जो भावुकता होती थी उसमें एक प्रकार का सन्तुलन होता था। अपनी प्रकृति अथवा स्वभाव से वह संयम, आत्मदान अथवा भावात्मक सन्तुलन के समर्थक थे। इसलिये उनके गायन में एक तरह की शिष्टता थी, साफ सुथरापन था, रोचकता और रंजकता थी और गायन कला का चमत्कार भी था। उनके गाने पर उनके व्यक्तित्व की छाप भी थी और साथ–साथ घरानेदार गायकी के विशेष अंग भी उसमें थे। सच तो यह है कि रातनजंकर जी ऐसे विद्वान और प्रतिभाशाली गायक अब देखने को नहीं मिलेंगें। वह जितने ऊँचे गायक थे उतने ही विलक्षण और अनुभवी शिक्षक भी थे। उनके निधन से इस देश ने केवल एक सुयोग्य, प्रतिभाशाली गायक ही नहीं खोया, परन्तु उनके साथ एक बेजोड़ शिक्षक को भी खो दिया। संगीत संसार उनके निधन पर उनको अपनी श्रृद्धांजलि अर्पित करता है।

भास्कर राव बखले :

भास्कर राव बाले नत्थन खाँ के परम शिष्य थे। इनके पहले गुरू बड़ौदा के फैज मुहम्मद खाँ थे जो एक प्रसिद्ध घरानेदार गायक थे और जिन्होंने भास्कर राव को प्रारंभिक शिक्षा दी थी। सुना जाता है कि इन्हीं फैज़ मुहम्मद खाँ के परामर्श और आग्रह से नत्थन खाँ ने इन्हें अपना शिष्य बनाया था। भास्कर राव बखले कुलीन महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे और बचपन से उन्हें संगीत से स्वाभाविक प्रेम था।

इनको संगीत–संसार नत्थन खाँ का परम शिष्य मानता था और आधुनिक युग के आगरा घराने के सर्वश्रेष्ठ गायकों में इनकी गणना होती थी। यह कहना कदाचित ठीक होगा कि महाराष्ट्र में यह उन दो–चार गायकों में थे जिसकी तुलना बहुत अच्छे घरानेदार गाय़कों से की जा सकती थी और जिन्हें सही ढंग से **''गवैया''** कहकर पुकारा जा सकता था। भास्कर राव बखले सचमुच में बड़े प्रतिभाशील और सुयोग्य, मंझे हुये गायक थे जिनके पास गायकों की गायकी थी। नत्थन खाँ ने उन्हें ऐसी अच्छी शिक्षा दी थी कि यह परिश्रम करके चोटी के गायक बन गये थे और घरानेदार गायकों की तरह गाने लगे थे। बाद में इन्हें भी संगीत प्रचार का और संगीत शिक्षा देने का शौक हुआ और इस संबंध में इन्होंने पूना में **''भारत गायन समाज''** खोला जिसमें संगीत शिक्षा का काम होने लगा। परन्तु यह स्वयं ही एक गायक के रूप में जनता के सामने आये ओ़र अपने जीवन के अन्त तक एक माने हुए गायक ही रहे। संगीत–शिक्षा के कार्य में जुट जाने के बाद भी इन्होंने अपनी घरानेदार गायकी का परित्याग नहीं किया और जीवन भर घरानेदार संगीत की ही व्याख्या करते रहे। शायद दूसरे गायकों ने ऐसा नहीं किया इसी से पता चलता है कि भास्कर राव बखले किस ऊँचे दर्जे के गायक थे और संगीत प्रचारक ही न बनकर वह एक सुयोग्य गायक ही बने रहे और अपने शिष्यों को भी शास्त्रीय संगीत की उत्तम शिक्षा दी।

उनको आगरा घराने का एक धुरन्धर गायक मानकर उनका मूल्यांकन किया जा सकता है। एक गायक की हैसियत से भास्कर राव बखले को बहुत सम्मान मिला और बड़ी ख्याति भी मिली। आम जनता ही उनके संगीत का आनंद नहीं लेती थी परंतु गुणीजन भी उनकी दिल से प्रशंसा करते थे और उन्हें कला की कसौटी पर कसते थे। घरानेदार गायकों से भी उन्हें हार्दिक अनुमोदन मिला। मैसूर, बड़ौदा और कश्मीर जैसी रियासतों में उन्हें बहुत सम्मान मिला। जालंधर के वार्षिक संगीत–समारोह में भी इनको बहुत सम्मान मिलता था और उनकी टक्कर का दूसरा गायक वहाँ नहीं जाता था। वह हर राग का बहुत आनंद लेकर उसकी कलात्मक व्याख्या करते थे। वह महफिलों में दंगली गवैये थे। वैसे तो वह बाद में बम्बई के अल्लादिया खाँ के भी शिष्य हो गये थे और उनसे कुछ चीजें भी याद की थी परंतु यथार्थ में वह आगरा घराने की गायकी की ही सुन्दर व्याख्या करते थे और इसी के विशेषज्ञ थे। यही कारण था कि हर गायक उनके बाद आसानी से जम नहीं सकता था। सच तो यह है कि आधुनिक युग के प्रमुख ख्याल गायकों में ही उनकी गणना होती थी।

उनके शिष्यों में स्व० मास्टर कृष्णराव ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। उनके लोकप्रिय शिष्यों में बाल गन्धर्व, दिलीप चन्द्र बेदी, और गोविन्द राव टेंबे का भी बहुत नाम हुआ किन्तु भास्कर राव बखले का स्मरण करके आज इस बात का खेद है कि अब उनका कोई ऐसा शिष्य नहीं है जो उनकी याद दिला सके। उनका स्तुतिगान तो अभी भी उनके बहुत से भक्त करते है परन्तु उनकी गायकी कोई नहीं सुना सकता। उस गायकी के नक्शे अब सुनने को नहीं मिलते।

दिलीप चन्द बेदी

पंजाब के तरूण, होनहार गायक दिलीप चन्द्र बेदी भास्कर राव बखले के शिष्य थे परंतु वह अधिकतर उनके साथ हारमोनियम ही बजाते थे और साथ कभी गाते नहीं थे। परन्तु यह उनके परम भक्त थे और जो कुछ भी इन्होंने अपने गुरू से सीखा वह

गुरू के प्रसाद के रूप में था। परन्तु उनकी गायकी का अनुवाद करने में यह एक तरह से असफल ही रहे और अपनी एक नई तरह की गायकी का निर्माण करके उसी का पालन जीवन भर करते रहे। ऐसा करके इन्होंने अपनी निराली प्रतिभा का सुबूत दिया था और अपने को सरस्वती का ही भक्त साबित किया था। परंतु फिर भी यह जीवन भर अपने गुरू के सच्चे भक्त रहे हैं और आगरा घराने के एक उत्साही और प्रतिभाशील गायक माने गये हैं। बाद में यह गाना छोड़कर सगीत शिक्षा के काम में ही बड़े उत्साह से जुट गये। इसको भी यह अपने पूज्य गुरू का आशीर्वाद ही मानते थे और अपनी संगीत–शिक्षा को इसका श्रेय देते थे।

घग्घे खुदाबख़्श

आगरा के श्यामरंग के चार पुत्र थे–जंगु खाँ, सस्सु खाँ, गुलाम खाँ और खुदाबख्श। घग्घे खुदाबख्श का जन्म आगरा में सन् 1800 में हुआ था। इन्होंने अपने घराने की ध्रुपद–धमार शैली की उत्तम शिक्षा पाई थी। परन्तु दुर्भाग्यवश इनकी आवाज़ घग्घी थी और इस दोष को देखते हुए घराने के लोग इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिये। इन्हें इस तरह की लापरवाही से बहुत दुख पहुँचता और इनके मन में ग्लानि भी होती थी। वह मन ही मन अपने भाग्य को कोसते व अपने को एक तरह से निराश्रय पाते थे। एक दिन उन्होंने ग्वालियर जाने की ठान ली और फिर अपने इरादे से पीछे नहीं हटे। वह किसी तरह ग्वालियर पहुँच गये। उन्होंने नत्थन खाँ और पीरबख्श के बारे में पहले सुन रखा था इसलिये वहाँ पहुँच कर वह उनकी सेवा में उपस्थित हो गये और उन्हें अपने दुर्भाग्य की कहानी सुनाई। उन दोनों ने जब उनकी बात सुनी तो उन्हें इन पर बड़ी दया आई और उन्होंने बड़ी सहानुभूति से उन्हें पूरा दिलासा दिया और अपने पास ही इन्हें ठहराया। इसका यह भी कारण था कि नत्थन खाँ और पीरबख्श ने आगरा घराने से बहुत कुछ ध्रुपदों और होरियों की शिक्षा पाई थी और इस तरह वह आगरा घराने का बहुत आदर करते थे। उन्होंने खुदाबख्श से कहा

कि यदि उन्हें ख्याल शैली से प्रेम है और वह ख्याल सीखना चाहते हैं तो वह उन्हें अवश्य शिक्षा देंगे और रियाज़ के द्वारा उनके कण्ठ दोष को भी दूर कर देंगे। परन्तु शर्त केवल यह थी कि जैसा वह बतायें उसी ढंग से खुदाबख्श निरन्तर अभ्यास करते रहें। खुदाबख्श ने यह सुनकर अपने भाग्य को सराहा और शिक्षा की सुविधा पाकर मेहनत में जुट गये। कहा भी है कि **''करत-करत अभ्यास के जड़ मति होत सुजान''** कुछ समय के बाद घघ्घे खुदाबख्श की आवाज़ का दोष जाता रहा और वह ग्वालियर की ख्याल गायकी में पारंगत हो गये और बाद में सारे भारतवर्ष में उनको बड़ी ख्याति मिली। आधुनिक युग में घघ्घे खुदाबख्श ही आगरा घराने के अन्वेषक और मार्गदर्शक माने जाते हैं और इन्हीं के वंशज इस प्रतिष्ठा के उत्तराधिकारी बने। जब यह आगरे पहुँचे तो लोग उन्हें सुनकर बड़े अचम्भे में पड़ गये। इनके गाने की निर्दोषता देखकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ फिर तो इनका नाम दूर–दूर तक फैल गया और इनकी गणना देश के सर्वश्रेष्ठ गायकों में होने लगी और गुणीजन समाज में भी इनका बहुत आदर–सम्मान होने लगा। रामपुर और जयपुर ऐसी संगीत संबंधी रियासतों में भी इनको बहुत सम्मान मिला। घघ्घे खुदाबख्श कितने धुरंधर और विद्वान गायक थे, इसका अनुमान हम इसी बात से लगा सकते है कि प्रसिद्ध ध्रुपद गायक बहराम खाँ और वह आपस में बड़े जिगरी दोस्त थे और जयपुर दरबार में भी दोनों एक साथ थे। जिस तरह बहराम खाँ ध्रुपद गायन में अद्वितीय थे उसी तरह खुदाबख्श भी ख्याल गायन में अपना सानी नहीं रखते थे।

जैसे आधुनिक युग में हद्दू–हस्सू खाँ ग्वालियर घराने की गायकी के सर्वश्रेष्ठ अनुवादक माने जाते थे उसी तरह घघ्घे खुदाबख्श भी आगरा घराने और उसकी गायकी के प्रथम अन्वेषक माने जाते थे। इस तरह उस विशेष युग के समकालीन गायकों और वादकों में जैसे–बहराम खाँ ध्रुपद गायक, रजब अली खाँ वीणा वादक, अमृत सेन सितार वादक, अपनी–अपनी जगह सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे उसी तरह देहली घराने के प्रसिद्ध गायक तानरस खाँ, कव्वाल बच्चों के घराने के प्रतिष्ठित गायक

मुबारक अली खाँ और आगरा घराने के अद्वितीय गायक घग्घे खुदाबख्श भी अपने–अपने ढंग के निराले गायक माने जाते थे। 19वीं शताब्दी के यह बेजोड़ संगीतज्ञ संगीत की भिन्न–भिन्न शैलियों के विशेषज्ञ थे। हम घग्घे खुदाबख्श को आगरा घराने का प्रथम अन्वेषक और मार्गदर्शक तो मानते ही हैं परन्तु उसके साथ हम उन्हें आगरा घराने की गायकी का आविष्कारक भी मानते हैं। उनके बाद इस घराने के संरक्षक उनके सबसे बड़े पुत्र गुलाम अब्बास खाँ के अलावा उनके और भी शिष्य थे जिनके नाम थे – 1. इनके भतीजे शेर खाँ 2. भरतपुर वाले अली बख्श 3. पं० विश्वनाथ के सुपुत्र पं० शिवदीन। जिन्होंने आगरा घराने की कला को जीवन्त रखा।

गुलाम अब्बास खाँः

यह घग्घे खुदाबख्श के सबसे बड़े सुपुत्र थे और इनका जन्म आगरे में 1822 और 1825 के बीच में हुआ था। इनकी संगीत– शिक्षा का दायित्व बहुत कुछ इनके चचेरे भाई शेर खाँ पर था और उन्होंने ही इन्हें सबसे अधिक प्रोत्साहन दिया और एक कुशल गायक बनाया था। गुलाम अब्बास खाँ बड़ी विलक्षण प्रतिभा के गायक थे और इन्होंने अपने संगीत के ऋण को बड़ी शान से चुकाया जब इन्होंने शेर खाँ के इकलौते पुत्र नत्थन खाँ को शिक्षा देकर इन्होंने एक नामी धुरंधर गायक बनाया। इन्हीं से शिक्षा पाकर नत्थन खाँ भारतवर्ष के बेजोड़ ख्याल गायक बने। गुलाम अब्बास खाँ बड़ी अपूर्व बुद्धि वाले और विलक्षण सूझ–बूझ के गायक थे जो एक बेजोड़ शिक्षक भी थे। वह बहुत ऊँचे दर्ज़े के ख्याल गायक थे और ख्याल गायकी के सिद्धान्त को जानते थे। इनके गाने में स्वरों का बहुत आनन्द आता था। यह सच्चे और सुरीले स्वर उच्चारण को ही सबसे अधिक महत्व देते थे। जिस तरह से यह अपने स्वरों पर शान्त भाव से ठहरते थे और उनकी व्याख्या रागों के हिसाब से करते थे, उससे इनका गायन बहुत प्रभावोत्पादक बन जाता था और श्रोताओं पर उसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता था। उन्होंने बरसों स्वर साधना की थी और अपनी साँस को बढ़ाने के लिये बहुत अभ्यास

किया था। अपनी संगीत शिक्षा के ज़माने में उन्होंने ब्रम्हचर्य व्रत का भी पालन किया था। इन्होंने अपने ममेरे भाई घसीट खाँ से भी बहुत सी होरियाँ और धमारें सीखी थी और ध्रुपद का भी बड़ा अच्छा ज्ञान था। यही कारण था कि इनको स्वरों पर देर तक ठहरने की आदत पड़ गयी थी। जो गायक किसी राग की व्याख्या करते समय अपने स्वरों पर उचित ढंग से ठहरता है और उनका आनंद लेता है, वह अपने राग को ही सच्चा नहीं बनाता परंतु गायकी के मूल सिद्धान्त का भी पालन करता है और अपने श्रोताओं को भी आनंद पहुँचाता है। जब यह सुर पर ठहरते थे और किसी राग की अनोखी व्याख्या करते थे तो समझदार व भावुक श्रोता तड़प उठते थे। ज़ैसे इनकी साँस लंबी थी वैसी इन्होंने उम्र भी लंबी पाई थी। इनका देहान्त 1932 ई० के आस–पास हुआ।

कल्लन खाँ :

वैसे तो इनका असली नाम गुलाम हैदर खाँ था परन्तु यह कल्लन खाँ के नाम से ही सारे भारतवर्ष में मशहूर हो गये थे। यह गुलाम अब्बास खाँ के छोटे भाई थे तथा इनका जन्म भी आगरा में हुआ था। इनके बड़े भाई गुलाम अब्बास ने ही इन्हें संगीत की शिक्षा दी थी और संगीत में इनकी देखभाल की थी। इसके साथ–साथ इन्हें एक सुयोग्य गायक भी बनाया था। दस–बारह साल तक इनकी शिक्षा का यह क्रम जारी रहा। इन्होंने अपने पिता की गायकी के रंग को अपनाया और अच्छा कंठ पाकर अभ्यास भी मन लगाकर किया। अपने ज़माने के प्रमुख ख्याल गायकों में इनका स्थान था। इन्होंने संगीत की अन्य विधा जैसे होरी, ध्रुपद पर भी अधिकार रखने का प्रयत्न किया। इनकी एक निराली विशेषता यह थी कि यह बड़ी सूझ–बूझ वाले विद्वान और प्रौढ़ शिक्षक थे। महाराज माधोसिंह के अपने ज़माने में यह जयपुर राज्य में नियुक्त हो गये थे। इसी ज़माने में इन्होंने संगीत की शिक्षा और संगीत के प्रचार का महान कार्य किया। इन्हें संगीत शिक्षा से विशेष प्रेम था और यह बहुत मन लगाकर और बड़े

परिश्रम से अपने शिष्यों को संगीत की शिक्षा देते थे। घराने के बहुत से तरूण गायकों को इनसे तालीम पहुँची जिनमें तसद्दुक हुसैन खाँ (इनके सुपुत्र), विलायत हुसैन खाँ, बशीर खाँ, खादिम हुसैन और अनवार हुसैन आदि प्रमुख थे। स्व० उस्ताद फैयाज़ खाँ ने भी इनसे कुछ चीजें याद की थी।

कल्लन खाँ के एक सीधे–सादे, सरल प्रकृति के इंसान थे जो पिछले बुजुर्ग कलाकारों की याद दिलाते थे। यह इतने विद्वान और अनुभवशील शिक्षक थे कि इन्होंने बहुत पहले मुरादाबाद के प्रसिद्ध गायक नज़ीर खाँ और गफूर खाँ को भी ख्याल की शिक्षा दी थी। लखनऊ के 1924 के अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में स्व० भातखंडे जी ने इनको निमंत्रित किया था परन्तु किसी कारणवश वह यहाँ नहीं आ सकें। इस कमी को स्व० उस्ताद फैयाज खाँ ने पूरा किया था और इस सम्मेलन ने उन्हें देश का सर्वश्रेष्ठ ख्याल गायक माना था। यह सच है कि कल्लन खाँ आगरा घराने के बहुत प्रसिद्ध और सम्मानित गायक थे। इनका देहान्त जयपुर में 1925 में हुआ।

नत्थन खाँ :

यह शेर खाँ के इकलौते लड़के थे। इनका असली नाम निसार हुसैन था मगर संगीत संसार इन्हें नत्थन खाँ के नाम से ही जानता था। संगीत शिक्षा इन्हें अपने चाचा गुलाम अब्बास खाँ से मिली थी और उन्होंने ही इन्हें एक सुयोग्य और नामी गायक बनाया। नत्थन खाँ ने भारतवर्ष के अन्य प्रसिद्ध गायकों को भी सुना और इस तरह अपने संगीत के ज्ञान को भी बढ़ाया। आगरा घराने के सर्वश्रेष्ठ गायकों में इनका नाम था। जब तक नत्थन खाँ जिन्दा रहे वह आगरा घराने के सबसे प्रसिद्ध गायक माने जाते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् 1950 के अंत तक स्व० उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ ही इस घराने के सर्वश्रेष्ठ गायक माने जाते थे। यदि यह कहा जाय कि उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ अपने ज़माने के सर्वश्रेष्ठ ख्याल गायक थे तो यह भी बिल्कुल ठीक था। संगीत के इतिहास लेखक इस बात को ठीक तरह से समझते हैं कि किस तरह किसी घराने के

एक–दो गायक ही उस गायकी की शानदार व्याख्या करते हैं। यदि नत्थन खाँ ने आगरा घराने की गायकी की औपचारिक तकनीकि की सबसे जबरदस्त व्याख्या की थी तो फैयाज़ खाँ ने इस गायकी के बहुपक्षीय व्यक्तित्व को प्रकाशित किया था। नत्थन खाँ ने अपने घराने की गायकी का प्रामाणिक शब्दानुवाद किया था।

नत्थन खाँ के गाने की कई विशेषताएँ थी। पहली बात तो यह थी कि वह बहुत विलंबित लय में गाते थे और इनका ताल ज्ञान अनोखा था। विलंबित लय में भी वह तानों की बौछार कर सकते थे और फिर आसानी से सम पर आ सकते थे। यह हर गायक नहीं कर सकता था। विलंबित लय में गाने के अलावा उनकी बोलतानों का भी जवाब नहीं था और लय के मुश्किल दर्जो में बिठाकर वह इनको बड़े सुन्दर ढंग से कहते थे और इसलिये श्रोताओं को भी बहुत आनंद आता था। नत्थन खाँ लयकारी के प्रकाण्ड पण्डित थे और अपने गाने में लय के अद्‌भुत और सूक्ष्म दर्जो को बड़ी खूबी से दिखाते थे। वह स्थाई और अन्तरा भी बड़े कलात्मक ढंग से कहते थे और बंदिश के रचनात्मक श्रृंगार को ध्यान में रखते थे। वह गायकी के अनुशासन का पालन करते थे और इसलिये उनके गाने में गायकी का कोई दोष नहीं था और उनका गाना कला के बहुत से आभूषणों से सुशोभित था।

नत्थन खाँ अपने ज़माने के श्रेष्ठ ख्याल गायकों में थे। इनके समकालीन गायकों में पटियाले के अलीबख्श और फतहअली खाँ, खुर्जे के जहूर खाँ, सिकन्दराबाद के कुदुरतुल्ला खाँ, देहली के उमराव खाँ, जोधपुर के नज़ीर खाँ, कोल्हापुर के अल्लादिया खाँ, अतरौली के महबूब खाँ **'दरस'**, सहसवान के इनायत हुसैन खाँ और ग्वालियर के रहमत खाँ बहुत मशहूर गायक थे, इन सबके साथ ही नत्थन खाँ की गणना होती थी। यह अपने ज़माने में आगरा के सबसे प्रसिद्ध गायक थे और यह संगीत के बड़े–बड़े दंगलों में भाग लेते रहे और इस तरह अपने सम्मान को बढ़ाते रहे। सन् 1890 में ये मैसूर राज्य में नियुक्त हो गये थे और अपने जीवन के अन्त तक वहाँ रहे। महाराजा मैसूर इनके गाने से बहुत खुश थे और इनका वहाँ बहुत

आदर सत्कार होता था। इनका निधन 1901 में हुआ। नत्थन खाँ के पाँच लड़के थे, जिनके नाम थे–मुहम्मद खाँ, अब्दुल्ला खाँ, मुहम्मद सिद्दीक खाँ, विलायत हुसैन खाँ और नन्हें खाँ।

मुहम्मद खाँ :

यह नत्थन खाँ के सबसे बड़े सुपुत्र थे और इनका जन्म आगरे में 1870 के लगभग हुआ था। अपने पिता के निधन के पश्चात् ये बंबई में आकर बस गये थे और अपने घराने को सँभाला था। इनको अपने पिता से संगीत की बहुत अच्छी शिक्षा मिली थी परन्तु इन्हें जीवन के आरम्भ काल से संगीत विद्या का बहुत शौक था अतः कुतूहल से प्रेरित होकर इन्होंने घराने के बड़े–बूढ़ों से भी ज्ञान प्राप्त किया था। अच्छी–अच्छी बंदिशों और चीजों के अलावा इन्हें राग–रागिनियों के ज्ञान में भी बहुत हार्दिक रुचि थी। इस संबंध में इन्होंने बहुत सी अछोप अथवा प्रचलित रागों का ज्ञान प्राप्त किया। इनके पास बहुत सी अछोप रागों का अनोखा संग्रह था। इन्हें रागों के प्रकार भी बहुत याद थे और इनके पास कान्हरों का, तोड़ियों का, मल्हारों, कल्याणों और सारंगों इत्यादि का बड़ा अनूठा संग्रह था। नत्थन खाँ ऐसे धुरन्धर गायक के सबसे बड़े सुपुत्र होकर घराने में इनका बड़ा मान और बड़ी प्रतिष्ठा थी। यह एक तरह से इस घराने के तरूण कलाकारों के संरक्षक थे। परन्तु इसके साथ–साथ यह बड़े अनुभवशील और परिश्रमी शिक्षक भी थे और इन्होंने बहुतों को संगीत की शिक्षा दी। इनके प्रमुख शिष्यों में बांकाबाई, ताराबाई सिटोलेकर, चंपाबाई कवलेकर इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है। इसके अलावा भाई शंकर, भाई प्राणनाथ इनके बेटे बशीर अहमद खाँ और इनके छोटे भाईयों ने भी इनसे बहुत कुछ सीखा। मुहम्मद खाँ बड़े विद्वान और अनुभवी गायक थे जिनका बहुत सम्मान होता था। इनका देहान्त आगरे में 1922 में हुआ।

अब्दुल्ला खाँ :

यह नत्थन खाँ के दूसरे बेटे थे और इनका जन्म 1893 में आगरे में हुआ था। इनको भी अपने पिता से पूरी शिक्षा मिली थी और यह अपने पिता के साथ बहुत समय तक मैसूर में रहे जहाँ यह नियुक्त भी हो गये थे। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् 1901 में इन्होंने देश भर का भ्रमण किया और हुबली, धारबार, कोल्हापुर, पूना, बीजापुर, शोलापुर इत्यादि जगहों में खूब घूमें और श्रोताओं को अपने संगीत का बहुत आनन्द पहुँचा और बहुत सम्मानित भी हुए। दिल्ली, जालंधर और कश्मीर की सैर भी इन्होंने की और लोगों को अपने गायन से मनाया। बहुत सी महफिलों में इनका और इनके पिता के शिष्य भाष्कर राव बखले का गायन साथ–साथ होता था और दोनों बहुत जमकर गाते थे। यह स्वभाव से ही बहुत जमकर गाते थे और इनकी तैयारी की शोभा इनकी लयकारी बढ़ा देती थी। इनको बहुत ख्याति मिली और गायकों में भी इनको बहुत सम्मान मिला। इनका देहान्त आगरे में 1925 के आरम्भ में हुआ।

सिद्दीक खाँ :

नत्थन खाँ के तीसरे पुत्र मुहम्मद सिद्दीक खाँ थे, ये भी बहुत होनहार गायक थे। इनका देहान्त अचानक इन्दौर में 1917 में हुआ था जहाँ वह होली के संगीत–समारोह में भाग लेने गये थे।

नन्हें खाँ :

नत्थन खाँ के सबसे छोटे बेटे का नाम नन्हे खाँ था जिनका जन्म मैसूर में 1899 में हुआ था। इनको अपने छोटे दादा जयपुर के उस्ताद कल्लन खाँ से संगीत की शिक्षा मिली थी। परन्तु इन्होंने अपने घराने के और सुयोग्य और अनुभवी गायकों से भी संगीत का ज्ञान प्राप्त किया था। यह अधिकतर बंबई में रहे और इन्होंने बहुत से लोगों को संगीत की अच्छी शिक्षा दी जिनमें सीताराम फाथरफकरयल्लापुरकर, रत्नकांत, रामनाथ और गुलाम अहमद खाँ के नाम उल्लेखनीय हैं।

फैयाज़ खाँ

1915 में बड़ोदा नरेश के बुलवाने पर वह होली के संगीत समारोह में सम्मिलित होने के लिये बड़ौदा गये और महाराजा बड़ौदा उनके गाने से इतने अधिक प्रसन्न हुए कि वह दरबार के गायक नियुक्त हो गये और फिर वह जीवन भर 1950 तक वहीं रहे। बड़ौदा राज्य के गायक फैज़ मुहम्मद खाँ ने अपने देशाटन में फैयाज खाँ की खोज आगरे में की थी और महाराजा बड़ौदा से उनकी बहुत प्रशंसा भी की थी। इसी कारण वह बड़ौदे के होली के जलसे में निमंत्रित किये गये थे। फैयाज़ खाँ के नाम से बड़ौदा भी सारे भारतवर्ष में मशहूर हो गया था। उन्हें लोग "बड़ौदे के फैयाज़ खाँ" के नाम से जानते थे।

इन्दौर के राजा तुकोजी राव होल्कर ने 1918 में फैयाज़ खाँ को होली के अवसर पर निमंत्रित किया। इस विशेष संगीत समारोह में भारतवर्ष के सभी प्रमुख गायक जमा हुए थे और यह एक शहराना जल्सा था। महाराजा साहब ने फैयाज़ खाँ को ऐसी इज़्जत दी कि दरबार में उन्हें बिल्कुल अपने पास बिठाया और उनका गाना सुना।

महाराजा मैसूर ने उन्हें फिर से दुबारा 1924 में बुलाया और उनका गाना सुनकर इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें रियासत का राजचिन्ह और बहुमूल्य रत्नों से जड़ा हुआ एक कंगन पहनाया गया और उन्हें "आफताबे–मूसी" की उपाधि दी गई। भातखण्डे जी इन्हें अपने साथ एक महीने के लिये कश्मीर रियासत भी ले गये थे और इन्हें फरमाइश कर करके खूब सुना। स्व0 भातरखण्ड जी के पाँचों संगीत–सम्मेलनों में वह सम्मिलित थे। लखनऊ के 1924 ओर 1925 के संगीत–सम्मेलनों में वह सम्मिलित हुए और उनको सर्वश्रेष्ठ ख्याल गायक माना गया। कलकत्ते, बम्बई, देहली, बनारस और इलाहाबाद ऐसे शहरों के संगीत सम्मेलनों में भी वह जाते रहे और हजारों श्रोताओं को आनन्द से भरते रहे।

उनके शिष्यों में बहुत से अच्छे गायक हुए हैं। उनके घराने के होनहार गायकों में सबसे अधिक शिक्षा अताहुसैन खाँ ने पाई थी और उनके प्रतिभाशील शार्गिदों में थे और यदि उनकी अकाल मृत्यु न होती तो बहुत नाम कमाते। अता हुसैन खाँ के शिष्य शराफत हुसैन को भी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि इन्हें स्व. खाँ साहब का बहुत सत्संग मिला। परन्तु जिन होनहार गायकों में उनकी थोड़ी बहुत छवि मिलती थी उनमें प्रमुख आगरे के असद अली खाँ थे जिन्हें तसद्दक हुसैन खाँ से तालीम मिली थी परन्तु वचह फैयाज़ खाँ के गाने की अच्छी नकल करते थे वह पाकिस्तान जाकर वहाँ सबस गये। सच पूछा जाय तो घराने के तरूण गायकों के अलावा दूसरे घरानों के गायक भी उन्हें अपना गुरू मानते थे जिनमें अतरौली के अजमत हुसैन का नाम बहुत हुआ था। बंगाल के तरूण और होनहार गायकों में भीषमदेव चटर्जी और ज्ञान गोस्वामी भी उनके शिष्य हो गये थे। उनके गाने में (खाँ साहब) ऐसा जादू सा प्रभाव था कि फल्म गायक स्व0 के0एल0 सहगल भी उनके शिष्य हो गये थे और उन्हें अपना पूज्य गुरू मानते थे। इसी तरह लखनऊ के कथक घराने के मशहूर कलाकार लच्छू महाराज भी उनके शिष्य बन गये थे और आज भी उन्हें श्रृद्धापूर्वक स्मरण करते हैं। स्व0 शम्भू महाराज भी उनको "अब्बा" कहकर पुकारते थे और उनके परम भक्त थे। तबला सम्राट उ0 'अहमद जान चिरकुआ' उनके संपर्क में बहुत रहे।

पढ़े–लिखे और शिक्षित गायकों में जो उनके शिष्य थे उनमें संगीत के विद्वान स्व0 श्रीकृष्ण नारायण सनजंकर का नाम सबसे पहले आता है जिन्हें स्व0 श्रीकृष्ण नारायण रतनजंकर का नाम सबसे पहले आता है जिन्हें स्व0 भारखण्डे जी के अनुरोध से फैयाज़ खाँ ने तीन–चार वर्ष तक शिक्षा दी थी।

स्व0 खाँ साहब के दूसरे सभ्य और शिक्षित शिष्य दिलीप चन्द्र बेदी थे जो पहलू पं0 भास्कर राव की सेवा में थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् उन्होंने फैयाज खाँ का आश्रय ढूँढा और उनके शिष्य हो गये। जैसा पहले कहा गया है कि यह इतने आजाद तबियत के व्यक्ति थे और इनमें ऐसी प्रखर बुद्धि और दिलेरी थी कि वह

किसी भी गायकी के गुलाम नहीं बनना चाहते थे। इन्होंने अपनी आवश्यकतानुसार अपनी एक अलग गायकी का निर्माण किया था जिसमें मतों भास्कर राव की गायकी के नक्शें थे और न फैयाज़ खाँ की गायकी के ही कोई लक्षण थे। इनकी गायकी अनेक फुलों का गुल्दस्ता था जिसमें अधिक सुगन्ध पंजाब के संगीत की थी।

जब 2950 में फैयाज़ खाँ का निधन हुआ था तो आगरा घराने की गायकी और उसकी प्रतिष्ठा का सूर्य–ग्रहण हुआ था। "आफताबे–भूसी की" का सूर्यस्त हो गया था परन्तु फिर भी आकाश में एक सान्ध्य–तारा दिखाई पड़ा जिसके अवलम्ब को घराने ने कृतज्ञता से स्वीकार किया। उसके बाद घराने के कर्णधार विलायत हुसैन खाँ ही बने। अपने जीवन काल में वह आगरा घराने के संरक्षक थे और घराने को उन पर पूरा भरोसा था।

आगरे का दूसरा घराना और उनके प्रमुख गायक

मुग़ल शासन के लम्बे काल में देहली और आगरा को बहुत प्रतिष्ठा मिली थी। संगीत के क्षेत्र में भी इन दोनों का बहुत नाम हुआ है और बड़े–बड़े संगीतज्ञ इनसे संबंधित रहे हैं। घरानों को हम दो वर्गो में बाँट सकते हैं। पहले तो वह जो संगीत के क्षेत्र में पुराने और प्रामाणिक घराने माने गये हैं जैसे ग्वालियर, आगरा और देहली आदि। परन्तु दूसरे घराने वह है जिनकी व्युत्पत्ति दूसरे घरानों के सहारे हुई। हम एक उदाहरण देकर इस बात को समझायेंगे। हम बता चुके हैं कि भास्कर राव बखले आगरा घराने की गायकी की शानदार व्याख्या करते थे, परंतु उनकी अपनी अलग कोई गायकी नहीं थी। उनके शिष्य उनकी गायकी का अनुकरण अपनी बुद्धि और अपनी योग्यतानुसार कर सकते थे। यदि वह ऐसा करने में असफल रहते थे तो हम इस बात के लिये उनके गुरू भास्कर राव बखले को दोषी नहीं ठहरा सकते। जब कभी किसी नई गायकी का जन्म ऐसी परिस्थिति में होता है तो हम उसको प्रामाणिक नहीं मान सकते और न उसका संबंध हम किसी विशेष घरानेदार गायकी से जोड़

सकते हैं। यह तो हुई एक बात। समकालीन गायक और वादक भी भिन्न–भिन्न शैलियों के अनुयायी होते हैं और इस बात को साबित करते हैं कि संगीत में विविधता का सिद्धान्त हमेशा माना गया है। प्रतिभा के भी कई प्रकार होते हैं और उसके अनेक चमत्कारों से हमें संगीत के अथाह ज्ञान का पता चलता है। आगरे के मौलिक (असली) घराने की बात हम कर चुके हैं परन्तु उसके आस–पास भी ऐसे संगीतज्ञ हुए है जिनका विशेष महत्व रहा है और जिनका एक अलग घराना माना गया है। यह उसी समकालीन युग के संगीतज्ञों के साथ थे जिनका वर्णन हम अभी कर चुके हैं। इनको भी हम उस काल के प्रमुख कलाकार मानते हैं। व्यक्तिगत ढंग से इनमें से हर गायक अथवा वादक का अपना–अपना मूल्य था।

सबसे पहले हम **इमदाद खाँ** नाम के गायक की चर्चा करते हैं जो अपने जमाने के प्रसिद्ध गायक थे। इनका जन्म भी आगरे में सन् 1800 में हुआ था जिस समय घघ्घे खुदाबख्श का जन्म हुआ था। यह दोनों समकालीन थे। इमदाद खाँ के घराने में भी संगीत की उत्तम शिक्षा दी जाती थी और इनके पूर्वज भी घरानेदार गायक थे। अपने घराने के बड़े–बूढ़ों से ही शिक्षा पाकर यह एक अनुभवशील और प्रसिद्ध गायक बन गये थे। यह भी कहा जाता है कि काशी नरेश जो उस समय आगरे में रहते थे, इनके शिष्य बन गये थे और इनसे गाना सीखते थे। उन्होंने इनका बहुत आदर–सत्कार किया। इमदाद खाँ जीवन भर आगरे ही रहे और कहीं बाहर नहीं गये। इनका देहान्त आगरे में लगभग 1860 में हुआ।

हमीद खाँ भी आगरे के एक प्रसिद्ध गायक थे और इनका जन्म 1840 में हुआ था। इन्हें अपने नाना नन्हें खाँ से संगीत की शिक्षा पूरी मिली थी और यह एक कुशल गायक बन गये थे जिनकों ख्याति भी बहुत मिली थी। बुन्देलखण्ड की रियासतों में इनका आना–जाना होता था और इन्हें मान भी काफी मिला। पन्ना रियासत से भी इनको हर साल बसंत के अवसर पर निमंत्रण आता था और वहाँ इनके गाने की बहुत प्रशंसा होती थी। लगभग 1909 में यह दशहरे के अवसर पर मैसूर गये थे और वहीं इनका देहान्त हो गया।

नन्हे खाँ, सलीम खाँ का घराना :

इन दोनों का आपस में साले–बहनोई का संबंध था और इनका जन्म आगरे में लगभग 1800 में हुआ था। यह दोनों साथ–साथ गाते थे और लोग इन्हें आपस के भाई समझते थे। इन्होंने अपने घराने में ही ख्याल की शिक्षा पाई थी और कहा जाता है कि यह दोनों बड़े प्रवीण गायक थे। भरतपुर, जोधपुर, जयपुर, अलवर, पन्ना ऐसी रियासतों में इन्होंने बड़ा नाम कमाया और रतनगढ़ के महाराजा ने इन्हें एक गाँव भी इनाम में दे दिया था। इनका देहान्त 1895 के आस–पास हुआ। आगरे में **प्यार खाँ** नाम के गायक भी हुए है जो सलीम खाँ के बेटे थे और इन्हें अपने पिता से संगीत की शिक्षा मिली थी परन्तु ख्याल को छोड़कर इन्हें ठुमरी में भी अधिक रुचि थी और वह उसे बड़ा अच्छा गाते थे। परन्तु इसके साथ–साथ वह जलतरंग भी बहुत अच्छा बजाते थे। महफिलों में इनके जलतरंग का समां बँध जाता था और लोग झूमने लगते थे।

प्यार खाँ के बेटों में इनके मंझले बेटे **लतीफ खाँ** का जन्म 1875 में हुआ था। इनको भी ख्याल, ठुमरी, दादरा ऐसी शैलियों में बड़ी रुचि थ। सुरीला कंठ पाकर यह इस रंग के गाने को बहुत अच्छा गाते थे। इनका पालन–पोषण अपने पिता के पास जयपुर में ही हुआ था। प्यार खाँ के तीसरे बेटे का नाम **महमूद खाँ** था। इनका ध्यान भी रंगीन गाने की ओर अधिक था और यह भी राजस्थान में बहुत समय तक रहे। इन्होंने एक नये साज का भी आविष्कार किया था जिसका नाम इन्होंने **''वीणा राग स्वरूप''** रखा था और जो यह स्वयं बड़े अच्छे ढंग से बजाते थे, इनका निधन 1920 में हुआ था। प्यार खाँ के छोटे बेटे का नाम **रजा हुसैन** था जो बड़ौदा राज्य में 1909 में नियुक्त हुए और वहाँ बहुत समय तक रहे। इन्हें भी अपने घराने में संगीत की शिक्षा मिली थी और उन्होंने भी गाना सीखा था परन्तु जलतरंग में इनको विशेष रुचि थी और उसे वह बहुत अच्छा बजाते थे।

आगरा के प्रसिद्ध गायकों में **अहमद खाँ** का भी बहुत नाम हुआ है। यह अतरौली के मशहूर गायक महबूब खाँ ''**दरस**'' के शिष्य थे और बड़े अच्छे शिक्षक थे। भारतवर्ष में इनकी ख्याति इसलिये भी फैली थी कि यह आगरे की मशहूर गायिका जोहराबाई के असली गुरू थे। संगीत के प्रेमी इस बात से परिचित है कि जोहराबाई ने शास्त्रीय संगीत में बहुत नाम कमाया था और वह पक्के गवैयों की तरह गाती थी। अहमद खाँ के सुपुत्र **गुल मुहम्मद खाँ** भी एक मंझे हुए गायक थे और बँटवारे के बहुत पहले ढाका में जाकर बस गये थे। अहमद खाँ के बड़े भाई **मुहम्मद सिद्दीक खाँ** भी बड़ी अच्छी शिक्षा देते थे और उन्होंने देहली की मशहूर गायिका नौशाबाबाई को तैयार किया था जो बहुत अच्छा गाती थीं।

सिकन्दराबाद का रंगीला घराना

सिकन्दराबाद उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर ज़िले में है और यहाँ रमजान खाँ नाम के गायक हुए है। बाल्यावस्था में संगीत की शिक्षा इनको अपने कुल में ही मिली थी। परन्तु बाद में अतरौली के इमाम अली खाँ के शिष्य बन गये थे और इनमें गायन कला के और भी गुण आ गये थे। इन्हें गायकी की विशेषताओं पर और उसके कला संबंधी चमत्कारों पर असाधारण अधिकार प्राप्त हो गया था इनमें एक विशेष गुण यह था कि यह ध्रुपद, होरी और ख्याल जैसी सारी शैलियों में अपनी सुन्दर रचनाएँ लिखते थे जिनमें गायकी के आदर्शों के अनुसार स्वरों की अनोखी सजावट होती थी और रागों की कलात्मक व्याख्या भी होती थी। इन बन्दिशों का निर्माण स्वरों और शब्दों के भावुक और कलायुक्त संश्लेषण के द्वारा किया जाता था और यह बन्दिशें अपने ढंग की निराली रचनाएँ थीं। देश भर के बहुत से कुशल गायक इन्हें अब तक गाते हैं इन रचनाओं का संगीत और इनकी कविता दोनों अपने ढंग के अनूठे थे और इन्हें आज भी गायक बड़े चाव से गाते हैं। यह सब लोकप्रिय रचनाएँ मानी गई हैं और इनको सुनकर श्रोतागण अभी भी तृप्त हो जाते हैं। यह अपनी रचनाओं में अपना उपनाम ''**मियाँ रंगीले**'' रखते थे।

भारत विख्यात उस्ताद फैयाज़ खाँ इसी घराने के थे। अपनी ननिहाल से यह आगरा घराने के थे और आगरा घराने के सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध गुलाम अब्बास खाँ, रमजान खाँ इनके नाना थे। परन्तु इनके पूज्य पिता सफदर हुसैन खाँ, रंगीले के घराने के थे। भातखण्डे जी ने अपने ग्रंथों में फैयाज़ को **'रंगीले'** का वंशज कहा है।

कुतुब बख्श

19वीं शताब्दी के आरंभ में सिकन्दराबाद में एक 'कुतुब बख्श' नाम के गायक हुए थे जिन्होंने परिश्रम करके संगीत में बड़ी अनोखी कुशलता प्राप्त की और उनको बड़ी ख्याति भी मिली थी। जब यह लखनऊ आये तो नवाब वाजिद अली शाह इन्हें सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें दरबार में नियुक्त कर दिया। इनमें बहुत से और गुण थे। संगीत विद्या के अतिरिक्त यह उर्दू और फ़ारसी के भी विद्वान थे। साथ–साथ यह गणित विद्या के भी मर्मज्ञ थे और सितार भी बहुत अच्छा बजाते थे। लखनऊ में इनके गाने को बहुत ख्याति मिली। गायक, वादक और विद्वान होने के नाते इनका इतना अधिक मान होता था कि नवाब वाजिद अली शाह भी इनकी प्रतिभा और इनके ज्ञान से ऐसे प्रभावित हुए कि इन्हें अपना मंत्री भी नियुक्त कर दिया। जब गदर के बाद लखनऊ का पतन हुआ तो यह रामपुर के नवाब कल्बे अली खाँ के दरबार में चले गये।

रही रमजान खाँ रंगीले के घराने की बात, इनके भतीजे **मुहम्मद अली खाँ** एक बड़े नामी और सम्मानित संगीतज्ञ थे जिनको अपने जीवन में बहुत मान–सम्मान प्राप्त हुआ था। इनको अपने घराने में ही संगीत–शिक्षा मिली थी परन्तु एक विशेष घटना के कारण इनकी गायकी में बहुत परिवर्तन हो गया था। जब यह देशाटन के लिये निकले और बाँदा पहुँचे तो वहाँ के नवाब जुलफिकार अली खाँ ने इनका बहुत आदर–सत्कार किया। संयोगवश वहाँ उस समय भारतवर्ष के प्रसिद्ध गायक हांडे इमाम बख्श भी मौजूद थे जिनकी गायकी बहुत मुश्किल और पेंचीदा थी। मुहम्मद अली खाँ ने जब उन्हें सुना तो इन्हें उनकी गायकी बहुत पसंद आई और यह उसका अनुकरण करने के

लिये बहुत इच्छुक हुए इसीलिये यह उनके शार्गिद हो गये। बाद में जयपुर, अलवर और बूँदी ऐसी रियासतों में भी इन्होंने बहुत नाम कमाया और इन्हें बहुत से पुरस्कार भी मिले। झालरापाटन के महाराजा तो इनको सुनकर इतना खुश हुए कि इन्हें अपने दरबार में नियुक्त कर दिया था। यह बहुत साल तक वहीं रहे और इनका स्वर्गवास 1890 में हुआ।

अमीर खाँ :

रमजान खाँ रंगीले के एक और भतीजे थे जिनका नाम अमीर खाँ था। इन्हें अपने चाचा से संगीत शिक्षा मिली थी। अपने यौवन काल में यह बिहार प्रान्त में जाकर बस गये थे और संगीत शिक्षा व संगीत–प्रचार कार्य में जुट गये। इन्होंने बहुत से शिष्यों को संगीत शिक्षा दी। इनका देहान्त 1960 में हुआ।

कुतुब अली खाँ :

सिकन्दराबाद में कुतुब अली खाँ नाम के एक और प्रसिद्ध गायक थे। इनको भी संगीत शिक्षा अपने घराने के बुजुर्गों से मिली थी और मेहनत करके यह बड़ी विलक्षण प्रतिभा वाले गायक बन गये थे। इनके ज़माने के प्रसिद्ध गायकों में कुछ ऐसे चोटी के गायक थे जिनका जवाब नहीं था और जो अपने ढंग के निराले गायक थे–जैसे दिल्ली घराने के तानरस खाँ, कव्वाल बच्चों के घराने के मुबारक अली खाँ, ग्वालियर घराने के हद्दू खाँ और घसीट खाँ हुलियारे वाले परन्तु कुतुब खाँ का रंग सबसे अलग और निराला था। इनका स्थाई और अन्तरा कहने का ढंग सबसे अलग था और वह उसको इस ढंग से सजाते थे और उसमें ऐसे रंग भरते थे कि सुनने वाले मस्त होकर झूमने लगते थे। यह भी सुना गया है कि जिस महफिल में यह गाते थे उसमें और किसी गायक का गाना नहीं जमता था। मियाँ रमजान खाँ 'रंगीले' के बाद ऐसा बेजोड़ गायक सिकन्दराबाद में दूसरा और नहीं था।

रहमतुल्ला :

रहमतुल्ला खाँ भी हद्दू खाँ और तानरस खाँ ऐसे नामी गायकों के समकालीन थे। इन्होंने भी सिकन्दराबाद घराने की ख्याति में चार चाँद लगाये थे और गायकों के बीच में इन्हें बहुत सम्मान मिला। इनका स्वर्गवास भी सिकन्दराबाद में हुआ।

अजमतुल्ला :

रहमतुल्ला के बड़े बेटे का नाम अजमतुल्ला खाँ था और इन्हें भी अपने घराने में तालीम मिली थी। इन्होंने ऐसा परिश्रम किया था कि 20 वर्ष की अवस्था में ही वह ऐसा गाना गाने लगे थे कि लोग सुनकर आश्चर्य में रह जाते थे। यह इस उम्र में भी अनुभवशील और प्रौढ़ गायकों की तरह गाते थे। इनकी तानें बड़ी सुन्दर और वजनदार होती थी और उनमें बड़ा असर होता था।

कुदरतुल्ला :

अजमतुल्ला खाँ के भाई का नाम कुदरतुल्ला खाँ था और इनको भी अपने घराने में संगीत की पूरी शिक्षा मिली थी। कहा जाता है कि इनकी आवाज़ बहुत दमदार, चौड़ी और सुरीली थी और उसमें रोशनी थी। प्रायः जिस आवाज़ में रोशनी होती है उसमें कन भी होते हैं और उसकी 'री' और 'आ' दोनों खुले हुए होते हैं और उनमें असर होता है। इनकी आवाज़ पाटदार व रौशन थी और इसलिये असरदार भी थी। इनके समकालीन गायकों में चोटी के गवैये थे जैसे पटियाले के अली बख्श और फतहअली, जहूर खाँ, महबूब खाँ, पुत्तन खाँ, अतरौली वाले अल्लादिया खाँ, सहसवान के इनायत हुसैन खाँ, ग्वालियर घराने के नजीर खाँ और आगरा घराने के नत्थन खाँ। कुदरतुल्ला खॉ ने अपने ज़माने की बड़ी महफिलों में हिस्सा लिया था और सच्चे उतरे थे। इनके गाने की यह विशेषता थी कि यह बैठते ही अपना रंग जमा लेते थे और अपने श्रोताओं को खुश कर लेते थे। परन्तु ख्याल के अतिरिक्त इनकी क़व्वाली भी

ऊँचे दर्जे की थी और उसे यह बेजोड़ गाते थे। यह मीर महबूब अली खाँ निजाम के दरबार में नियुक्त हो गये थे। 80 वर्ष की उम्र में जब यह बम्बई में आये थे और जब एक खास जलसे में गाये तो मशहूर गायक भास्कर बुवा बखले ने इन्हें गुरू दक्षिणा दी थी। इसी से पता चलता है कि यह कैसे चोटी के गायक थे।

जहूर खाँ :

सिकन्दराबाद के मशहूर गायक जहूर खाँ इमाम खाँ के लड़के थे और हिन्दुस्तान भर में यह अपनी तैयारी के लिये मशहूर थे। इनके पिता तो सिर्फ ढोलक बजाते थे परन्तु ढोलक बजाने में उनकी टक्कर का दूसरा ढोलक–वादक नहीं था। जहूर खाँ को शिक्षा अपने बड़े–बूढ़ों अथवा घराने के बुजुर्गों से मिली थी। परन्तु इनकी संगीत पिपासा की तृप्ति नहीं हुई थी और इनके कुतुहल की प्यास भी नहीं बुझी थी। इनमें जिज्ञासा भी थी और ज्ञान की भूख–प्यास भी थी। यह मेहनती बहुत ऊँचे दर्जे के थे और इनमें उन्नति करने की भी अभिलाषा थी। महबूब खाँ, नत्थन खाँ ऐसे गायकों का सत्संग इन्हें बहुत मिला था और उनको सुन–सुनकर भी इन्होंने बहुत कुछ सीखा था। बाद में यह महबूब खाँ के शिष्य बन गये थे। अपने से बड़ों का यह बहुत आदर करते थे और गुणियों के आगे अपना सिर झुकाते थे। यह दिल्ली के तानरस खाँ को भी अपना उस्ताद मानते थे एक बार यह तानरस खाँ के चहल्लुम के जलसे में अपनी श्रृद्धांजलि अर्पित करने दिल्ली गये। वहाँ तानरस खाँ के सारे शिष्य एकत्र थे जिसमें अली बख्श व फतहअली (अलिया–फत्तू) बहुत जमकर गाये और जलसे पर छा गये। उसके बाद जहूर खाँ गाने बैठे। यह ऐसा दबंग और जोरदार गाना गाये कि लोग इन्हें सुनकर दंग रह गये और अलीबख्श, फतहअली का गाना फीका पड़ गया। अलीबख्श और फतहअली भी इन्हें सुनकर इनके गाने से प्रभावित हुए और उनके मुँह से यह शब्द निकले–"आप तो हमारे खलीफा हैं और आपका दर्जा हमसे बहुत ऊँचा है।" 40 वर्ष बाद फतहअली के सर्वश्रेष्ठ शिष्य मियाँ जान खाँ ने भी

बंबई की एक महफिल में अपने बाद तरूण गायक फैयाज़ को सुनकर कहा था—"तुमीं तो उस्ताद जादे हो। तुम्हारा क्या कहना।" इन दोनों घटनाओं के बीच एक तरह का समानांतर है। दोनों प्रशंसात्मक वाक्यों में उदारता की भावना छिपी है।

फिदा हुसैन खाँ :

सिकन्दराबाद के मशहूर गायक मुहम्मद अली खाँ के मँझले बेटे का नाम फिदा हुसैन खाँ था। इनको भी अपने पिता से शिक्षा मिली थी और यह बड़ा परिश्रम करके बड़े नामी गायक बन गये थे। इनकी आवाज़ पतली और सुरीली थी और उसमें बड़ा लोच था। ऐसी सुरीली और लोचदार आवाज़ का असर श्रोताओं पर भी बहुत अधिक पड़ता है। फिदा हुसैन को बहुत सी रियासतों में बहुत सम्मान मिला था और बहुत से पुरस्कार भी मिले थे। 1910 में नाथद्वारा मठ के गुसाई जी के पास आप रहने लगे थे। वह इनका बहुत अतिथि सत्कार करते थे ओर इनकी गायन कला के भक्त थे। यह 1920 तक वहीं रहे। बाद में जब वह कोटा चले गये तो इनका वहीं देहान्त हो गया। इनकी गणना भी प्रतिभासम्पन्न गायकों में होती थी।

मुहम्मद अली खाँ द्वितीय :

सिकन्दराबाद में एक और गायक मुहम्मद अली खाँ नाम के हुए हैं जो कुदरतुल्ला के बड़े सुपुत्र थे जिन्हें हम दूसरे मुहम्मद अली खाँ के नाम से पुकारेंगे। इन्हें अपने पिता से संगीत की शिक्षा मिली थी और अभ्यास करके यह बड़े प्रवीण गायक बन गये थे। इनकी आवाज़ बड़ी वजनदार और सुरीली थी। यह निज़ाम हैदराबाद के दरबार में नियुक्त हो गये थे। इन्दौर, मैसूर और गढ़वाल ऐसी रियासतों में भी इन्हें बहुत सम्मान मिला था और बहुत से पुरस्कार भी मिले थे। माणिक प्रभु वाले गुसाई जी भी इनके गाने से बहुत खुश थे। इनका देहान्त 1925 में हैदराबाद में हुआ।

बदरूज्जमा :

सिकन्दराबाद के बदरूज्जमा किफायतुल्ला खाँ के लड़के थे। गाना इन्होंने अपने घराने के बुजुर्गों से सीखा था। इनका गला भी बहुत सुरीला और तैयार था। इनको बहुत सी पुरानी बन्दिशें याद थी जिन्हें यह बहुत जमकर गाते थे और अपने श्रोताओं को आनन्दित करते थे। यह स्वयं बन्दिशों की रचना करते थे और इन्होंने बहुत सी चीजें बनाई थी। इनके बनाये हुए तराने भी अपने ढंग के निराले थे। शास्त्रीय संगीत के अलावा यह आमफहम गाना अथवा हल्की–फुल्की चीजें भी बड़े मज़े में गाते थे और ठुमरी व दादरा ऐसी लोकप्रिय शैलियों की बड़ी भावुक व्याख्या करते थे। यह दादरा ऐसी लोकप्रिय शैलियों की बड़ी भावुक व्याख्या करते थे। यह निज़ाम हैदराबाद के दरबार में भी रहे और मैसूर, इन्दौर, ग्वालियर, दुजाना और गढ़वाल ऐसी रियासतों में भी इन्हें बहुत से पुरस्कार मिले। अपनी विद्या को उदारता से देने में इन्हें कभी कोई संकोच नहीं होता था। हैदराबाद में इन्होंने अपने बहुत से शिष्य तैयार किये थे। लगभग 1929 में इनका स्वर्गवास हैदराबाद में हुआ।

मुजफ्फर खाँ :

दिल्ली के मशहूर गायक मुजफ्फर खाँ भी सिकन्दराबाद घराने के थे। यह मस्ते खाँ के बेटे थे और दिल्ली इनका निवास–स्थान बन गया था। पिछले ज़माने के ख्याल गायकों में इनका बड़ा नाम हुआ था। बहुत से लोगों ने इनका ख्याल गायन सुना था। यह बहुत अच्छे ख्यालिये थे और इनका स्थाई व अन्तरा बड़ा असरदार था। आवाज भी इनकी सुरीली और साफ शफ़ाक थी और सुनने वालों के दिलों को खींचती थी। चंपानगर और महिशादल ऐसी रियासतों में इनका बड़ा नाम हुआ। इनके बेटे मुनव्वर खाँ भी बड़े होनहार और प्रतिभाशील गायक थे।

गुलाम अब्बास खाँ :

उपरोक्त गायकों के अतिरिक्त सिकन्दराबाद में और भी अच्छे–अच्छे गायक हुए हैं। कुतुब अली खाँ के लड़के गुलाम अब्बास खाँ भी संगीत कला में पारंगत थे और बड़े असरदार गवैये थे। यह 19वीं शताब्दी के गायक थे। जिन बुजुर्गों ने इन्हें सुना था वह इनकी बड़ी प्रशंसा करते थे। विशेषकर मथुरा के गुसाई जी इन्हें बहुत मानते थे और इनके संगीत का बड़ा आनन्द लेते थे। यह अपने जीवन के अन्तिम काल में भोपाल के दरबार में रहें।

भोगा और भुनगा :

इसी तरह 1801 के लगभग सिकन्दराबाद में दो सगे भाई थे जो **भोगा और भुनगा** के नाम से मशहूर थे। यह भी कुशल संगीतज्ञ थे। परन्तु यह दोनों सच्चे भक्त थे और अपनी भक्ति अथवा साधना के रंग में डूबे रहते थे। संगीत इनकी भक्ति का साधन अथवा इनकी धार्मिक कल्पनाओं और भावनाओं का कलायुक्त माध्यम था। यह अपनी भक्ति के रंग में ऐसे डूबे रहते थे कि स्वरों को यह ओदम अथवा नाद ब्रम्ह का सुन्दर प्रतीक मानते थे और उनकी साधना करके यह संसार से विरक्त हो गये थे और ईश्वरभक्ति में विलीन हो ग़ये थे। इनकी समाधियाँ चिश्ती रहमतुल्ला की दरगाह में अभी भी मौजूद है। सूफी मत का अथवा मुस्लिम रहस्यवाद का भी बड़ा गहरा प्रभाव इनकी चेतना पर पड़ा था।

अतरौली घराना

आधुनिक युग के दो प्रसिद्ध और सर्वश्रेष्ठ गायक अतरौली, ऐसी मामूली और अनजानी जगह से बहुत अधिक संबंधित थे। पहले गायक तो बंबई के उस्ताद अल्लादिया खाँ थे और दूसरे थे बड़ौदा के उस्ताद फैयाज़ खाँ। उस्ताद अल्लादिया खाँ अपनी पेंचीदा और बलदार गायकी के विशेषज्ञ थे और एक विद्वान गायक माने जाते थे। यदि यह गायकी ख्याल की गायन शैली का एक विशेष पक्ष अथवा अंग था जिसमें स्वरों की अनोखी उलट–पुलट होती थी और किसी राग की बौद्धिक व्याख्या भी होती थी, तो उस्ताद फैयाज की गायकी ख्याल की गायन शैली का दूसरा विशेष अथवा अनिवार्य पक्ष था। इस गायकी में किसी भी राग में उच्चकोटि की सृजनात्मक तथा भावनापूर्ण व्याख्या होती थी और इसमें बौद्धिक कुतूहल एक तरह से अप्रधान बन जाता था। परन्तु ख्याल गायकी के यह दोनों पक्ष ख्याल गायन के दो अनिवार्य अंग थे जिनसे दो अलग–अलग शैलियों का जन्म हुआ था। पहली अधिकतर बौद्धिक थी और दूसरी हृदयस्पर्शी।

उस्ताद अल्लादिया खाँ के पूर्वज अतरौली के रहने वाले थे और उनका घराना अतरौली का घराना ही कहलाता था। जहाँ तक उस्ताद फैयाज के घराने का संबंध था वह आगरा घराना कहलाता था परन्तु इसलिये कि उनका विवाह अतरौली में हुआ था और वह महबूब खॉ **"दरस"** के दामाद थे, वह अतरौली से भी एक तरह से संबंधित थे और वहाँ अक्सर आया–जाया करते थे। खुर्जा और सहसवान की तरह अतरौली भी एक छोटी सी जगह है और अलीगढ़ से कुछ ही दूर है। कदाचित यह कहना गलत न होगा कि पिछले ज़माने में महबूब खाँ "दरस" ऐसे संगीतज्ञ ने ही अतरौली को सारे देश में मशहूर बनाया था। उनकी बहुत सी सुन्दर रचनाएँ इतनी प्रसिद्ध है कि गायक अभी भी उन्हें गाते हैं। कुछ रागों में तो उनकी बन्दिशें बेजोड़ मानी जाती है और उन रागों में उस ढंग की और कोई रचनाएँ नहीं मिलती हैं। राग आनन्दी में उनकी मशहूर

रचना "हे बारे सैया" उस्ताद अल्लादिया खाँ भी बड़े प्रेम से गाया करते थे। इसी तरह राग जोग में भी उनकी रचना "पिहरवा को बिरमाये" बेजोड़ बन्दिश है। इसके साथ की मध्य लय की रचना महबूब खाँ के सुपुत्र अताहुसैन खाँ की बनाई हुई है और उसे भी बहुत से गायक सुन–सुनकर गाते हैं–"अजहुँ न आये श्याम"। परन्तु **"दरस पिया"** की और भी बहुत सी बेजोड़ रचनाएँ हैं। उनकी राग सोहनी की रचना "द्रुम–द्रुम–लता–लता" और राग तिलक कामोद की रचना "गुन की चर्चा कर ले माँ" भी बहुत ख्याति पा चुकी है। इस बात का खेद है कि 'दरस पिया' ऐसे बेजोड़ कवि और संगीतकार की बहुत सी रचनाओं की स्वरलिपि नहीं हो सकी। भातखण्डे जी भी उनके संपर्क में अधिक नहीं आ सके और यह काम अधूरा ही रह गया। परन्तु महबूब खॉ "दरस" एक सुयोग्य और अनुभवशील गायक भी थे। जहाँ तक जान पड़ता है आगरे के उस्ताद अहमद खाँ जो मशहूर गायिका जोहरा बाई के गुरू थे, महबूब खाँ 'दरस' के ही शिष्य थे। रामपुर दरबार के गायक मुश्ताक हुसैन खाँ ने भी इनसे बहुत कुछ सीखा था और उनका एक अनूठा ग्रंथ भी उनके पास था। महबूब खाँ के दो प्रतिभाशाली सुपुत्र थे जिनके नाम अताहुसैन और बन्दे हसन था। इन दोनों को फैयाज खाँ से शिक्षा मिली थी। अताहुसैन खाँ बड़े मंजे हुए गायक हैं और शिक्षक भी बहुत अच्छे हैं। बड़ौदे और बंबई के स्वामी वल्लभदास को और अपने भाँजे शराफत हुसैन को इन्होंने ने ही शिक्षा देकर तैयार किया था।

यह देखते हुए कि अतरौली एक छोटी सी जगह है इसमें आश्चर्य होता है कि यहाँ इतने धुरन्धर और नामी संगीतज्ञ हुए जो संगीत कला के अनोखे मर्मज्ञ थे। ध्रुपद, होरी और ख्याल इन तीनों शैलियों में यहाँ के बहुत से संगीतज्ञों ने निपुणता प्राप्त की थी। 18वीं शताब्दी के अन्त में और 19वीं शताब्दी के आरम्भ में गायकों और वादकों की संख्या बहुत बढ़ गई थी, नये–नये घरानों का भी विकास हुआ था। जब हम **'अतरौली का घराना'** ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हम उन सब संगीतज्ञों की ओर संकेत करते हैं जो अतरौली के निवासी थे अथवा उससे किसी विशेष ढंग से

संबंधित थे। इन सब संगीतज्ञों के सामूहिक रूप को ही हम **"अतरौली का घराना"** कहते हैं। खुर्जा और सहसवान घराने की तरह यह घराना ख्याल का घराना ही नहीं माना जाता था। यहाँ के अधिकांश संगीतज्ञ ध्रुपद और धमार ऐसी शैलियों के विशेषज्ञ थे और इस बात को सिद्ध करते थे कि ध्रुपद और ख्याल की संगीत परम्परा एक है और यह दो मुख्य शैलियाँ एक दूसरे से विभाजित नहीं की जा सकती। यह बात संगीत के 'एकता सिद्धान्त' की ओर भी संकेत करती हैं। वास्तव में अतरौली का घराना संगीत की विविध शैलियों का घराना माना जाता है और वहाँ के सब संगीतज्ञ इसी एक घराने के अन्तर्गत माने जाते हैं। इसलिये सामूहिक रूप से हम इनको अतरौली के घराने के अन्तर्गत ही मानते हैं।

अतरौली घराना भिन्न– भिन्न संगीतज्ञों का समूह था जिसमें अनेक घरानों का जन्म हुआ था। इनमें से कुछ व्यक्तिगत रूप से संगीत के क्षेत्र में अपना महत्व रखते थे। अतरौली के यह अलग– अलग घराने अपनी– अपनी विशेषता रखते थे। परन्तु सामूहिक रूप से यह अतरौली घराने को ही सुशोभित करते थे। इनमें से कुछ संगीतज्ञ तो अपने ही घरानों से संबंधित और कुछ की अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा थी। परन्तु यह सब अतरौली के परम्परागत संगीत से संबंधित थे और उसे गौरवशाली बनाते थे। यही कारण है कि संगीत के इतिहास लेखक अतरौली घराने को इतना महत्व देते हैं। यह सारे संगीतज्ञ जिनके बारे में हमें कोई विशेष ऐतिहासिक तथा कला संबंधी जानकाकरी नहीं है, अतरौली की मर्यादा का पोषण करते थे और यह उनकी कर्तव्यनिष्ठा और क्रियाशीलता का ही फल था कि आज भी हमें उनकी याद आती है। यह वह बूँदे थीं जिनसे अतरौली के संगीत का गागर भरा गया था। यह वह विभूतियाँ थी जिन्होंने अतरौली के संगीत को सुशोभित किया गया था। इन सबसे सहयोग से ही अतरौली के परम्परागत संगीत का निर्माण हुआ था। इनमें से प्रत्येक संगीतज्ञ ने संगीत की अमूल्य निधि संचय करने में अपना योगदान दिया था। यह सब अपने–अपने ढंग से अतरौली संगीत परम्परा के पोषक थे और उसके उज्जवल स्तम्भ थे। पहले हम ऐसे संगीतज्ञों

का वर्णन करेंगे जो बहुत काल तक अतरौली को संगीत का केन्द्र बनाने में संलग्न थे और जिन्होंने अतरौली के परम्परागत संगीत की मजबूत नींव डाली।

अतरौली में **काले खाँ** और **चाँद खाँ** नाम के दो गायकों का जन्म हुआ था जिनके पूर्वज ब्राम्हण थे। अतरौली के घरानेदार गायक बताते हैं कि **दुल्लू खाँ** और **छज्जू खाँ** नाम के दो गायकों का जन्म भी अतरौली में हुआ था और यह दोनों गायक ध्रुपद और धमार ऐसी शैलियों के विशेषज्ञ थे और गोबरहारी बानी की गायकी के अनुशासन का पालन करते थे। 18वीं शताब्दी के अन्त में अतरौली में एक और गायक थे जिनका जन्म ब्राम्हण के कुल में हुआ था। इनका नाम **हुसैन खाँ** था और यह भी ध्रुपद–धमार के निपुण गायक थे। इनका निधन 1836 के लगभग हुआ। मशहूर गायक स्व० अजमत हुसैन खाँ इन्हीं के वंशज माने जाते हैं। पुराने गायकों का वर्णन करते समय एक को हम नहीं भूल सकते इनका नाम **शाहब खाँ** था और इनका जन्म भी ब्राम्हण के कुल में हुआ था। यह भी ध्रुपद–धमार के विशेषज्ञ थे। इनके अतिरिक्त अतरौली में गुलाम ग़ौस खाँ, खैराती खाँ (खंडारबानी), करीम बख्श (खंडारबानी), चिम्मन खाँ, जहूर खाँ, हक्कानी बख्श, भूपत खाँ, गुलाब खाँ, गुलाम हुसैन खाँ (नौहारबानी), मुन्नू खाँ, ख्वाजा अहमद खाँ (डागुरबानी) आदि।

अतरौली के अधिकांश मुसलमान गायकों का जन्म ब्राम्हण कुल में हुआ था। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि अधिकांश गायक ध्रुपद और होरी–धमार की परम्परा के अनुयायी थे और इन्हीं शैलियों को अधिकतर व्यवहार में लाते थे। इन गायकों में ध्रुपद शैली प्रधान थी और ख्याल का केवल द्वितीय स्थान था।

जिस विशेष घराने का वर्णन हम कर रहे हैं वह इस बात को साबित करता है कि बहुत से संगीतज्ञ ध्रुपद शैली के माध्यम से ही ख्याल शैली तक पहुँचे थे ओर बहुत से नामी गायक पहले ध्रुपद ही गाते थे। अतरौली घराने के प्रमुख कलाकारों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

ख्वाजा अहमद खाँ :

ख्वाजा अहमद खाँ इसी तरह के एक नामी गायक थे और इनके वंशज भी आधुनिक युग के प्रमुख ख्याल गायक माने गये है। यह डागुर बानी का ध्रुपद गाते थे, इनके घराने में ध्रुपद गायन की ही परम्परा थी और इन्हें अपने बुजुर्गों से ही ध्रुपद की शिक्षा मिली थी।

जहाँगीर :

ख्वाजा अहमद खाँ के भाई का नाम जहाँगीर खाँ था और इनका जन्म उनियारे में हुआ था। इनके पूर्वज भी अतरौली के रहने वाले थे और इन्हें भी अपने भाई की तरह अपने घराने में ही शिक्षा मिली थी। परन्तु होरी–धमार के अतिरिक्त ख्याल भी यह बहुत अच्छा गाते थे। अपने ज़माने में इनकी गणना विद्वान गायकों में होती थी और इन्हें विभिन्न शैलियों पर अस्वाभाविक अधिकार था।

अल्लादिया खाँ :

बंबई के प्रसिद्ध गायक उस्ताद अल्लादिया खाँ का आधुनिक युग में संगीत के क्षेत्र में विशेष स्थान था और गायकों, वादकों तथा श्रोताओं के समाज में इनका बहुत आदर होता था। यह अपने ज़माने के धुरन्धर गायक और विद्वान संगीतज्ञ थे। इनके पास रागों व बन्दिशों का अनूठा संग्रह था और इनको बहुत सी अप्रचलित रागों का भी ज्ञान था। परन्तु यह बताना आवश्यक है कि पहले यह ध्रुपद गाते थे और बाद में ही इन्होंने ख्याल का अभ्यास किया और एक सुयोग्य ख्याल गायक बने। इनको अपनी प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता ख्वाजा अहमद खाँ से मिली थी। परन्तु अपने पिता के स्वर्गवास के बाद यह अपने चाचा जहाँगीर खाँ से शिक्षा प्राप्त करने लगे। जहाँगीर खाँ ध्रुपद और होरी के अलावा ख्याल शैली के भी मर्मज्ञ थे। अपने चाचा के संपर्क में आकर यह स्वाभाविक था कि तरूण गायक अल्लादिया खाँ का ध्यान ख्याल शैली की ओर भी जाय। जहाँगीर खाँ ख्याल भी इतना अच्छा गाते थे और उसे इतना रोचक

बनाते थे कि उनके भतीजे और शिष्य अल्लादिया खाँ को उनसे बहुत अधिक प्रेरणा मिली। अल्लादिया खाँ स्वभाव से ही अपनी अभिरुचि की प्रेरणा से ख्याल शैली की ओर आकर्षित हुए थे। कदाचित अपने स्वभाव से ही ध्रुपद को छोड़कर ख्याल शैली के भक्त बन गये थे। जब उनके सामने यह प्रश्न उठा कि वह किस गायकी का अभ्यास करें तो शायद मुबारक अली खाँ की पेंचदार गायकी ने ही उन्हें सबसे अधिक आकर्षित किया और वह अपने ढंग से उसकी नकल भी करने लगे। कव्वाल बच्चों की प्रामाणिक गायकी का अनुवाद करने में यदि मुबारक अली खाँ बहुत हद तक असफल भी रहे तो फलस्वरूप उन्होंने अपनी एक अलग गायकी का आविष्कार किया जो पेंचदार फिरत पर आधारित थी और अपने ढंग की निराली गायकी थी।

आगरा घराने के नत्थन खाँ और अतरौली घराने के अल्लादिया खाँ दोनों अलग– अलग ढंग से इस गायकी से प्रभावित हुये थे परन्तु अल्लादिया खाँ ने अपने ढंग से अपनी गायकी में इस घरानेदार गायकी का अनुवाद करने का भरसक प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक नई गायकी का जन्म हुआ जिसे अल्लादिया खाँ की शिष्य परम्परा ने बाद में अपनाया और उस पर जी लगाकर अभ्यास किया।

अल्लादिया खाँ का जीवन भी आरम्भ काल से परिवर्तनशील रहा था और उन्होंने संगीत के क्षेत्र में बहुत अनुभव प्राप्त किया। अपनी संगीत शिक्षा के अलावा उन्होंने बहुत से प्रतिभासम्पन्न गायकों को भी सुना था और गायन शैली अथवा गायकी के भेदों और चमत्कारों का सूक्ष्म निरीक्षण किया था। यदि यह गुण उनमें न होता तो वह एक नई गायकी का आविष्कार करने में असमर्थ रहते और इतने बड़े गायक न बनते। व्यवहारिक संगीत के वर्षों के अनुभव ने और उसके अध्ययन ने उनके ज्ञान को अथाह बना दिया था। अपनी संगीत शिक्षा के अन्त होने पर अल्लादिया खाँ जयपुर के रईस नवाब कल्लन खाँ के यहाँ रहने लगे। इनके पास अल्लादिया खाँ कुछ वर्षों तक रहे और बाद में बड़ौदा चले गये। इसके बाद बड़ौदा से बम्बई पहुँचे। बम्बई में यह कुछ ही समय रह पाये थे कि कोल्हापुर के महाराजा छत्रपति ने इन्हें अपने यहाँ

निमंत्रित किया और एक महीने लगातार इनका गाना सुना। वह इनके गाने से इतने खुश हुए कि उन्होंने अल्लादिया खाँ को अपने यहाँ नियुक्त कर दिया। कोल्हापुर के महाराजा छत्रपति के निधन के पश्चात् अल्लादिया खाँ स्थाई रूप से बम्बई में रहने लगे। धीरे–धीरे बम्बई के लोगों को इनका पता चला और वह इनके भक्त बनने लगे। परन्तु इनका जीवन इतना परिवर्तनशील था कि वह चार वर्ष तक कलकत्ता के सेठ दुलीचन्द के पास भी पहले रह चुके थे। यह मानना पड़ेगा कि जो मान–सम्मान इन्हें महाराष्ट्र में और विशेषकर बम्बई में मिला वह कहीं और नहीं मिला। धीरे–धीरे इनकी ख्याति देश भर में फैल गई। इन्हें लोग बम्बई से ही संबंधित करते थे और यह भारतवर्ष भर में **"बम्बई के अल्लादिया खाँ"** कहलाते थे। यथार्थ में बम्बई इनके जीवन का केन्द्र माना जाता था। इनके संपर्क से बम्बई को भी बहुत ख्याति मिली।

जहाँ तक उस्ताद अल्लादिया खाँ की गायकी का संबंध था, हमें यह बात माननी पड़ेगी कि उनके प्रमुख शिष्यों ने उसका ठीक–ठीक अनुवाद और प्रचार किया था। उस्ताद अल्लादिया खाँ के तीन शिष्य थे–भूरजी खाँ, मंजी खाँ, केसरबाई केरकर।

मंजी खाँ :

उस्ताद अल्लादिया खाँ के सुपुत्र मंजी खाँ का असली नाम बदरूद्दीन खाँ था और यह अल्लादिया खाँ के मँझले बेटे थे। इनको अपने पिता से अपने घराने की गायकी की पूरी शिक्षा मिली थी और यह बड़े सुलझे हुए कुशल गायक थे। अल्लादिया खाँ के शागिर्दों में जैसी अपूर्व बुद्धि मंजी खाँ में थी वैसी शायद और किसी शागिर्द में नहीं थी। सांगली, जमखंडी, मिरज, मुधौल और बड़ौदा ऐसी रियासतों से उन्हें सदैव निमंत्रण आते थे। दुर्भाग्यवश मंजी खाँ की अकाल मृत्यु 1937 में हो गई, शायद यह कहना गलत न होगा कि यदि मंजी खाँ को और उम्र मिलती तो इस देश के सर्वश्रेष्ठ

गायकों में उनकी गणना होती। इनके बहुत से शिष्य हैं परन्तु उनमें मल्लिकार्जुन मंसूर का नाम सबसे पहले आता है।

भूरजी खाँ :

अल्लादिया खाँ के दूसरे बेटे का नाम शमशुद्दीन खाँ था परन्तु सारा देश इन्हें भूरजी खाँ के नाम से जानता था। इन्होंने भी अपने पिता से ख्याल की शिक्षा प्राप्त की थी और यह एक कुशल गायक थे। यह कोल्हापुर रियासत में नियुक्त हो गये थे। इनके प्रमुख शिष्य गजानन बुआ जोशी और कानेटकर माने जाते हैं। कुछ काल तक मोंगूबाई ने भी इनसे गाना सीखा था। इनका स्वर्गवास 1950 में हुआ था।

केसरबाई केरकर :

इनकी तीसरी शिष्या का नाम केसरबाई केरकर है जो इनकी भारत विख्यात अद्वितीय शिष्या मानी जाती है। यह प्रौढ़ा गायिका अपने ढंग की निराली गायिका है। यह कहना कदाचित ठीक होगा कि अल्लादिया खाँ ने जितने काल तक केसरबाई केरकर को शिक्षा दी उतने समय तक शायद और किसी को शिक्षा नहीं दिया। इनको हम अल्लादिया खाँ का प्रधान शिष्य मानते हैं और इनकी विद्वता को देखते हुए किसी और गायिका की तुलना इनसे नहीं की जा सकती। भारतवर्ष की प्रसिद्ध गायिकाओं में यह एक विद्वान कलाकार मानी जाती हैं। और इनको अपने पूज्य गुरू से बहुत तालीम पहुँची थी। इनका जन्म गोवा के 'केर' नामक स्थान पर हुआ था और इनको बचपन से संगीत में स्वाभाविक रुचि थी। जैसे–जैसे इनको जैसा अवसर मिलता गया यह संगीत सीखने का पूरा प्रयत्न करती रहीं। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में इन्होंने बझे बुआ, भास्कर राव बखले और बरक्तुल्ला खाँ से भी कुछ–कुछ समय तक संगीत सीखा था। कुछ समय के पश्चात् ही यह अल्लदिया खाँ की शिष्या बन गईं और इन्होंने 20 वर्ष तक उनसे गाना सीखा। केसरबाई को इसका श्रेय है कि इन्होंने अपने गुरू की पेचीदा गायकी का अभ्यास करके उसमें अपने ढंग से कुशलता प्राप्त की है। यह कहना असंगत न होगा कि इनकी जोड़ की दूसरी गायिका अब इस देश में नहीं है।

सन् 1953 में इन्हें राष्ट्रपति द्वारा **'पद्मश्री'** उपाधि प्राप्त हुई और गुणीजनों से भी मान्यता प्राप्त हुई थी।

अल्लादिया खाँ के यह तीनों शिष्य अपनी– अपनी जगह निराले थे। इन तीनों के अतिरिक्त मोंगूबाई कुर्डीकर, गुल्लू भाई जसदान, लीलूबाई शेरगाँवकर और अजमत हुसैन खाँ के नाम भी उल्लेखनीय हैं। उस्ताद अल्लादिया खाँ का निधन 1946 में हुआ था।

हैदर खाँ :

हैदर खाँ अल्लादिया खाँ के छोटे भाई थे और ख्वाजा अहमद खाँ के छोटे लड़के थे। अपने बड़े भाई की तरह इन्हें भी अपनी प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता से मिली थी और बाद में इन्होंने भी अपने चाचा जहाँगीर खाँ से सीखा था। इनकी आवाज पतली थी मगर दमदार और सुरीली थी। यह बहुत तैयार नहीं गाते थे परन्तु एक असरदार गवैये थे। अपने भाई अल्लादिया खाँ की तरह इनकी रागें भी सच्ची तथा प्रामाणिक होती थी। रागों की सच्चाई को यह प्रथम स्थान देते थे। इनका स्वर्गवास उनियारा रियासत में 1935 में हुआ।

नत्थन खाँ :

अल्लादिया खाँ के एक भाई का नाम नत्थन खाँ था। गायक की हैसियत से तो इनका बहुत नाम नहीं हुआ परन्तु यह बड़े अच्छे शिक्षक थे और बहुत से लोगों को इन्होंने शिक्षा दी। जिनमें मोंगू बाई कुर्डीकर की भी गणना होती है। इनका देहान्त 1946 में हुआ।

बशीर खाँ :

बशीर खाँ ख्वाजा अहमद खाँ के बड़े सुपुत्र थे और अल्लादिया खाँ के भाई थे। इनका जन्म जोधपुर में हुआ था और इनको भी संगीत की शिक्षा अपने घराने में मिली

थी। परन्तु आवाज़ खराब होने के कारण इनका मन गाने में नहीं लगा। यह घर से बाहर निकल गये और कलकत्ते पहुँचकर 'भैया साहब गनपत राव' के हारमोनियम में शागिर्द हो गये। लोग कहते हैं जब भैया जी को यह पता चला कि बशीर खाँ अतरौली के एक प्रतिष्ठित घराने से संबंधित थे तो उन्होंने और भी स्नेह के साथ इन्हें अपनी वादन कला सिखाई। बशीर खाँ भी बाजे पर बड़े सुन्दर बोल निकालने लगे थे और सारे देश में इनका नाम था।

ध्रुपद और ख्याल गायकों के घराने के होकर भी बशीर खाँ ने बाजे का शौक किया और वह बोलबनाव की ओर ही झुक गये। यह एक अनहोनी सी बात थी। आश्चर्य तो इस बात का था कि इस घराने का एक कलाकार बोलबनाव की ही जीवन भर साधना करता रहा। आधुनिक शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में इससे बड़ा विरोधाभास नहीं हो सकता और न इस तरह का प्रतिवाद अथवा व्याघात ही हो सकता है। परन्तु यह बात एक और तथ्य की ओर संकेत करती है कि हिन्दुस्तानी संगीत की सर्वव्यापी परम्परा में कई शैलियों का समावेश है और उसकी सांस्कृतिक आत्मा अविभाज्य है। अल्लादिया खाँ भी इस बात को मानते थे।

खुर्जा का घराना एवं उसके प्रमुख कलाकार

उत्तर प्रदेश के बहुत से छोटे शहर भी घरानेदार संगीत और संगीतज्ञों से संबंधित रहे हैं। जैसे–इटावा, सहसवान, बदायूँ, कालपी, खजूर गाँव, बाँदा, मुरादाबाद व मेरठ इत्यादि। जब हम ऐसे शहरों को याद करते हैं तो **'खुर्जा'** ऐसा शहर जुबान पर सबसे पहले आता है। खुर्जा के गायकों का घराना भी अपने ढंग से प्रसिद्ध माना गया है। सुना जाता है कि 18वीं शताब्दी के आरंभ में यहाँ नत्थे खाँ नाम के एक गायक थे जनके पुत्र का नाम जोधे खाँ था, जिनका जन्म दिल्ली के आस–पास किसी कस्बे में हुआ था। यह भी सुना जाता है कि जोधे खाँ बड़े अच्छे गायक थे और इन्हें अपने बड़े–बूढ़ों से संगीत की शिक्षा मिली थी। यह इतने कुशल और प्रवीण गायक थे

कि शिमरोनागढ़ के नवाब ने इन्हें एक जागीर दे दी थी और अपने दरबार में नियुक्त कर दिया था। अपने जीवन के अन्तिम काल में यह खुर्जा आकर बस गये थे। इन्हीं को हम खुर्जा घराने का जन्मदाता मानेंगे।

इमाम खाँ :

जोधे खाँ के पुत्र का नाम इमाम खाँ था और इनका जन्म भी खुर्जा में हुआ था। यहीं पर इनको अपने घराने में ही संगीत की शिक्षा मिली थी। जब यह एक होनहार गायक बन गये तो यह रामपुर के नबाव कल्बे अली खाँ के दरबार में पहुँचे और वहाँ पर नियुक्त हो गये। रामपुर के नवाब संगीत के रसिक पारखी थे और उनके दरबार में और अच्छे–अच्छे नामी संगीतज्ञ नियुक्त थे।

गुलाम हुसैन :

गुलाम हुसैन इन्हीं इमाम खाँ के बेटे का नाम था और यह भी एक प्रवीण गायक थे। यह पहले दनकौर नाम के कस्बे में जाकर बस गये थे और वहीं रहने लगे थे। सुनते है कि नवाब आजम अली खाँ नाम के एक रईस जो संगीत के समझदार प्रेमी थे, इन्हें जाकर खुर्जा ले आये थे और यह वहीं रहने लगे थे। यह भी सुना जाता है कि नवाब साहब ने इन्हें एक जागीर भी दी थी और यह बड़े सुख से जीवन भर खुर्जे में ही रहे।

जहूर खाँ ('रामदास', 'मुमकिन') :

गुलाम हुसैन के बड़े सुपुत्र का नाम जहूर खाँ था जो खुर्जा घराने के सबसे प्रसिद्ध गायक माने गये है। आधुनिक युग में जहूर खाँ ही अपने घराने के अद्वितीय गायक माने जाते थे और इनका बड़ा नाम था। सच पूछा जाय तो आधुनिक काल में इन्हीं के नाम से खुर्जा घराने का इतना बड़ा नाम हुआ और संगीतज्ञों में उसे मान्यता मिली है। जहूर खाँ दिल्ली के मशहूर गायक तानरस खाँ के घराने से भी संबंधित थे और उनकी शिष्य परंपरा से भी संबंधित थे। जब कभी व्यवहारिक संगीत के ज्ञान पर तथा घरानेदार शैली पर कोई बात छिड़ जाती थी अथवा संगीतज्ञों में आपस में

वाद–विवाद होने लगता था तो जहूर खाँ ही किसी सारगर्भित तत्व का फैसला करते थे और उनकी बात मानी जाती थी। ऐसे कई अवसर आये जब उनके निर्णयों को मान्यता मिली और उनके विचारों को स्वीकार किया गया।

जहूर खाँ अस्वाभाविक प्रतिभा के संगीतज्ञ थे और गायकों के सामान्य वर्ग से बहुत कुछ अलग थे। उन्हें ज्ञान और विद्वता से सच्चा प्रेम था और वह स्वयं एक संवेदनशील और सूक्ष्मग्राही व्यक्ति थे जो संगीत और साहित्य दोनों का मनन किया करते थे। जहूर खाँ की गणना संगीतज्ञों के उस अल्पसंख्यक वर्ग में होती थी जो सब वास्तव में प्रतिभासम्पन्न गायक थे। जब आधुनिक शिक्षित समाज गायकों और वादकों पर अज्ञान का और अशिक्षित होने का आरोप लगाता है तो जहूर खाँ ऐसे कुशल और विद्वान गायक ही ऐसे दोषारोपण का खण्डन करते हैं। ऐसे गायकों को हम अपवाद मान कर भी इस बात का प्रमाण मानते थे कि सब गायक अशिक्षित व अनपढ़ नहीं होते । जहूर खाँ को हम इस तथ्य का ज़िन्दा मिसाल मानते और यह सच है कि इनकी प्रतिभा ने खुर्जा घराने की प्रतिभा में चार चाँद लगा दिये थे।

इन्हें हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और फ़ारसी इन सबका अच्छा ज्ञान था। यह हिन्दी और उर्दू में कविता भी करते थे। हिन्दी में इनका नाम, उपनाम **'रामदास'** था और उर्दू में इनका तखल्लस **'मुमकिन'** था । 'रामदास' के नाम से संगीत में इनकी रचनाएँ काफी मशहूर हुई हैं और अभी भी कुछ गायकों को याद हैं। इन्हें संगीत की शिक्षा भी बहुत अच्छी मिली थी और ध्रुपद–धमार तथा ख्याल ऐसी शैलियों पर इन्हें पूरा अधिकार था। संगीत की छानबीन और उसकी व्याख्या की ओर भी इनका पूरा ध्यान गया था परन्तु यह सैद्धान्तिक तर्कबुद्धि से ही काम नहीं लेते थे परन्तु एक कुशल गायक भी थे और संगीत के बौद्धिक सद्गुण को ही सब कुछ नहीं मानते थे। यह संगीत के उन विद्वानों से अलग थे जो प्राचीन संगीत के सिद्धान्तों और मतों की व्याख्या करने में ही अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं और न कंठ से गाते हैं और न हाथ से साज बजाते हैं। जहूर खाँ का अन्वेषण उनके व्यक्तिगत अनुभव से संबंधित था और वह संगीत के कल्पना संबंधी विचार

को ही अपना आधार नहीं मानते थे। वह पहले गायक थे और बाद में विद्वान। वह संगीत के कोरे ज्ञान पर गर्व नहीं करते थे। वह इस बात को जानते थे कि कोरा सैद्धान्तिक ज्ञान व्यवहारिक संगीत की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता।

जहूर खाँ अपने ढंग के निराले गायक और नायक दोनों थे। प्रथम श्रेणी के ख्याल गायक होने के अलावा यह कवि थी थे। इन्होंने बहुत सी बन्दिशों, चतुरंग, त्रिवट और सरगम आदि की भी रचना की जो अभी भी इस घराने के शिष्य गाते हैं। यह संगीत अध्ययन और संगीत व्याख्या में ही संलग्न रहते थे और यश ख्याति से दूर भागते थे। यही कारण था कि यह प्रतियोगिता के क्षेत्र से भी दूर रहते थे और संगीत के गंभीर अध्ययन में अपना अधिक समय व्यतीत करते थे। खुर्जे के आस–पास के शहरों में इनके बहुत से सुयोग्य शिष्य थे। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में बरेली के रईस संगीत प्रेमी जो पेशवा खानदान के महाराष्ट्रीय सज्जन थे, इन्हें अपने साथ बरेली ले गये थे और उनका वहीं पर देहांत हो गया।

मुन्शी गफूर बख्श :

जहूर खाँ के एक दूसरे भाई का नाम मुंशी गफूर बख्श था जो सितार बहुत सुन्दर बजाते थे। यह उर्दू के भी अच्छे शायर थे और इनका उपनाम **'कमिल'** था। यह भी सुना है कि इन्हें संगीत का भी गहरा ज्ञान था और यह संगीत के सच्चे पारखी थे। जिस घराने में जहूर खाँ ऐसे विद्वान गायक रहे हों उसमें ज्ञान की ऐसी प्रेरणा हो यह एक तरह से स्वाभाविक ही था।

गुलाम हैदर खाँ :

जहूर खाँ के छोटे भाई का नाम गुलाम हैदर खाँ था। इनका जन्म भी खुर्जा में हुआ था और इन्होंने अपने पिता से और भाई जहूर खाँ से संगीत की शिक्षा पाई थी। इनकी गणना भी सुयोग्य और अनुभवशील गायकों में होती थी। इन्हें भी संगीत के ज्ञान

उन पर अभ्यास भी करना चाहते थे। यह कुछ दिनों तक लखनऊ में भी रहे और बाद में जब यह नेपाल गये तो यह नेपाल दरबार में नियुक्त हो गये थे। यह नेपाल में बीस वर्ष तक रहे और उसके बाद खुर्जा लौट आये और वहाँ संगीत शिक्षा के काम में लग गये। आस–पास के शहरों में इनके बहुत से शिष्य थे और इनका नाम भी काफी मशहूर हुआ था। इनका देहान्त 1920 में हुआ।

अलताफ़ हुसैन खाँ :

पिछले ज़माने में खुर्जा घराने के सबसे बड़े गायक अलताफ हुसैन खाँ ही माने जाते हैं। अपने पिता जहूर खाँ के बाद अलताफ हुसैन खाँ ही ने इस घराने की बागडोर अपने हाथ में ली और उसकी प्रतिष्ठा को जीवित रखने का पूरा–पूरा प्रयत्न किया। अलताफ हुसैन खाँ ने भी अपने पिता जहूर खाँ से शिक्षा पाई थी और वह हर तरफ से भरपूर थे। वह अपने घराने की गायकी की शुद्धता अथवा निर्दोषता पर अधिक बल देते थे। परन्तु वह अपनी शिक्षा का ही गाना नहीं गाते थे परन्तु जो कुछ गाते थे समझ बूझ कर गाते थे और ये एक बुद्धिमान गायक थे। इनका जन्म 1873 में हुआ था और ग्यारह वर्ष की अवस्था से इन्होंने जलसों में गाना शुरू कर दिया था।

अलताफ हुसैन खाँ बचपन से महफिलों के आदी हो गये थे और निर्भीकता उनकी रग–रग में समा गई थी। इस बात में वह बहुत से समकालीन गायकों से अलग थे। यही कारण था कि वह इस युग में खुर्जा घराने के अद्वितीय गायक माने जाते थे और बहुत से घरानेदार गायक भी उनका उचित आदर करते थे। अपने जीवन के आरंभ काल से अलताफ हुसैन खाँ ने महफिलों में जाना शुरू कर दिया था और गायकों और वादकों की संगीत सभाओं में वह हिस्सा लेने लगे थे। महफिलों के गाने–बजाने को **'दंगली'** गाना–बजाना भी कहा गया है।

किन्तु हमें खेद है कि घरानेदार गायकों–वादकों को छोड़कर आज कल के संगीतज्ञों के बीच में महफिल ऐसी सांस्कृतिक संस्था का लोप सा हो गया है। महफिलों

में गाने वाले गायकों का गाना एक तरह से बहुपक्षीय होता था और उसमें कई शैलियों के रंग होते थे। अलताफ हुसैन खाँ ध्रुपद, धमार, ख्याल, तराना, त्रिवट, चतुरंग और सरगम इन सब शैलियों को गाते थे। इनकी गायकी को हम बलदार और पेंचदार गायकी भी कह सकते हैं। गायकों में इनका बड़ा मान था और अच्छी–अच्छी रियासतों में भी यह नियुक्त रहे। सन 1922 में यह नेपाल गये थे और राजा चन्द्रशमशेर बहादुर ने इनका बहुत आदर–सत्कार किया था। इस तरह अन्य दस बारह रियासतों में इन्हें बहुत मान सम्मान मिला। अपने सुपुत्र मुहम्मद वाहिद खाँ के अलावा इन्होंने अपने भांजे स्व० अजमत हुसैन खाँ को भी शिक्षा दी, जो बाद में आगरा घराने के भी शिष्य बन गये थे।

अलताफ हुसैन खाँ :

अलताफ हुसैन खाँ की गणना उन घरानेदार गायकों में होती थी जिनको अपने घराने में ही शिक्षा मिली थी। परन्तु वह देहली घराने से भी संबंधित थे। यदि ऐसा न होता तो संगीत की एक विराट सभा में स्व० बड़े गुलाम अली खाँ उन्हें देहली घराने का प्रतिनिधि मानकर उन्हें अपनी श्रृद्धा की भेंट अर्पित न करते। बड़े गुलाम अली खाँ के पूज्य पिता अली बख्श, पटियाले के गायक फतह अली के शागिर्द थे जो देहली के सुप्रसिद्ध गायक तानरस खाँ के शिष्य थे। घरानेदार गायकों में ऐसे आदर अथवा सम्मान की प्रथा सदैव प्रचलित रही है। यह सच था कि अलताफ हुसैन खाँ घरानेदार संगीत के प्रतिनिधि और अनुवादक दोनों थे।

खुर्जा घराने की मुख्य विशेषता यह है कि इस घराने में ख्याल के भी चार भाग होते हैं। शुद्ध मुद्रा–शुद्ध बानी का विशेष ध्यान रखा जाता है। इस घराने में मुर्की का प्रयोग कम किया जाता है।

मथुरा घराना

जो लोग लखनऊ में बहुत काल से रह रहे हैं और जिन्हें संगीत से विशेष प्रेम है अथवा जिनका थोड़ा बहुत संपर्क भी संगीतज्ञों से रहा है उन्हें शायद कभी–कभी लखनऊ के 1924-1925 वाले विराट संगीत –सम्मेलन कुछ समय के लिये याद आ जाते होंगे। इन दो संगीत सम्मेलनों को पंडित भातखण्डे और राजा नवाब अली ऐसी महान विभूतियों ने आयोजित किया था। ऐसे बहुत से संगीत के श्रोताओं को अथवा संगीत के भावुक रसिकों को याद होगा कि इन संगीत सम्मेलनों में दो चार–संगीतज्ञों का बहुत नाम हुआ था। बड़ौदा के गायक उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ , रामपुर के सरोद वादक फिदा हुसैन, लखनऊ के तबला वादक आबिद हुसैन, बनारस के तबला वादक वीरू मिश्र, मैसूर बैंड के निर्माता और वाइलिन वादक उस्ताद अलाउद्दीन खाँ और मथुरा के चन्दन चौबे यह सब लोकप्रिय कलाकार साबित हुए थे।

एक प्रातः काल की संगीत गोष्ठी की चर्चा फिर से ताजा हो जाती है और हमारे कान पुनः चंदन चौबे के मधुर गान की प्रशंसा सुनने लगते है। तब मथुरा के चंदन चौबे की युवावस्था की और उनके गले में सरस्वती वास करती थी। उस दिन वह तन्मय होकर, बड़े आनंद से झूम–झूमकर उस राग को गा रहे थे और अपने सुनने वालों को बेचैन कर रहे थे। लखनऊ के भावुक श्रोता भी इस संगीत का बहुत आनंद ले रहे थे। यह वही श्रोता थे जो दूसरे दिन प्रातःकाल की महफ़िल में फ़ैयाज़ खाँ की भैरवी की मशहूर ठुमरी सुनकर बेहाल हो गये थे। उसी संगीत सम्मेलन में मथुरा के चंदन चौबे का गाना जमा था।

इसके पहले शायद लखनऊ वालों ने संगीत के संबंध में 'मथुरा' ऐसी जगह का नाम कभी नहीं सुना था। चन्दन चौबे ने एक तरह से आधुनिक काल में जनता के आगे मथुरा का नाम मशहूर किया। वह आगरा घराने के मशहूर गायक गुलाम अब्बास खाँ के शिष्य थे और शास्त्रीय संगीत के अनुयायी होते हुए भी लोकप्रिय संगीत के भी भावुक

अनुवादक थे। परन्तु जब कभी चंदन चौबे ऐसे नामी गायक को याद करते हैं तो हमें मथुरा के परम्परागत और घरानेदार संगीत की याद फिर से ताजा हो जाती है। वृन्दावन के स्वामी हरिदास डागुर, तानसेन के पूज्य गुरू की शिष्य–परंपरा ने मथुरा को भी संगीत का केन्द्र बनाया था। उनके शिष्यों ने उनकी ध्रुपद शैली का बहुत जबरदस्त प्रचार ब्रज भाषा के समस्त व्यापक क्षेत्र में किया था। इस संगीत परंपरा का मुख्य केन्द्र मथुरा था। बहुत से लोग चंदन चौबे का गाना सुनकर बड़े आनंदित हो जाते थे परंतु उनकी कल्पना शायद इस लोक प्रसिद्ध गायक को मथुरा संगीत परंपरा से संबंधित नहीं कर पाती थी। चन्दन चौबे आगरा घराने के सुप्रसिद्ध गायक औरर मार्गदर्शक गुलाम अब्बास खाँ के शिष्य थे ही, इस बात का सुबूत था कि आगरा और मथुरा की संगीत परंपरा बहुत कुछ एक थी और उनके संगीतज्ञों का आपस में पारस्परिक संबंध था। दोनों ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत थे और दोनों की कला संबंधी विचारधारा भी एक सी थी।

मथुरा के सबसे प्राचीन घरानों का ज्ञान हमको अधूरा सा प्राप्य है। यदि हम स्वामी हरिदास की शिष्य परंपरा से मथुरा के प्राचीन संगीत को संबंधित करना चाहें तो घटनाओं की अविच्छिन्न श्रृंखला एक अविरल धारा के समान नहीं दिखाई देती और न परंपरा के ऐतिहासिक क्रम में कोई निरन्तरता ही दिखाई देती है। संगीत के इतिहास की ऐसी खाली जगहों को हम आसानी से नहीं भर पाते। यही कारण है कि स्वामी हरिदास की ध्रुपद परंपरा का मथुरा से क्या विशेष संबंध था ? इसके बारे में हमारी जानकारी अभी तक अधूरी ही है। संगीत का मुख्य केन्द्र होने के नाते मथुरा में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक बहुत से घरानों का उत्थान–पतन हुआ। जो कुछ भी परिवर्तन मथुरा के संगीत में होते रहे, हमें यह बात माननी पड़ेगी कि मथुरा में परंपरागत संगीत का लोप कभी नहीं हुआ। तब मुसलमान संगीतज्ञों ने हिन्दू संगीतज्ञों की जगह ली जब भी संगीत की परंपरागत विचारधारा में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। परंपरागत संगीत का चेहरा कभी नहीं बिगड़ा और उसकी आत्मा में भी कोई दोष नहीं आया। इसलिये जिस मथुरा के घराने की चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं उसके अधिकांश संगीतज्ञ मुसलमान थे परन्तु उन सबकी आत्मा भारतीय थी। ब्रजभाषा

साहित्य की पुरानी विचारधारा के वातावरण में ही उनके संगीत का पोषण हुआ था और वह सब उसी पुनीत परम्परा के अन्तर्गत थे। इसलिये उनके संस्कार भी निर्दोष थे। हम मथुरा का वर्णन 18 वीं शताब्दी से आरंभ करते हैं। इस घराने के प्रमुख कलाकारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है, जिन्होंने इस घराने की संगीत परंपरा को विकसित करने में अमूल्य योगदान दिया—

कौड़ी रंग व पैसारंग :

सुना जाता है कि मथुरा के सूबेदार नवाब अली खाँ के जमाने में वहाँ दो बड़े नामी गायक थे जो कौड़ीरंग और पैसारंग के नाम से मशहूर थे। यह आपस में भाई थे। यह दोनों ध्रपुद, धमार और ख्याल ऐसी शैलियों में पारंगत थे और इन सबकी एक तरह से कलात्मक व्याख्या करते थे। इनको इस बात का श्रेय था कि इन्हें सब शैलियों पर अस्वाभाविक अधिकार प्राप्त था। गायन कला के अतिरिक्त इस घराने में सितार वादन की भी प्रथा थी। यही कारण था कि इनके घराने में बहुत से गायकों और वादकों का जन्म हुआ।

पान खाँ :

हम एक और प्रसिद्ध गायक का नाम सुनते है जिनका जन्म 1800 के बहुत पहले हुआ था, इनका नाम पान खाँ था। इन्हें भी ध्रुपद, धमार से लेकर ख्याल ऐसी शैली पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था। यह बड़े नामी और मंजे हुए गायक थे। परन्तु यह केवल गायक ही नहीं थे, यह सितार–वादन के भी उस्ताद थे। इस तरह यह गायन तथा वादन कला दोनों के मर्मज्ञ थे।

बुलाकी खाँ :

पान खाँ के सुपुत्र का नाम बुलाकी खाँ था। इनको लोग संगीत का पंडित मानते थे। इनको संगीत के शास्त्रों का गहरा ज्ञान था और इनकी आत्मा ब्रज की भूमि से घुल–मिल गई थी। ये जोधपुर और अलवर ऐसी रियासतों में भी जाते रहते थे और वहाँ इनका बहुत आदर–सत्कार होता था। इन्हें भी हम 18वीं शताब्दी का संगीतज्ञ मानते है।

मेहताब खाँ :

बुलाकी खाँ के सुपुत्र का नाम मेहताब खाँ था। यह भी बड़े कुशल गायक थे और इनका गायन भी मंदिरों के महंत बड़े चाव से सुनते थें। यह 19वीं शताब्दी के संगीतज्ञ थे।

यहाँ पर मैं एक बात बताना आवश्यक समझती हूँ कि पहले जमाने में ब्रजभाषा क्षेत्र के प्रतिभासंपन्न, सुरीले, मुसलमान गायक आम जनता के लोकप्रिय गायक बन जाते थे। मंदिरों के महन्त भी उनका गाना बार–बार बड़े चाव से सुनते थे और उन्हें नियंत्रित करते थे। यह प्रतिभाशाली कलाकार भी राग–रागिनियों में ब्रजभाषा काव्य का अमृत बरसाते थे और सदियों पुरानी कृष्ण और राधा के प्रेम और मिलन की स्मृतियों को एक बार फिर से जगा देते थे। इन रागों को ब्रजभाषा की मधुर पंक्तियों में सुनकर श्रोतागण भक्ति और आनंद के रस में डूब जाते थे। यही कारण था कि उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ क़ेवल ब्रजभाषा का हवेली संगीत ही नहीं जानते थे अपितु उन्हें ब्रजभाषा काव्य की सैकड़ों पंक्तियाँ भी याद थीं। ब्रजभाषा का जैसा मधुर उच्चारण वह करते थे वैसा कोई दूसरा मुसलामन गायक आज भी नहीं करता।

मीर बख्श खाँ:

मेहताब खाँ के बेटे का नाम मीरबख्श खाँ था। यह बहुत सुलझे हुए गायक थे परन्तु यह सितार बजाने में भी बड़े प्रवीण थे। ये अधिकांशतः मथुरा में ही रहे। परन्तु अपने जीवन के अन्तिम काल में यह बूँदी नरेश के अनुरोध पर बूँदी चले गये और वहाँ दरबारी गायक बन गये थे। इनका जीवन काल 1870 के आसपास का था।

अहमद खाँ :

मीर बख्श के पुत्र का नाम अहमद खाँ था परन्तु यह गुलदीन खाँ के नाम से ही मशहूर हुए थे। इनके बारे में यह सुना जाता है कि इन्होंने सितार पर भी ऐसा जबरदस्त रियाज़ किया था कि यह एक बेजोड़ सितारिये बन गये थे। परन्तु यह

मेहताब खाँ :

बुलाकी खाँ के सुपुत्र का नाम मेहताब खाँ था। यह भी बड़े कुशल गायक थे और इनका गायन भी मंदिरों के महंत बड़े चाव से सुनते थें। यह 19वीं शताब्दी के संगीतज्ञ थे।

यहाँ पर मैं एक बात बताना आवश्यक समझती हूँ कि पहले जमाने में ब्रजभाषा क्षेत्र के प्रतिभासंपन्न, सुरीले, मुसलमान गायक आम जनता के लोकप्रिय गायक बन जाते थे। मंदिरों के महन्त भी उनका गाना बार–बार बड़े चाव से सुनते थे और उन्हें नियंत्रित करते थे। यह प्रतिभाशाली कलाकार भी राग–रागिनियों में ब्रजभाषा काव्य का अमृत बरसाते थे और सदियों पुरानी कृष्ण और राधा के प्रेम और मिलन की स्मृतियों को एक बार फिर से जगा देते थे। इन रागों को ब्रजभाषा की मधुर पंक्तियों में सुनकर श्रोतागण भक्ति और आनंद के रस में डूब जाते थे। यही कारण था कि उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ केवल ब्रजभाषा का हवेली संगीत ही नहीं जानते थे अपितु उन्हें ब्रजभाषा काव्य की सैकड़ों पंक्तियाँ भी याद थीं। ब्रजभाषा का जैसा मधुर उच्चारण वह करते थे वैसा कोई दूसरा मुसलामन गायक आज भी नहीं करता।

मीर बख्श खाँ:

मेहताब खाँ के बेटे का नाम मीरबख्श खाँ था। यह बहुत सुलझे हुए गायक थे परन्तु यह सितार बजाने में भी बड़े प्रवीण थे। ये अधिकांशतः मथुरा में ही रहे। परन्तु अपने जीवन के अन्तिम काल में यह बूँदी नरेश के अनुरोध पर बूँदी चले गये और वहाँ दरबारी गायक बन गये थे। इनका जीवन काल 1870 के आसपास का था।

अहमद खाँ :

मीर बख्श के पुत्र का नाम अहमद खाँ था परन्तु यह गुलदीन खाँ के नाम से ही मशहूर हुए थे। इनके बारे में यह सुना जाता है कि इन्होंने सितार पर भी ऐसा जबरदस्त रियाज़ किया था कि यह एक बेजोड़ सितारिये बन गये थे। परन्तु यह

वास्तव में एक बड़े सुरीले गायक ही थे। इन्हें देशाटन का बहुत शौक था और यह अपनी जवानी में ही मथुरा से बाहर निकल गये थे। घूमते–घूमते जब यह गुजरात की रियासत लूनाबाड़ा पहुँचे तो महाराज लूनाबाड़ा इनका गाना सुनकर बहुत खुश हुए और इन्हें अपने दरबार में नौकर रख लिया और इनके शिष्य भी बन गये। गुलदीन खाँ अपने जीवन के अन्त तक लूनाबाड़ा में ही रहे और वहीं इनका देहान्त हुआ।

नज़ीर खाँ :

गुलदीन खाँ के एक भाई थे जिनका नाम नजीर खाँ था। मथुरा के लोग इन्हें **"संगीताचार्य"** के नाम से पुकारते थे क्योंकि इन्हें संगीत का अथाह ज्ञान था। हैदराबाद में इनका स्वर्गवास 1890 में हुआ।

काले खाँ :

गुलदीन खाँ के सुपुत्र का नाम काले खाँ था और इनका जन्म मथुरा में 1860 में हुआ था। इस देश में बहुत से लोग इन्हें **'सरस पिया'** के नाम से जानते हैं और इसी उपनाम से इन्होंने बहुत सी बेजोड़ बन्दिशों की रचना की थी। अतरौली के महबूब खाँ **'दरस'** और मथुरा के 'काले खाँ' **'सरस'** अपनी रचनाओं के लिये भारतवर्ष भर में मशहूर थे। श्रोतागण **'सरसपिया'** से इसलिये भी परिचित है कि इनकी राग परज की रचना "मन मोहन बृज को रसिया" को उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ ने ग्रामोफोन रिकॉर्ड में गाकर अमर बना दिया है। काले खाँ एक सुनिश्चित गायक थे और इन्हें बचपन से हिन्दी और फ़ारसी की शिक्षा मिली थी। यह कवि भी थे और हिन्दी में कविता भी करते थे। परन्तु जिस भाषा में यह कविता करते थे वह मथुरा की ब्रजभाषा थी। इनका नाम तो काले खाँ था परन्तु यथार्थ में यह **'सरस पिया'** के नाम से मशहूर थे। काले खाँ को अपने पिता से ही संगीत की शिक्षा मिली थी। इनको अपने पिता से सितार की भी शिक्षा मिली थी। इन्होंने ख्याल, ठुमरी और सरगमों की भी रचना की थी।

गुलाम रसूल खाँ :

काले खाँ के सुयोग्य सुपुत्र गुलाम रसूल खाँ (मास्टर गुलाम रसूल) को सारा संगीत संसार जानता है। यह वयोवृद्ध अनुभवशील संगीतज्ञ है और ये बड़ौदा विश्वविद्यालय के ललित कला विभाग के संगीत शिक्षक भी रहे हैं। यह हारमोनियम ऐसे साज पर उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ की बेजोड़ संगत करते थे। परन्तु इन्हें गायन कला का भी अच्छा ज्ञान रहा है और इनके पास घरानेदार बन्दिशों का एक अनोखा संग्रह है।

जहूर खाँ :

18 वीं शताब्दी में मथुरा में एक और प्रसिद्ध गायक हुये थे जिनका नाम जहूर खाँ था। यह बड़े प्रसिद्ध ख्याल गायक थे और दुजाना रियासत में नौकर हो गये थे। परन्तु इसके अलावा जोधपुर रियासत में भी इन्हें बहुत मान–सम्मान मिला था और इनकी गणना इस जमाने के चोटी के गायकों में होती थी।

चौबे चुक्खा और गणेशी :

हमने इस अध्याय को मथुरा के प्रसिद्ध गायक चन्दन चौबे से आरंभ किया था। अंत में हम फिर से दो प्रतिभा सम्पन्न संगीतज्ञों का वर्णन करेंगे, जो चौबे चुक्खा और गणेशी के नाम से मशहूर हुए हैं। यह दोनों आपस में भाई थे और संगीत के प्रकांड पण्डित थे। यह दोनों वास्तव में विद्वान संगीतज्ञ थे। यह केवल कुशल गायक ही नहीं थे परन्तु इन्हें अपने बुजुर्गों से संगीत की गूढ़ विद्या भी मिली थी। इनके संगीत के ज्ञान का क्षेत्र बहुपक्षीय था। चौबे चुक्खा और चौबे गणेशी का संगीत अध्ययन हर तरह से गंभीर था। यह विद्वान गायक थे और इन्हें अपने पूर्वजों से प्राचीन, परंपरागत संगीत का ज्ञान पहुँचा था। शायद यह कहना असंगत न होगा कि मथुरा की असली संगीत परंपरा से इनकी आत्मा घुल–मिल गई थी। इन दोनों की आवाजें भी दमदार थी और उनमें बहुत असर था। यह दोनों संस्कृत के विद्वान थे और इन्होंने संगीत पर एक

अनूठा ग्रंथ भी लिखा था जिसका अब पता नहीं चलता। नेपाल नरेश ने इन्हें एक लाख रूपये इनाम में दिये थे और कलकत्ते के बंगाली राजा इन्द्रपाल ने इन्हें जवाहरात भेंट किये थे। स्व० उस्ताद हाफिज अली खाँ जो सरोद के बेजोड़ उस्ताद थे, उन्होंने गणेशी चौबे से बहुत ज्ञान प्राप्त किया था। वह बताया करते थे कि गणेशी चौबे ने उन्हें बहुत सी अनूठी और अप्रचलित रागों का ज्ञान दिया था जो वह नहीं जानते थे। सन् 1915 के लगभग इनका स्वर्गवास हुआ।

किराना घराना

आगरा घराने से सर्वथा भिन्न किराना, स्वर प्रधान गायकी का प्रतिनिधित्व करता है। इस घराने के संगीतकारों का प्रकृति से अटूट रिश्ता बना रहा। इसके आदि पुरूष पं० गोपाल नायक **मेरठ** जनपद के **दोहताई** गाँव के निवासी थे। यह गाँव यमुना किनारे बसा था जहाँ संगीत गुंजायमान रहा है। दोहताई, किराना, मथुरा और आगरा सभी जगहों पर यमुना का जादू सुरों में ढल कर और चमत्कृत हो गया।

गोपाल नायक, नवसाढ़ी जिले के दोहताही कस्बे में अपने बारह सौ शिष्य परिवारों के साथ ध्रुपद विधा के रूपों को गढ़ते थे। यह सम्राट अकबर के समकालीन थे। अकबर के आरंभिक शासन काल में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा और क्षुधा की ज्वाला से पीड़ित होकर गोपाल नायक के शिष्य परिवारों ने विवश होकर इस्लाम धर्म ग्रहण किया। 1620 में जहाँगीर के शासन काल में यमुना जी की भीषण बाढ़ में दोहताही कस्बा वह गया तब गोपाल नायक के शिष्य परिवारों को जिला **मुजफ्फरनगर** के **'किराना'** नामक सथान पर बसाया गया। इसी संप्रदाय के संगीतज्ञों से **'किराना घराना'** निर्मित हुआ। संगीत साधना के लिये यह आदर्श स्थान था। उसमें चारों ओर आम के बाग थे, जिनमें बौर आते ही मौसम संगीतमय हो जाता। गाँव से कुछ ही दूर पर एक झील थी जिसके चारों और हरियाली थी। आज भी किराना घराने की गायकी में इस हरियाली को महसूस किया जा सकता है।

गोपाल नायक के पुत्र भैरव प्रसाद ने सन् 1670 में इस्लाम कुबूल कर लिया और उनका नाम कुतुब अली हो गया, वे बीनकार थे। उनके पुत्र का नाम नियामत अली खाँ बीनकर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नियामत अली खाँ के लड़के हुये सादिक अली खाँ और करामत अली खाँ, यह दोनों किराना घराने के ही कलाकार थे। करामत अली खाँ के पुत्र थे असद अली बीनकार। भारत के सुप्रसिद्ध वीणावादक बंदे अली खाँ (किराना घराना) इन्हीं असद अली खाँ के पुत्र थे। बंदे अली खाँ के शागिर्दों में मुराद खाँ बीनकार, हैदर खाँ कोल्हापुर वाले, ध्रुपद नायक नन्हें खाँ और मुराद खाँ देवास वाले प्रमुख थे।

परन्तु यह कहा जा सकता है कि प्रचलित किराना गायकी का कोई प्राचीन इतिहास नहीं है और इसके जीवन काल को सत्तर–अस्सी वर्ष से अधिक नहीं हुए हैं। जब कभी हम किराना घराने का नाम लेते हैं तो हम उसके आधुनिक प्रचार की ही बात सोचते हैं। प्रायः लोग स्व० अब्दुल करीम खाँ को ही इस घराने की गायकी का जन्मदाता और प्रचारक मानते हैं। परन्तु हमें उनकी मशहूर चीजों से– "पिया बिन नाहीं आवत चैन" और "जमुना के तीरे," किराना गायकी का पता चलाना मुश्किल हो जाता है। उनका ग्रामोफोन का रिकॉर्ड "फगवा बृज देखन को चलो री" भी शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में राग बसन्त का इस गायकी में पाया जाना बहुत अच्छा नमूना नहीं है। कदाचित जब वह अपने संगीत की लोकप्रियता की बात सोचते थे तो किराना गायकी पर विशेष ज़ोर नहीं देते थे। इस प्रकार के गायन का कुछ भी कारण हो, यह मानना पड़ेगा कि लोग अुब्दल करीम खाँ को ही किराना गायकी अगुआ और मार्गप्रदर्शक मानते हैं लोग यह भी कहते हैं कि अब्दुल करीम खाँ ने ही इस घराने को स्थापित किया।

परन्तु हिन्दुस्तानी संगीत के अधिकांश विद्वानों और विचारकों का दृढ़ विश्वास है कि इस युग में किराना गायकी के अन्वेषक और सर्वश्रेष्ठ गायक बहरे वहीद खाँ थे जो लाहौर में बहुत काल तक रहे। लोगों का कहना है कि हीराबाई और अब्दुल करीम खाँ का गुरू–शिष्य का संबंध रहा है। परन्तु अब्दुल वहीद खाँ ही हीराबाई के असली गुरू

थे। उन्होंने ही इस सुविख्यात गायिका को इस गायकी की शिक्षा दी। यह कथन ठीक भी मालूम पड़ता है। अब्दुल वहीद खाँ जिन्हें बहरे वहीद खाँ भी कहते हैं, इस घराने की सबसे उत्तम व्याख्या करते थे। इसमें तो कोई शंका नहीं है कि उन्होंने ही इस गायकी का इतना महत्वपूर्ण प्रचार किया। अपने लाहौर के निवासकाल में उन्होंने कुछ और लोगों को भी शिक्षा दी। इन्होंने ही वास्तव में किराना गायकी को प्रतिनिधित्व रूप दिया। भारतीय शास्त्रीय संगीत में वे पहले गायक थे जिन्होंने राग की बढ़त पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया और विलंबित को महत्वपूर्ण बनाया। उनके शागिर्दों में प्रमुख थे– उस्ताद शकूर खाँ, पं० जीवन लाल मट्टू, पं० प्राणनाथ, सरदार त्रिलोचन सिंह, पं० रामनारायण, पार्श्व गायक मुहम्मद रफ़ी, बशीर खाँ, रशीद अहमद खाँ, पं० जवाहरलाल मट्टू, माधुरी भट्ट, बेग़म अख़्तर, फिरोज निजामि, इनायत ढेरोवाली, हीराबाई बड़ोदकर, सरस्वती राणे आदि।

यह कहना कि अब्दुल वहीद खाँ इस युग में किराना गायकी के अन्वेषक और प्रमुख प्रचारक थे, गलत नहीं था। उनमें और अब्दुल करीम खाँ के परिवार में रिश्तेदारी भी थी परन्तु दोनों मे बहुत अन्तर था। अब्दुल करीम खाँ ने सुरीले गायन और सुरीलेपन तथा भावुकता पर सबसे अधिक ज़ोर दिया। यही कारण था कि वह इतने प्रसिद्ध लोकप्रिय गायक बन गये। आज भी उनकी ख्याति उनके भावुक ग्रामोफोन रिकॉर्ड के कारण है। अब्दुल वहीद खाँ इस बात में उनके बिल्कुल विपरीत थे। उनका ध्यान घरानेदार गायकी और शास्त्रीय संगीत की तरफ बहुत ज्यादा था, लोकप्रियता पर नहीं था। वह किराना गायकी के लिये मशहूर हुये और वह अब्दुल करीम खाँ की तरह जनता के लोकप्रिय गायक नहीं थे। वह मननशील, गंभीर संगीतज्ञ थे और राग गायन को सबसे ऊँचा स्थान देते थे। उदाहरण के लिए वह राग मारवा बहुत अच्छा गाते थे। लोगों ने उनके मुँह से शुद्ध सारंग ऐसे राग को भी बहुत अच्छा सुना था और जहाँ तक मारू बिहाग की स्थाई "रसिया जावो ना" का सबंध है, उन्होंने ही इस राग का प्रचार इस युग में किया। इस कारण वह राग संगीत के विद्वान भक्त थे।

किराना घराना यथार्थ में सारंगी वादकों का घराना है। अब्दुल करीम खाँ और अ़ुब्दल वहीद खाँ के घराने में सांरगी पहले बजी और गाना बाद में गाया गया। किराना घराने का बहुत अधिक संबंध सारंगी वादन से रहा है। जिससे इस गायकी को बहुत लाभ भी पहुँचा और वह स्वर की तरफ अधिक झुक गई। जब कोई सारंगी वादकों के घराने का कलाकर किसी और साज़ का शौक करता है तो उसे बहुत अच्छा बजाता है। इसी तरह जब वह गाने की तरफ जाता है तो उसमें भी बहुत कुशलता दिखाता है और कभी कभी बहुत सुरीला गायक भी बन जाता है। पहले वर्ग के वादकों में सबसे पहले पटियाले के विचित्र बीन वादक स्व० अब्दुल अज़ीज़ खाँ का नाम आता है जिन्होंने 35 वर्ष सारंगी बजाने के बाद विचित्र बीन को हाथ में लिया और उसे बेजोड़ बजाया। दूसरे वर्ग के गायकों में सबसे पहले अब्दुल करीम खाँ है। उनके बाद इस युग में बड़े गुलाम अली खाँ और अमीर खाँ है। अमीर खाँ के पिता इन्दौर के सुविख्यात सारंगीवादक शामीर खाँ थे जिन्होंने अपने होनहार सुपुत्र को गाने की तरफ डाला। इस प्रकार किराना घराना मुख्यतः तंत्रकारों व सारंगीवादकों का घराना है। इसके संगीतकारों में मुख्यतः बीनकार और सारंगीबाज हुए। हालांकि पंडित गोपाल नायक, उस्ताद नन्हें खाँ, उस्ताद मौला खाँ, उस्ताद अब्दुल करीम खाँ, उस्ताद अब्दुल वहीद खाँ, हीराबा़ई बड़ोदकर, सरस्वती राणे, सुरेश बाबू, रोशन आरा बेग़म, सवाई गन्धर्व जैसे श्रेष्ठ गायक भी इसी घराने में पैदा हुए है। प्रश्न उठता है कि सम्मानित और प्रतिष्ठित, घरानेदार और कलावन्त मौलिक घरानों की तुलना में इस नये अनुकरणात्मक घराने की गायकी की क्या विशेषता है? पहली बात तो यह है कि किराना गायकी में मौलिक गायकी की दृष्टि से प्रतिक्रिया की भावना है। इसमें प्राचीन ख्याल शैलियों का अनायास और अनौच्छिक अनुकरण होने के अलावा एक प्रकार क़ी विरोधात्मक भावना भी है जिसको हम एक प्रकार का व्याघाती प्रतियोग कहेंगे जो ख्याल गायन के मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। इसके राग विस्तार को सुनकर ऐसा लगता है कि जैसे कोई कुशल सारंगीवादक अपनी सारंगी पर किसी राग का सोच–सोचकर अद्भुत विश्लेषण

कर रहा है। राग के इस प्रकार के विश्लेषण में किसी विशेष संश्लेषण की भावना नहीं होती। इस प्रकार की राग व्याख्या राग की शास्त्रीय व्याख्या से बहुत कुछ अलग होती हैं और उसमें मस्तिष्क की प्रखरता का अंश अधिक होता है। यह एक प्रकार की चकित करने वाली दिमागी कसरत होगी हैं इस गायन में ताल बहुत विलंबित लय में होती है और एक स्वर से दूसरे स्वर की ओर क्रमिक रूप से बढ़ते है। इससे उन्हें डूबकर गाने का और उसके रूप को पूरी खूबसूरती से अदा करने का मौका मिलता है। इन्हीं लोगों ने सर्वप्रथम झूमरा का प्रयोग विलंबित में किया और गायकी को एक नई दिशा प्रदान की। ताल विलंबित लय की होने से इसमें रागालाप बहुत आसान हो जाता है। स्थाई और अन्तरे के शब्द पूरे नहीं कहे जाते इसके अलावा शब्दों को मात्राओं में नहीं बिठाया जाता। दो या तीन शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है और गायक आसानी से सम पर आ जाता है। इसकी रचना का ताल साहित गायन आधुनिक स्वतंत्र अतुकान्त कविता से मिलता–जुलता है। ख्याल गायन की इस प्रकार की अतुकान्त शैली में ख्याल–शैली के मूल सिद्धान्तों का निराला परित्याग है। यह गायकी, ख्याल गायकी के अनुशासन का विरोध करती है। इस प्रकार के राग विश्लेषण में बंदिश के भराव की भी कम गंजुाइश रहती है। द्रुत और तैयार तानों के अलावा इस गायकी में कला के अन्य आभूषण नहीं होते। इस गायकी में स्वरों की चतुर उलट पुलट होती है परन्तु उसकी भावात्मक व्याख्या नहीं होती।

इस गायकी के अन्वेषक ने मेरूखण्ड पर ही पूरा ज़ोर दिया, जिसमें स्वरों की विचित्र उलट–पुलट होती है। कुछ उलट–पुलट रचना में गणित का क्रमचय होता है जिससे गायक की बुद्धि की प्रखरता का ही अनुमान होता है। इस प्रकार की उनके गणितीय विश्लेषण से श्रोता चकित अवश्य होता है परन्तु इस प्रक़ार के गायन में किसी प्रकार का रसात्मक अथवा भावात्मक आनन्द नहीं होता। इसमें दिमाग की प्रशंसा है परन्तु दिल पर लगने वाली चोट नहीं है। स्वरों की उलट–पुलट रचना कभी–कभी अस्वाभाविक अतिश्योक्ति बनकर रह जाती है।

किराना घराने की गायकी की विशेषताओं में इसके अतिरिक्त आवाज़ लगाने की पद्धति में गला सिकोड़कर आवाज़ लगाने की है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि किराना घराने का स्वर बेहद नाज़ुक, कोमल प्रकृति का, रेशम सा मुलायम है। कणों की प्रचुरता किराना घराने में अधिक है और उसी लचक से उनका गायन भावना पूरित हो गया है। स्वरों का सूक्ष्म लगाव, उन्हें बारीक, लचीला और चमकदार बनाना ही इस शैली की एक बहुत बड़ी विशेषता है। यही एकमात्र ऐसा घराना है जहाँ चीज़ के रूप में ठुमरी गाने की प्रथा है और उसकी तालीम ली जाती है। आमतौर पर ठुमरी, ख्याल गायकी से निचली मानी जाती है और भड़कीली भी। परन्तु यदि किराना घराने की ठुमरी गायकी को ध्यान से सुनें तो हम पायेंगे कि वह पूरब की ठुमरी की तरह रसीली और भड़कीली नहीं है। ठुमरी का भड़कीलापन निकालकर उसे खानदानी संयम की मर्यादा में लाया गया है।

किराना गायकी की उपरोक्त विशेषताओं को दृष्टिगत रखते हुए कुछ विचारकों का आरोप है कि किराना घराने में सिर्फ स्वर का ध्यान रखा गया है इसमें बंदिश नहीं है, अनुपातबद्धता, लयकारी, बोलतान, रीति, कायदा नहीं है। किराना गायकी स्वर उच्चारण के वैचित्र्य पर ही अधिक ज़ोर देता है और ताल व लय के चमत्कार के प्रति उसमें एक तरह की उदासीनता सी होती है। इस गायकी का गाने वाला गायक सम आने के जरा पहले ही सचेत सा हो जाता है और सम पर ठीक समय पर आ जाता है। उसकी चेतना ठीक सम पर जाग उठती है और वह अति विलंबित लय में भी सम पर आ जाता है। परन्तु उसके गायन से हमें सम की प्रतीक्षा नहीं होती ओर न उसकी लड़त से ही हमें सम सामने आता दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि जिस ताल की मात्राओं में उसकी रचना के शब्द बँधे होते हैं वह आमतौर से उनके प्रवाह के साथ ठीक–ठीक नहीं चलते। पहली बात तो यह है कि ऐसा गायक रचना की स्थाई और उसके अन्तरे के शब्दों को जैसे वह झूमरा, तिलवाड़ा अथवा एकताल में बंधे होते हैं वैसा ही नपा–तुला नहीं गाता। उसके गाने की विशेषता यही होती है कि वह दो चार

शब्दों को लेकर ही अपनी बन्दिश की बढ़त करने लगता है और स्थाई–अंतरे की तालबद्ध बढ़त के अनुशासन से अपने को मुक्त कर लेता है। इस तरह एक आसान रास्ता ढूँढ लेता है। उस गायक की तुलना में जो किसी और घरानेदार गायकी का पालन करके ऐसी मशहूर बंदिशों के शब्दों को पूरी तरह से ताल में गाता है। 'मुबारक बादियाँ,' 'घूँघट के पट खोलै', 'करीम नाम तेरो', रैन का सपना', 'दैया बट दूभर भई', 'कितें ते आई बदरिया', 'सुख कर आई', 'मान न कर गोरी', मेरो मन हर लीनों', 'पियरवा को बिरमाओ', 'घरिया गिनत जात', 'सकल बन उलाथ गई' इत्यादि–किराना गायकी का कोई भी अनुयायी ऐसे उत्तरदायित्व से अपने को मुक्त कर सकता है और दो तीन–शब्दों से ही काम ले सकता है। इसलिये बहुत गढ़ी हुई लय में भी वह सम पर आसानी से आ सकता है। परन्तु ऐसे ख्याल गायन को हम असली घरानेदार शैली के सैद्धान्तिक आधार का अपवाद ही मानेंगे। जो गायक अपनी बन्दिश के शब्दों की **'चूलें'** नहीं भर सकता और स्थाई अन्तरे की बढ़त का परित्याग करता है अथवा उससे अपनी सुविधा के लिये स्वयं को बचाता है, उसके ख्याल गायन को हम टकसाली नहीं मान सकते और उसे हम ख्याल की परंपरागत शैली की दृष्टि से एक तरह से अधूरा ही मानेंगे। यह एक सैद्धान्तिक बात है और यह न किसी गायकी की उपेक्षा और न उस पर कोई आक्षेप है। इसको हम किराना गायकी की सोची समझी आलोचना ही कहेंगे और उसमें किसी भी गायक की उपेक्षा नहीं है।

यह एकांगी गायकी है। परन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि यह गायकी एकांगी होते हुए भी सबसे ज्यादा लोकप्रिय हुई है। इस गायकी में बड़ा रस था। किराना घराने में अधिकतम् शिष्य बने, कई प्रसिद्ध संगीतज्ञ और कलाकार बने। अनुशासन, लय और ताल से बढ़कर तो स्वर ही श्रोता को रिझाता है। स्वर–नाद देवता है जिसकी उपासना किराना घराने के गायकों ने की थी। **'सुर गया तो सिर गया पर ताल गया तो बाल गया'** वास्तव में सही है। उनका लक्ष्य स्वर समाधि है इन्होंने स्वर को जगाया जो अन्य घरानों में अनुपलब्ध था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है

कि स्वर को पूर्ण रूप से प्राप्त करने के बाद लय–ताल अंग की उतनी आवश्यकता शायद किराना घराने के गायकों को महसूस नहीं हुई। फिर भी हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि किराना गायकी में लय बिल्कुल ही नहीं है। वास्तव में स्वर और लय इतने गुँथे हुए है कि गायकी में इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता है हाँ, इतना अवश्य है कि किराना घराने के गायकों ने अपनी इच्छा और स्वभाव के अनुसार लय और स्वर के अनुपात को घटाया–बढ़ाया है। किराना गायकी के बारे में एक मुहावरा ही मशहूर हो गया– **''सुर साधे तो सब साधे और सब सधे तो बेकार''**। श्री देशपांडे के अनुसार–

''किराना गायकी रोगी को शल्य क्रिया से पूर्व सुँघाई जाने वाली दवा थी, जिसके बाद में क्या होना है और क्या नहीं, इसकी फिक्र ही जाती रही। केवल स्वर की करामात से मैं आपको मुग्ध कर देता हूँ'' –यही प्रतिज्ञा किराना घराने की बन गई।

आज इस घराने के प्रशंसक अधिकांश है। अन्य घरानों के मुकाबले में निश्चय ही इस घराने को अधिक कांति व यश मिला है ऐसा हम कह सकते हैं। कि आधुनिक समय में पं० भीमसेन जोशी इस घराने का कुशल प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान कलाकारों में गंगूबाई हंगल, उस्ताद रजब अली खाँ, हीराबाई बड़ोदकर व श्रीमती माणिक वर्मा के नाम प्रसिद्ध है।

अब मैं किराना घराने की गायकी का कुशल प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे प्रमुख कलाकार का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रही हूँ। जिनका संबंध उत्तर प्रदेश से रहा है–

अब्दुल करीम खाँ

किराना घराना की विशिष्ट विभूति उस्ताद अब्दुल करीम खाँ का जन्म उत्तर प्रदेश में सन् 1884 में किराना नामक स्थान पर मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले में हुआ। उनके पिता का नाम काले खाँ, जो किराना के सारंगी नवाज़ थे तथा माता का नाम जिलाई बेगम था। खाँ साहब के तीन भाई थे अब्दुल लतीफ खाँ, अब्दुल मजीद खाँ एवं अब्दुल

हक खाँ। उनको अपने पिता काले खाँ, चाचा अब्दुल्ला खाँ, एवं ध्रुपद गायक नन्हें खाँ से संगीत की तालीम मिली। खाँ साहब का कंठ इतना सुरीला था और सीखने की रफ्तार इतनी तेज थी कि वे छः साल की उम्र में ही महफ़िलों में गाने लगे थे और पन्द्रह वर्ष की आयु में बड़ौदा दरबार में गायक नियुक्त हुये। वहाँ वे सन् 1899-1902 तक रहे। उसके बाद वे मिरज चले गये और वहीं स्थायी रूप से रहने लगे। मिरज में रहते हुये खाँ साहब ने मद्रास, बंगलौर, कोल्हापुर, धारवाड़, तंजौर और कलकत्ता की यात्राएँ की। जिस जगह भी उनका गायन होता सुनने वाले मंत्रमुग्ध हो जाते थे। तालियों की ध्वनि और अब्दुल करीम खाँ की जय से सभागार गूँज उठता था। उन्होंने सन् 1913 में पूना में **आर्य संगीत विद्यालय** नामक संगीत विद्यालय भी खोला।

खाँ साहब किराना गायकी के उत्कृष्ट गायक थे। वे विलंबित ख्याल गाते थे तथा लयकारी और बोलतान के मुकाबले आलाप पर ज़्यादा ध्यान देते थे। उनके गायन में वीणा की मींड, सारंगी का कण तथा गमक का मधुर मेल रहता था। स्थायी और एक अन्तरे में ही वे अपनी सारी कला का प्रदर्शन कर देते थे। तानपूरे में वे पारंपरिक **'प सा सा सा'** के स्थान पर **'नि सा सा सा'** का प्रयोग करते थे जो उनकी गायकी और आवाज के अनुकूल पड़ता था। उनकी आवाज स्वाभाविक रूप से नुकीली होने के कारण उन्हें आलाप आसान हो गये। खुली तथा सहज ढंग से आवाज लगाने के स्थान पर उन्होंने श्वास नलिका को संकुचित कर गाने की प्रथा डाली, जिससे स्वर नुकीला हो गया और यही किराना घराने की विशेषता बन कर रह गयी। आवाज़ में इतना सुरीलापन, इतना सोज और इतना विस्तार किसी अन्य गायक को नहीं प्राप्त हुआ। वे बहुत सुकून और तल्लीनता से गाते थे। राग झिझोंटी में 'पिया बिन नाहीं आवत चैन', भैरवी में 'जमुना के तीर', तिलंग में 'सजन तुम काहे नेहा लगाये' आदि उनकी ठुमरियाँ बहुत लोकप्रिय हुई। खाँ साहब के अन्य प्रिय राग थे—दरबारी कान्हड़ा, आभोगी कान्हड़ा, शंकरा, मालकौंस, शुद्धपीलू, शुद्ध कल्याण, गारा, मारवा, ललित, जौनपुरी, मिश्र काफी आदि।

खाँ साहब पूरे भारतीय संगीत का प्रतिनिधित्व करते थे। वे हिन्दुस्तानी और कर्नाटकी संगीत के बीच एक सेतु थे। उन्होंने कई कर्नाटकी रागों को हिन्दुतानी शैली में गाया और कर्नाटक की विशिष्ट सरगम का हिन्दुस्तानी गायन में प्रयोग किया। उनकी कल्पना अद्‌भुत की विशिष्ट सरगम का हिन्दुस्तानी गायन में प्रयोग कियाऽ। उनकी कल्पना अद्‌भुत और विशद् थी जिसके कारण वे संगीत को नया आयाम और नया क्षितिज दे सके। उनका देहावसन् 27 अक्टूबर सन् 1937 को हुआ। उस्ताद अब्दुल करीम खाँ की लंबी शिष्य परंपरा है। इनकी दूसरी पत्नी से सुरेश बाबू और हीराबाई बड़ोदकर हुये, जो किराना घराना के प्रसिद्ध कलाकार हुये। संतानों के अतिरिक्त उनके शिष्यों में सवाई गन्धर्व, गनेशी राव, गनपत बुवा बहरे, रोशन आरा बेग़म, गंगू बाई हंगल, रामचन्द्र बुवा, केसरबाई और रहमान खाँ प्रमुख है। सवाई गन्धर्व के शिष्य भीमसेन जोशी वर्तमान समय के एक प्रसिद्ध गायक है।

सहसवान का घराना

जब हम सहसवान के घराने का वर्णन प्रारंभ करते हैं तो हम जानते हैं कि उसके गायक और वादक अधिकतर सहसवान के ही निवासी थे। इसी नाते सामूहिक रूप से हम इन सबको इस नाम के घराने में सम्मिलित करते है। इस घराने के दो प्रमुख गायक ग्वालियर घराने के शिष्य थे और यही एक विशेष कारण था कि उनको बड़ी ख्याति मिली थी। सहसवान के रहने वाले इन सारे संगीतज्ञों को हम सुविधा के लिये **'सहसवान घराने'** में सम्मिलित करते है। यही कारण है कि **'सहसवान'** इस घराने का केन्द्र माना गया है। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि इनमें से तीन–चौथाई गायक और वादक रामपुर के सेनिया घराने के संगीतज्ञों के शिष्य बन गये थे और रामपुर रियासत से संबंधित हो गये थे। एक गायक को (इनायत हुसैन खाँ) छोड़कर यहाँ के सब प्रमुख गायक दूसरे घरानों के शिष्य थे और सहसवान घराने की अपनी कोई विशेष शैली नहीं थी।

खुर्जा और सहसवान के घराने में शैली को देखते हुए तो कोई गुण साम्य नहीं था परन्तु सामान्य रूप से इन दोनों में एक तरह का तात्विक साम्य अवश्य था जो एक तरह की समरूपता अथवा समानता की ओर संकेत करता था और जो गायक इन दोनों घरानों के प्रारंभकर्ता अथवा जन्मदाता माने गये है उन दोनों में मौलिक प्रतिभा थी।इस बात के होते हुए भी यह कि दोनों प्रसिद्ध गायक दो अलग–अलग घरानों से प्रेरित हुए थे और अपने–अपने ढंग से उनकी शैलियों के अनुवादक बन गये थे। परंतु इनके व्यवहारिक संगीत में इनकी व्यक्तिगत प्रतिभा का भी बड़ा हाथ था। जहूर खाँ और इनायत हुसैन खाँ दोनों नामी ख्याल गायक थे।

इनायत हुसैन खाँ :

इस घराने का जन्मदाता इनायत हुसैन खाँ को माना जाता है। यह सहसवान के निवासी थे और इन्हें दो नामी और घरानेदार गायकों से शिक्षा मिली थी। यह ग्वालियर के प्रसिद्ध गायक हद्दू खाँ के दामाद थे और इन्होंने उनसे थोड़ा बहुत सीखा भी था। परंतु बाद में यह रामपुर जाकर सेनिया घराने के प्रसिद्ध संगीतज्ञ और सुरसिंगार वादक बहादुर हुसैन खाँ के शिष्य बन गये थे और उनसे बहुत सी बंदिशें और तराने इत्यादि भी सीखे थे। बहादुर हुसैन खाँ मशहूर सेनिया संगीतज्ञ प्यार खाँ, जाफर खाँ और बासत खाँ के घराने के थे। यह घराना सेनियों का घराना कहलाता था। प्राचीन ध्रुपद शैली ही इनके घरानेदार संगीत का मूल स्रोत और आधार थी।

बिल्कुल इसके विपरीत ग्वालियर के हद्दू खाँ ख्याल शैली की ही अनुपम व्याख्या करते थे और ध्रुपद शैली के विशेषज्ञ नहीं थे। हद्दू खाँ ख्याल की शुद्ध गायकी के निर्माता माने गये हैं। परन्तु बहादुर हुसैन खाँ ध्रुपद संगीत के विशेषज्ञ होते हुये भी और एक अद्वितीय सुरसिंगार वादक होने के अलावा ख्याल ऐसी शैलियों के भी मर्मज्ञ थे। उनके व्यवहारिक संगीत में ऐसा प्रभावोत्पादक आकर्षण था कि संगीतज्ञ और मामूली श्रोता उनकी ओर खिंचते चले आते थे। यह स्वाभाविक था और यह कोई

आश्चर्य की बात नहीं थी कि इनायत हुसैन खाँ उनके शागिर्द बन गये थे। रामपुर को छोड़कर आस–पास में ऐसे और संगीतज्ञ नहीं थे जिनके प्रति वह ऐसी श्रृद्धा रखते। अपनी कमी को पूरा करने के लिये वह बहादुर हुसैन खाँ के शिष्य बन गये थे। इनायत हुसैन खाँ के बहादुर हुसैन खाँ का शिष्य बन जाने से बहुत अधिक लाभ पहुँचा पहली बात तो यह थी कि बहादुर हुसैन खाँ से संगीत की शिक्षा पाकर और उनके संपर्क में आकर उनकी अपनी प्रतिभा का भी विकास हुआ और वह अच्छी बंदिशों की रचना भी करने लगे इस तरह उनकी सृजनात्मक प्रकृति को भी प्रोत्साहन मिला। इसके अतिरिक्त वह गायन शैली की रोचकता पर भी अधिक ध्यान देने लगे। वह ध्रुपद शैली विशेषज्ञ बनना नहीं चाहते थे परन्तु बहादुर हुसैन खाँ से शिक्षा पाकर और उनके सत्संग का लाभ उठाकर उन्होंने अपनी ख्याल गायकी को और भी रोचक बनाया और उसे नीरस शुद्धाचारवाद के दोष से बचाया। बहादुर खाँ से ऐसी अनोखी प्रेरणा पाकर ही इनायत हुसैन खाँ ने अपनी ख्याल शैली को भी भरपूर बनाया और तराना ऐसी लोकप्रिय शैली का भी अभ्यास करके अपने संगीत को विविधता के गुण से सुशाभित किया। हद्दू खाँ के बहुत से शिष्य थे और उनकी शिष्य परंपरा का विस्तार भी अधिक था। जब इनायत हुसैन खाँ, हद्दू खाँ के दामाद बन गये तो उन्हें यह अवसर और सौभाग्य भी प्राप्त हुआ कि वह उनसे कुछ और भी चीजें सीखते। परन्तु हम उन्हें हद्दू खाँ के खास चुने हुये प्रथम श्रेणी के शार्गिदों में नहीं मान सकते। किन्तु यह तो मानना पड़ेगा कि हद्दू खाँ से उन्हें प्रेरणा मिली थी और उनसे उन्होंने कुछ बंदिशें भी याद की। इनायत हुसैन खाँ ने ऊँचे दर्जे की प्रतिभा थी और उन्हें देश मे अधिक मान–सम्मान भी मिला था। अपने ज़माने के मशहूर ख्याल गायकों में उनकी गणना होती थी वह ख्याल शैली के विशेषज्ञ थे और यही कारण था कि उनको इतनी ख्याति मिली। जहाँ–जहाँ वह गये उनको समझदार श्रोताओं ओर गुणीजन समाज से मान्यता मिली। उस ज़माने में नेपाल रियासत में संगीत का बहुत बोलबाला था और अच्छे संगीतज्ञों को वहाँ मान के अलावा धन भी बहुत मिलता था। जिस ज़माने में इनायत हुसैन खाँ

नेपाल गये थे वहाँ उस समय और भी कलाकार जाया करते थे। पहली बार इन्हें वीरशमशेर राणा ने बुलाया था और वहाँ भी अच्छे–अच्छे संगीतज्ञ एकत्र हुये थे। इनका वहाँ बहुत अतिथि सत्कार हुआ और यह कुछ दिनों के लिये नेपाल दरबार में भी नियुक्त हुए थे। यह वह ज़माना था जब भारतवर्ष का कोई भी कुशल और प्रवीण गायक नेपाल से खाली हाथ नहीं लौटता था। इस घराने में नेपाल अच्छे संगीतज्ञों का गुण–ग्राहक माना जाता था परन्तु नेपाल से कहीं अधिक मान्यता इनको ग्वालियर, रामपुर व हैदराबाद ऐसी रियासतों में मिली। इनके प्रमुख शिष्यों में ऐसे नामी गायक थे जैसे रामकृष्ण बझे बुवा, नसीर खाँ, छज्जू खाँ, खादिम हुसैन खाँ, मुश्ताक हुसैन खाँ आदि। इन्हीं नामी शार्गिदों ने इनकी ख्याति में चार चाँद लगाये।

रामकृष्ण बझे बुवा :

रामकृष्ण बझे बुवा महाराष्ट्र के मशहूर गायकों में थे। इन्होंने अन्य कलाकारों से भी सीखा था परन्तु इनायत हुसैन खाँ को यह अपना खास गुरू मानते थे। उस ज़माने में महाराष्ट्र में ग्वालियर की शिष्य परंपरा का बहुत आदर होता था और कभी–कभी वहाँ के गायक ग्वालियर घराने के गायकों की ओर स्वाभाविक ढंग से आकर्षित होते थे और उनसे थोड़ा बहुत सीखते भी थे। रामकृष्ण बझे बुवा इसी तरह की श्रृद्धा से प्रेरित हुये थे।

छज्जू और नज़ीर खाँ :

ये मुरादाबाद और रामपुर के निवासी थे और मशहूर गायक थे। नज़ीर खाँ ने औरों से भी शिक्षा पाई थी। नज़ीर खाँ पहले आगरा घराने के सुप्रसिद्ध गायक कल्लन खाँ के शिष्य बन गये थे। यह सादरा ऐसी शैली के विशेषज्ञ माने जाते थे शायद यही कारण था कि इनका ध्यान ध्रुपद शैली की ओर भी गया था। बाद में यह ध्रुपद गायक अलाबन्दे खाँ के भी शिष्य बन गये थे और तत्पश्चात् पंडित भातखंडे जी का भी शिष्यत्व ग्रहण किया। परन्तु इनायत हुसैन खाँ से संबंध के बारे में यह नहीं कहा जा

सकता कि छज्जू खाँ और नजीर खाँ ने इनसे कितने काल तक सीखा और क्या सीखा मगर थे दोनों नामी गायक।

मुश्ताक़ हुसैन खाँ :

इनायत हुसैन खाँ के सबसे नामी शागिर्द मुश्ताक़ हुसैन थे। वह इनायत हुसैन खाँ के सुयोग्य शिष्य थे और जीवन भर उनकी श्रृद्धा करते रहे। जब उनका नाम इनायत हुसैन खाँ से जोड़ा जाता था तो जनता के मानस पटल पर इनकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा अंकित हो जाती थी।

अली हुसैन खाँ :

इनायत हुसैन खाँ के छोटे भाई का नाम अली हुसैन खाँ था जो एक प्रसिद्ध बीनकार थे। इनको अपने बड़े भाई इनायत हुसैन खाँ से संगीत की शिक्षा मिली थी। परन्तु वीणा वादन में शिक्षा पाने के लिये यह बहादुर हुसैन खाँ के ही शिष्य थे।

मुहम्मद हुसैन खाँ :

अली हुसैन खाँ के एक और भाई भी थे जिनका नाम मुहम्मद हुसैन खाँ था और यह भी सुयोग्य वीणा वादक थे। यह रामपुर के नवाब हामिद अली खाँ के दरबार में नियुक्त हो गये थे। यह वह ज़माना था जब रामपुर में वजीर खाँ बीनकार का बहुत मान था और वह नवाब रामपुर के गुरू भी थे। यह कहना भी उपयुक्त होगा कि इनायत हुसैन खाँ और उनके दोनों भाइयों को बहादुर हुसैन खाँ से ही प्रेरणा मिली थी और यही क़ारण था कि यह सब इतने प्रवीण संगीतज्ञ बंने। इस बात की कल्पना करना कठिन है कि बहादुर हुसैन खाँ का शिष्य बने इनायत हुसैन खाँ संगीतज्ञों की किस श्रेणी में रखे जा सकते थे? इनायत हुसैन खाँ ने जिस कमी को पूरा किया था उसे वह स्वयं जानते थे।

यदि हम सहसवान के और गायकों का वर्णन न करें तो सहसवान के घराने की चर्चा अधूरी मानी जायेगी–

इमदाद खाँ :

इमदाद खाँ नाम के गायक भी सहसवान के निवासी थे। इन्होंने भी हद्दू खाँ से शिक्षा पाई थी और इनकी गणना भी उनकी शिष्य परंपरा में होती थी। यह सहसवान के एक नामी गायक थे किन्तु शायद इनको इनायत हुसैन खाँ की तरह इतनी अधिक ख्याति नहीं मिली। इमदाद खाँ ने देश की उत्तर पूर्वी रियासतों की बहुत सैर की और वहाँ इनको उपयुक्त ढंग से सम्मानित किया गया और अनेक पुरस्कार भी दिये गये। हद्दू खाँ के शिष्य होने के नाते श्रोताओं ने इन्हें हाथो–हाथ लिया और इनके संगीत का बहुत आनंद उठाया। इनको यह सौभाग्य तो प्राप्त नहीं हुआ था कि यह किसी दूसरे महान संगीतज्ञ के संपर्क में भी आते और अपनी गायन शैली को कला के अनेक आभूषणों से अलंकृत करते यह अपनी ही शैली पर निर्भर थे और उसी पर इन्होंने अभ्यास किया था। यह शिक्षक भी बहुत अच्छे थे और अपने बड़े लड़के अमजद हुसैन और छोटे बेटे वाजिद हुसैन को बड़ी अच्छी शिक्षा दी थी। एक संगीत शिक्षक होने के नाते वह दस–बारह साल तक बंबई में रहे और महाराष्ट्र के बहुत से गायकों ने उनसे शिक्षा पाई। इस संबंध में यह बताना आवश्यक है कि उस्ताद वाजिद हुसैन के शिष्यों में श्री बी०आर० देवधर और कुमार गन्धर्व भी थे। इन दोनों में आपस में गुरू–शिष्य का संबंध था। श्री देवधर ने ही कुमार गन्धर्व को संगीत की शिक्षा दी। परन्तु आवश्यकतानुसार अवसर पाकर इन दोनों ने वाजिद हुसैन खाँ से भी बहुत सी चीजें याद की। वाजिद हुसैन खाँ 1944 अथवा 1945 में इलाहाबाद चले आये थे और वहाँ पर भी संगीत शिक्षा में संलग्न हो गये थे। इलाहाबाद में बहुत से गायकों और कलाकारों ने उनसे काफी लाभ उठाया।

हैदर खाँ :

हैदर खाँ भी सहसवान के एक बहुत नामी गायक थे जिन्होंने बहुत नाम कमाया था और बाद में हामिद अली खाँ के दरबार में रामपुर में नियुक्त हो गये थे।

मुश्ताक हुसैन खाँ के अलावा बदायूँ के गायक **फिदा हुसैन खाँ** और उनके सुपुत्र **निसार हुसैन खाँ** भी सहसवान के गायक माने जाते है। यह कहना तो ठीक न होगा कि सहसवान घराने के सारे गायकों की एक सी शैली है। हम इस बात को उदाहरण से समझा सकते हैं। कहाँ तक मुश्ताक हुसैन खाँ अपने दूसरे गुरू इनायत हुसैन खाँ की गायकी गाते थे? क्या जो कुछ उन्होंने अपने मामा पुत्तन खाँ से और महबूब खाँ **'दरस'** से सीखा था, उनके संगीत की असली संपत्ति नहीं थी? संगीत की प्रारम्भिक शिक्षा का बहुत बड़ा प्रभाव प्रत्येक गायक की शैली पर पड़ता है। उसका बड़ा गहरा संबंध किसी गायक के स्वभाव से और उसकी शिक्षा से भी होता है।

फिदा हुसैन खाँ :

फिदा हुसैन खाँ सहसवान के मूलतः निवासी होंगे परन्तु वह बदायूँ में आकर बस गये थे और आम जनता उन्हें बदायूँ का गायक ही समझी थी। उनकी सीधी–सादी ख्याल गायकी अपने ढंग की रोचक गायकी थी। यह गायकी स्थाई और अन्तरा, बढ़त और सीधी तानों पर आधारित थी। राग की बढ़त और चीज़ की बढ़त इस गायकी के प्रधान गुण थे।

निसार हुसैन खाँ :

निसार हुसैन खाँ भी सहसवाने घराने के माने जाते है। परन्तु यह भी बदायूँ में बस गये और सहसवान से बाद में इनका कोई विशेष संबंध नहीं रहा। यद्यपि निसार हुसैन खाँ ने अपने पिता फ़िदा हुसैन खाँ से गायकी की शिक्षा पाई किन्तु यह स्वयं ख्याल गायकी के और भी चमत्कारों की ओर प्रेरित हुये थे जिसके फलस्वरूप उनकी गायकी में और तरह के सुगंध भी हैं। मुश्ताक़ हुसैन खाँ की तरह यह भी इनायत हुसैन खाँ के दामाद थे। यह जन्म से सहसवान के गायक माने जा सकते हैं परन्तु इनके कंठ में सहसवान की गायकी के कोई विशेष लक्षण नहीं है। यदि इनायत हुसैन खाँ सहसवान की गायकी के प्रामाणिक टीकाकार माने जाते हैं तो निसार हुसैन खाँ उस

गायकी के विशेषज्ञ नहीं हैं। इनकी गायकी पर आगरे घराने की गायकी का बड़ा प्रभाव पड़ा फिर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि अभी भी सहसवान और बदायूँ के प्रमुख गायकों में इनकी गणना होती है और यह एक प्रसिद्ध ख्याल गायक है जिनकी गायकी पर आगरा गायकी का जबरदस्त प्रभाव पड़ा। सहसवान से यह इसलिये संबंधित है कि यह इनायत हुसैन खाँ के दामाद है परन्तु उनकी गायकी नहीं गाते।

आज ख्याल गायन के यह घराने प्रायः लुप्तप्राय से है किन्तु फिर भी इनकी शिष्य परंपरा के माध्यम से उत्तर प्रदेश में संगीत का प्रचार–प्रसार, विकास निरन्तर जारी है।

पंचम् अध्याय

उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में ठुमरी का स्थान

उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में ठुमरी का स्थान

ठुमरी के उद्‌भव के बारे में लोगों की विभिन्न मान्यताएँ हैं। ठुमरी का आविष्कार कब, कहाँ और किसके द्वारा हुआ है? इन प्रश्नों के समाधान में यद्यपि विद्वानों ने अलग–अलग मत व्यक्त किये हैं, किन्तु सबने मतैक्य होकर यह स्वीकार किया है कि ठुमरी के उद्‌भव, विकास तथा प्रचार में उत्तर प्रदेश की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। इस संबंध में ऐतिहासिक तथ्य भी प्राप्त है। वास्तव में ठुमरी गान शैली उत्तर प्रदेश की धरती पर पुष्पित, पल्लवित होते हुए हिन्दुस्तानी संगीत की विभिन्न विधाओं के गुलदस्ते में समाविष्ट होकर संपूर्ण उत्तर भारत में अपनी सुगंधि को चहुँ ओर फैलाया। इस संबंध में उत्तर प्रदेश के दो प्रमुख सांगीतिक केन्द्र लखनऊ और बनारस की महत्ती पृष्ठभूमि ने प्रमुखतया भूमिका अदा की, जहाँ पर ठुमरी शैली का रूप सँवारा गया जहाँ इस गायन शैली ने लखनऊ की नज़ाकत व शराफ़त से भरी निहायत सलीकेदार संगीत रसिक धरती पर जन्म लिया, वहीं जवान होती हुई और युवावस्था की गरिमा से क्रमशः परिचित होती हुई यह गंभीरतायुक्त ओढ़नी ओढ़कर बनारस पहुँची, जहाँ की पवित्र मिट्‌टी ने इस गायकी को सजा–सँवारकर तथा अनुपम बनाकर सर्वदा के लिये अपना लिया तथा इसे बड़े ही प्यार और आदर के साथ अपने में समेटकर आत्मसात करके हमेशा–हमेशा के लिये अपनी चिरसंगिनी बना लिया।

लखनऊ के संबंध में तो कुछ लोगों की धारणा है कि ठुमरी का जन्म यहाँ पर हुआ। डॉ० सुशील कु० चौबे के मतानुसार लखनऊ के उस्ताद सादिक अली खाँ ठुमरी के अन्वेषक समझे जाते हैं। एक शताब्दी पूर्व वे लखनऊ के श्रेष्ठ और अग्रगण्य संगीतज्ञों में से थे। ठुमरी का संबंध लखनऊ और वहाँ यह एक सुकुमार कला के रूप में विकसित हुई। इससे पूर्व संगीत के इतिहास में ठुमरी का अस्तित्व किसी अविकसित गीतभेद के रूप में था।

ठुमरी की उत्पत्ति :

इस गायन शैली की उत्पत्ति, विकास एवं शैलियों की प्रचलित विविधता पर विचार करने के लिए संगीत का आधारग्रंथ **'नाट्यवेद'** की पृष्ठभूमि ही मेरे विचार में सर्वथा उचित एवं प्रामाणिक है। नाट्यवेद में हमें क्रमशः नाट्य (वाक्यार्थ अभिनयात्मक), नृत्त एवं नृत्य (गायन, वादन, नर्तन समपृक्त अभिनयात्मक) पक्ष की जानकारी मिलती है। नृत्य पक्ष की दो शाखा–ताण्डव (पुरूषोचित) एवं लास्य (ललित–सुकुमार स्त्रियोचित) नृत्य से हल्लीसक–रासनृत्य की उत्पत्ति मान्य हुई। हल्लीसक–रासनृत्य भी आगे चलकर दो भागों में क्रमशः–संगीत प्रधान रासक (लोकसंगीत), काव्य प्रधान रासक (अपभ्रंश अथवा डिंगल साहित्य) में बँट गया। नाट्यरासक से चर्चरी का प्रार्दुभाव एवं चर्चरी से क्रमशः काव्य प्रधान चर्चरी (अपभ्रंश एवं डिंगल साहित्य) तथा संगीत प्रधान चर्चरी (लोकसंगीत) का विकास हुआ। संगीत प्रधान चर्चरी आगे चलकर क्रमशः–धम्माली एवं चाँचरि (लोक संगीत) में विभाजित हुई। धम्माली से क्रमशः –धमाल–धमार–धमाली–धुमाली (लोकसंगीत) तथा धमार, होरी (ध्रुपद अंग) और चाँचरि शैली से क्रमशः–होली (लोक संगीत) एवं ठुमरी (ब्रज शैली) विकसित हुई । आगे चलकर ठुमरी (ब्रज शैली) भी दो भागों क्रमशः 'बोलबाँट की ठुमरी' एवं 'बोलबनाव की ठुमरी शैली' के रूप में विकसित होती चली गई। बोलबनाव ठुमरी शैली ने कालांतर में **'पूरब अंग-पंजाब अंग'** का व्यक्तित्व ग्रहण किया जिसमें लखनऊ शैली (पंजाब अंग मिश्रित) एवं बनारसी शैली ने अपनी अलग पहचान बनाई।

सामान्यतया लोगों की धारणा है कि 19वीं शताब्दी में अवध के शासक वाजिद अली शाह के लखनऊ दरबार से ठुमरी गान शुरू हुआ। वे अवध की राजगद्दी पर सन 1847 ई० में बैठे एवं सन् 1887 ई० में उनकी मृत्यु हो गई। वाज़िद अली शाह का उर्दू शायरी, नाट्य, संगीत कथक, नृत्य तथा ठुमरी के क्षेत्र में विशेष योगदान रहा है। कुछ विद्वानों के मतानुसार लखनऊ के सादिक अली खाँ ठुमरी के अन्वेषक समझे जाते

हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वाजिद अली शाह और उस्ताद सादिक अली खाँ ठुमरी के प्रमुख उन्नायकों में से थे किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि उनके पहले ही सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में ठुमरी का अस्तित्व हो चुका था।

ठुमरी शब्द का व्यवहार हिन्दुस्तानी संगीत की एक विशेष गेय विधा के लिये किया जाता है। यद्यपि यह शब्द इसी रूप में अथवा थोड़े रूपान्तर के साथ उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाओं में प्रचलित है किन्तु मूलतः यह राज्य हिन्दी भाषा का माना जाता है क्योंकि ठुमरी का उद्गम विकास और प्रसार हिन्दी क्षेत्र से हुआ है और सभी पुरानी ठुमरियाँ हिन्दी की उपभाषाओं में ही मिलती है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित ब्रजभाषा मूलतः ब्रज क्षेत्र की बोली है। ब्रज की प्रेम और श्रृंगारमयी कृष्ण लीला और उससे संबंधित कथक नृत्य से ठुमरी का अत्यंत घनिष्ठ संपर्क रहा है। अतः ठुमरी मूलतः ब्रजभाषा का शब्द माना जाता है। ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति और उसके मूल अर्थ के संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत है–

श्री सुनील कु० बोस का विचार है कि **'ठुम'** और **'री'** इन दो शब्दों के योग से ठुमरी शब्द बना है। ठुम शब्द **'ठुमकत चाल'** अर्थात् राधा जी की चाल और 'री' शब्द **'रिझावत'** अर्थात् भगवान कृष्ण के मन को रिझाने की ओर इंगित करता है। अतः ठुमरी शब्द से 'राधा के ठुमक कर चलते हुए कृष्ण के मन को रिझाने की अभिव्यंजना है। स्व० आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति के मतानुसार 'ठुमरी' शब्द के 'ठुम' और 'री' दो अंश हैं। **'ठुम'** ठुमकने का द्योतक है और **'री'** अंतरंग सखी से अपने अंतर की बात कहने का।

प्रसिद्ध ठुमरी गायक स्व० गिरिजाशंकर चक्रवर्ती के मतानुसार ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति 'ठुमक' और 'रिझान' से हुई है। ठुमक 'लय' का और रिझान 'अर्थभाव' का द्योतक होने के कारण ठुमरी शब्द –'लयकारी और भावभिव्यंजना' दोनों को व्यक्त करता है। स्व० चन्द्रशेखर पंत के अनुसार ठुम और री शब्दों के योग से निर्मित ठुमरी में ठुम या ठुमक शब्द 'नृत्य के पद संचालन' और ठसक भरी 'गर्वीली चाल' को व्यक्त

करता है। इसी के निकटतम् शब्द 'ठुमका' का अर्थ है 'छोटे–आकार का'। विभक्ति के रूप में 'री' प्रायः 'की' के अर्थ में व्यवहृत होती है जो कि अधिकार और संबंध की द्योतक है। जैसे किसन रूक्मिणी री बेलि, हमरी, तुमरी, इत्यादि। अतः पूरी तरह व्युत्पतिगम्य अर्थ के अनुसार ठुमरी शब्द एक ऐसे लघु आकार के गीत की ओर इशारा करता है, जो नृत्य और उसके सुकुमार भावों से सम्बद्ध है।

उपरोक्त सभी विद्वानों ने ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति ठुमक शब्द से मानते हुए 'ठुमरी' शब्द के 'ठुम' और 'री' यह दो अंश और 'ठुम' को ठुमक का द्योतक माना है। यह मान्यता तथ्यपूर्ण होने पर भी 'ठुम' शब्द के मूल, विकास, अर्थ तथा 'ठुमक' शब्द से उसके संबंध इत्यादि विषयों पर व्याकरण और भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से अभी तक विचार नहीं हुआ है। व्युत्पत्ति तथा विकास की दृष्टि से हिन्दी और उसकी उपभाषाओं के समस्त शब्दों का साधारणतया तत्सम्, तद्भव, दशी और विदेशी नामक चार वर्गों के अन्तर्गत रखा गया है। ठुमरी शब्द का निर्माण हिन्दी भाषा के अन्तर्गत दसवीं शताब्दी के बहुत बाद में होने पर भी इसके मूल तत्वों की परंपरा संस्कृत तक पहुँचती हैं। अतः इसे **'साध्यमान तत्भव'** शब्दों की श्रेणी के अन्तर्गत मानना उचित होगा।

इस प्रकार ठुमरी शब्द के संबंध में विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यह हिन्दी के अन्तर्गत मूलतः ब्रजभाषा का संज्ञा 'स्त्रीलिंग' शब्द है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृत के 'स्तुम्भ' धातु से विकसित 'ठुम' के साथ मत्वर्घीय 'र' प्रत्यय के स्त्रीलिंग रूप 'री' (र+ई) के संयोग से बना 'ठुमरी 'साध्यमान' तत्भव' श्रेणी का शब्द है, जिसका अर्थ **'नृत्य के साथ गाई जाने वाली गेय रचना'** होता है। अतः व्युत्पत्तिगम्य अर्थ से ठुमरी के मूलतः **'नृत्यगीत'** होने का आभास मिलता है। यह कह सकना कठिन है ठुमरी शब्द वस्तुतः किस समय निर्मित और प्रचलित हुआ। ठाकुर जयदेव सिंह ने ठुमरी का प्रचलन लगभग दो सौ वर्षों से मानते हुए उसे नृत्य और अभिनय से संबंधित माना है। हिन्दी और उसकी सहायक भाषाओं में ठुम, ठुमक, ठम, ठमक इत्यादि शब्दों का अस्तित्व ईसा की लगभग 14 और 15 वीं सदी से नृत्य संबंधी सूफ़ी और वैष्णव गेय

काव्यों में मिलने लगता है। ठुमरी शब्द का उल्लेख अभी तक फ़कीरूल्लाह कृत 17वीं शताब्दी के **रागदर्पण** ग्रंथ के पूर्व कहीं नहीं मिलता।

ईसा की 14 वीं शताब्दी में **बुरहानपुर** के सूफी संत शेख बहाउद्दीन की दक्खिनी हिंदी की काव्य रचनाओं में 'ठुमके' और 15 वीं शताब्दी के गुजराती कृष्ण भक्त वैष्णव कवि नरसिंह (नरसी) मेहता के **'राससहस्त्रपदी'** के गेय पदों में नृत्य वाचक ठम, ठमके ठमकावे इत्यादि शब्दों का कई स्थानों पर प्रयोग मिलता हैं यथा–

1. इहाँ ठम–ठम ठमके रे (नरसी मेहता)

2. ठमक नेपुरिया बाजे रे (" ")

2. नेपुरिया ठमकावे रे (" ")

आगे चलकर 17वीं शताब्दी में फकीरूल्लाह कृत **'रागदर्पण'** ग्रंथ में बरवा धुन या राग को ठुमरी कहा गया है। उसी शताब्दी में **मिर्ज़ा ख़ान** कृत **'तोहफ़तुलहिन्द'** और 18वीं शताब्दी में जयपुर के राजा सवाई प्रतापसिंह कृत **'श्री राधागोविन्द संगीतकार'** ग्रंथ में ठुमरी का उल्लेख एक राग के रूप में मिलता हैं। गीत के रूप में तो ठुमरी का नृत्याभिनय से संबंध स्पष्ट ही है। अतः इन सूत्रों और भाषाशास्त्रीय शब्द, व्युत्पत्ति व विकास की दृष्टि से ठुमरी शब्द की श्रृंखला 15वीं शताब्दी में व्यवहृत होने वाले, नृत्याभिनय से संबंध रास के **'टठुं'** नामक धुन, राग या गीत से जुड़ती है। 'टठुं' शब्द से कालांतर में **'ठुमरी'** शब्द के विकास की परिकल्पना 'टठुं (ठुम) ठुम + र + ई = '**ठुमरी**', की जा सकती है जो कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से नियमानुकूल, तर्कसंगत और तथ्यपूर्ण है। अतएव इस आधार पर 'ठुमरी' शब्द की व्युत्पत्ति और प्रचलन का आरंभ लगभग 15 वीं और 17वीं शताब्दी के बीच कहीं माना जा सकता है। इस प्रकार इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय संगीत में ठुमरी शब्द प्रायः चार सौ वर्षों से अवश्य प्रचलित है और मूलतः यह नृत्यगीतों के लिये व्यवहृत होता था।

नृत्यकला से संबंध :

शब्द व्युत्पत्ति, व्याकरण तथा भाषाशास्त्र व अर्थ से ज्ञात होता है कि ठुमरी मूलतः एक नृत्यगीत है। अतः नृत्यकला से ठुमरी के संबंधों की विवेचना आवश्यक प्रतीत होती है।

नृत्य के दो भेद है– (1) उद्धत (2) मधुर। इन्हें क्रमशः **'तांडव'** और **'लास्य'** भी कहा गया है। तांडव के प्रवर्तक **महादेव** और लास्य की प्रवर्तिका देवी **पार्वती** मानी गई हैं। महादेव के गण 'तंडु' के नाम पर 'तांडव' नाम पड़ा। तंडु और नंदिकेश्वर एक ही व्यक्ति समझे जाते हैं। वीरत्व, उत्साह, रौद्र इत्यादि पुरूष गुणों से युक्त होने के कारण उद्धत या 'तांडव नृत्य' पुरूषोचित और श्रृंगारात्मक तथा सुकुमार होने के कारण मधुर या लास्य नृत्य स्त्रियोचित होता है। ठाकुर जयदेव सिंह के कथनानुसार नृत्त में न तो गीत होता है और न अभिनय, केवल लय, ताल पर आधारित शारीरिक चेष्टाएँ, भंगिमाएँ और अंग संचालन मात्र होते हैं। जब यह गीत और अभिनय से संयुक्त कर दिया जाता है तब **नृत्य** कहलाता है।

नृत्य में प्रमुंखतया गीत, अभिनय और नृत्य प्राधान्य होने पर भी उसमें गीत के स्वर और लय पक्ष की सहायता के लिए वाद्यों की संगति भी अपेक्षित है इसीलिए नंदिकेश्वर ने नर्तकी को **'गीतवाद्यतालानुर्तिनी'** कहा हैं। अतएव नृत्य में गान, वादन और नर्तन इन तीनों का समन्वय होता है। भारतीय परंपरानुसार संगीत के अन्तर्गत गीत, वाद्य और नृत्य का समावेश माना गया है। गीत, संगीत का प्रधानांश है। इसी गीत शब्द में 'सम्' उपसर्ग के योग से संगीत शब्द बना हैः सम्–गीत = 'संगीत'। 'सम्' का अर्थ है 'सम्यक्' । संगीत शब्द में 'सम्' उपसर्ग, गीत के साथ वाद्य और नृत्य प्रयोग का द्योतक है। संगीत में गीत मानव की भावना को व्यक्त करता है, वादन गीत को उपरंजित करता है और नृत्य उस गीत के भाव को अभिनय द्वारा मूर्त कर देता है। अतः गीताभिनय सहित नृत्य करते समय संगीत के तीनों अंशों का समावेश हो जाता

है। ठुमरी का स्थान नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीतों की परंपरा में है, जिसका कथक नृत्य शैली से घनिष्ठ संबंध रहा है। उत्तर भारत में वेश्याओं, भाँड़ों तथा कथकों द्वारा ठुमरी गान के साथ कथक नृत्य शैली के माध्यम से उसके भावाभियक्ति की परंपरा रही है। यह प्रथा कथक नर्तक, नर्तकियों में अब भी दिखाई पड़ती है। कथक या कथिक शब्द जातिसूचक संज्ञा है जो कि गायक, वादक तथा नर्तकों की जाति विशेष के लिये व्यवहृत होता है। 'कथक' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के **'कथ'** धातु से हुई है जिसका अर्थ **'कथाकार'** अर्थात् **'कथन करने वाला'** होता है। **'कथन करे सो कत्थक कहिए'** यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है।

वर्तमान कथक नृत्य और ब्रज में प्रचलित रासलीला की अनेक बातों में समानता मिलती है। दोनो में ही श्रीमद्भागवतगीता के दशम् स्कंध में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला, नृत्य का प्रधान विषय है। कथकनृत्य को **'नटवरीनृत्य'** भी क़हा जाता है जो कि नटवर श्री कृष्ण की ओर इंगित करता है। रासलीला में जिस प्रकार के बोल और कवित्त प्रयोग किये जाते है वे आज भी कथक नृत्य में प्रचलित हैं। दोनों के पद संचालन, मंडलों और कृष्ण लीला संबंधी गतभावों में बहुत समानता है। कथक नृत्य और रास लीला में व्यवहृत तबले या पखावज के बोलों से युक्त 'परमूल' तथा तिहाईयों आदि के प्रयोग में भी समता दिखाई पड़ती हैं। अतः श्री कृष्ण दत्त वाजपेयी तथा श्री के०एस० जैन का मत है कि कथक नृत्य का उद्भव और विकास ब्रज में प्रचलित रास से हुआ।

वर्तमान युग में कथक नृत्य उत्तर भारत के शास्त्रीय नृत्य के रूप में विख्यात है और इसकी गणना भारत के प्रमुख नृत्यों में की जाती है। इसके वर्तमान स्वरूप का विकास लखनऊ और जयपुर की परंपरा से सम्बंद्ध है। लखनऊ घराने के मूल पुरुष, प्रवर्तक, इलाहाबाद ज़िले के हंडिया तहसील के अंतर्गत चुलबुला ग्राम निवासी श्री ईश्वरी प्रसाद मिश्र, भगवान श्री कृष्ण के परम भक्त थे। उनके द्वारा भागवत पुराण पर आधारित नृत्य रचना के विवरण से भी कथक नृत्य पर कृष्ण लीला और रास का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। यह बहुत संभव है कि पहले कथक नृत्य का कोई विशिष्ट मौलिक रूप भी रहा हो किन्तु परवर्ती युग में वैष्णव धर्म और कृष्ण की रासलीला के

प्रभाव के कारण कथक नृत्य, कृष्ण लीला प्रधान नृत्य हो गया। इसीलिए आगे चलकर इसे **'नटवरी'** या **'कथक नटवरी'** नृत्य भी कहा जाने लगा।

आज का कथक नृत्य श्रृंगार रस प्रधान सुकुमार श्रेणी का नृत्य है। ठुमरी गाने के साथ कथक नृत्य शैली में भावाभिनय प्रदर्शन की परंपरा रही है। अतः कथक नृत्य और ठुमरी गान दोनों एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहे हैं क्योंकि गीतों में बोलों का बहुत महत्व है। ठुमरी में बोल केवल महत्वपूर्ण वस्तु ही नहीं वरन् उसका जीवन व प्राण है। ठुमरियों के **'बोलबनाव'** और **'बोलबाँट'** पर आधारित भेद भी इसी तथ्य के परिचायक है। ठुमरी गाने के साथ उसके बोलों का 'अर्थभाव' अर्थात् **'पदार्थाभिनय'** कथक नृत्य की अन्यतम् विशेषता है। कथक नृत्य में 'पदार्थाभिनय' दो प्रकार से किया जाता है--खड़े होकर और बैठकर। दोनों प्रकारों में आंगिक और वाचिक अभिनय की प्रधानता रहती है। नृत्य के साथ ठुमरी के गान और भाव प्रदर्शन में श्रव्यत्व और दृष्टव्य दोनों का समन्वय रहने के कारण नर्तकों व नर्तकियों में पदार्थाभिनय नृत्य तो प्रत्यक्ष रहता ही है किंतु ठुमरी प्रस्तुतीकरण के समय गायकों और वादकों की भंगिमाओं और मुखमुद्रा में सहज ही यह अनुमान होता है कि उनके अर्न्तमन में ठुमरी के 'पदार्थाभिनयी नृत्य' की कल्पना रहती है जिसका प्रतिबिंब उनके विभिन्न स्वर सन्निवेशों के काकु समन्वित विविध प्रयोगों द्वारा 'ठुमरी' के बोलों की भावभिव्यक्ति के प्रयत्न में दिखाई पड़ता है। ठाकुर जयदेव सिंह का कथन है कि ठुमरी सम्राट भैया गनपतराव अक्सर उनसे कहा करते थे कि "ठुमरी के जिन भावों एक नर्तक जैसे हावभाव (आंगिकाभिनय) से अदा करता है, उन्हीं भावों को को हम वैसे ही गाने से अदा करते हैं, जो ज़्यादा मुश्किल काम है।"

ठुमरी स्त्रियोचित गीत भेद है। नृत्य के साथ इसका गान व भावप्रदर्शन पहले वेश्याओं द्वारा महफिलों में हुआ करता था। श्री कृष्णधन बनर्जी ने सन् 1885 में प्रकाशित अपने ग्रंथ **'गीतसूत्रसार'** में बताया है कि ठुमरी का गान नृत्य व्यवसायिनी स्त्रियों से संबंधित है। श्री सौरीन्द्र मोहन ठाकुर ने भी 1896 ई० में छपे अपने ग्रंथ **Universal History of India** में इसी तथ्य की पुष्टि की है। वेश्याओं को ठुमरी के

गेय पक्ष की शिक्षा प्रायः गायकों द्वारा दी जाती थी। इसमें स्वरों की सजावट, बोलों का लहजा या कहन तथा काकु प्रयोग की शिक्षा का भार इन्हीं गायकों पर था। ठुमरी के साथ अभिनय और नृत्य की शिक्षा वेश्याओं को कथक नर्तकों द्वारा दी जाती थी। नृत्त तथा आंगिकाभिनय के साथ ठुमरी के अर्थभावाभिव्यक्ति की शिक्षा इन कथक नृत्य के आचार्यों पर निर्भर थी। स्वर संगति के लिये सारंगीवादकों और लय, ताल के लिये तबला वादकों का सहयोग अपेक्षित था। इस प्रकार वैशिक संगीत में ठुमरी को बनाने, सजाने, सँवारने में गायक, वादक तथा नर्तक इन तीनों का ही योगदान था। इस प्रकार ठुमरी गान शैली की नृत्यकला के साथ परस्पर संबद्धता पहले से रही है।

मूलतः नृत्य से संबद्ध होने पर भी कालांतर में नृत्य से पृथक होकर गीत की विशेष विधा के रूप में ठुमरी का स्वतंत्र रीति से विकास हुआ और आगे चलकर उसकी कई गान शैलियाँ भी विकसित हुई। गान की विशिष्ट विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर बाद में ठुमरी को नृत्याभिनय के साथ गाना आवश्यक नहीं रहा। अतएव ठुमरी शब्द के अर्थ में नृत्य की संबद्धता भी धीरे–धीरे समाप्त प्रायः हो गई और उसके शब्दार्थ में परिवर्तन आ गया । ठुमरी प्रारंभ से ही एक माधुर्य गुण संपन्न श्रृंगारिक प्रकाश में आकर लोकप्रिय गीतभेद के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। कैप्टेन एन. आगस्टस विलर्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'ए ट्रीटिज ऑन दि म्यूज़िक ऑफ हिन्दुस्तान'** को सर्वप्रथम सन् 1834 में प्रकाशित किया, जिसमें ठुमरी को ब्रज भाषा की मिश्रित बोली का गीत बताया गया है। जिससे यह ज्ञात होता है कि वाजिद अली शाह के शैशव और सादिक अली खाँ के यौवन् काल में ही ठुमरी ऐसे गीत भेद के रूप में सर्वमान्य थी जिसमें अशुद्ध (मिश्रित) ब्रजभाषा का व्यवहार होता था। कैप्टन विलर्ड ने ठुमरी का वर्णन हिन्दुस्तानी संगीत के तत्कालीन गीतभेदों में क्रमशः ध्रुपद, ख्याल और टप्पा के बाद किया है अतः हिन्दुस्तानी संगीत के अन्तर्गत ख्याल और टप्पा के बाद अपना स्थान निर्धारित करने में यदि ठुमरी को न्यूनतम् अवधि भी लगी हो तो भी ठुमरी का अस्तित्व 19 वीं शताब्दी के प्रारंभ में अवश्य होना चाहिये।

महाराजा मान सिंह का राज्यकाल सन् 1803–1843 तक का था और महाराजा जवानसिंह का राज्याभिषेक 1828 ई० को हुआ था। महाराजा मानसिंह कृत ठुमरी का उदाहरण निम्नलिखित है–

राग कालिंगड़ो, 'ठुमरी', (आड़ो तितालो)

"अलबेले चम्पा चीर में।

असताई बिजली सी चमके पियारी जी ये,

पियरी घटा की भीर में।"

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कालिंगड़ा नामक राग व त्रिताल नामक ताल में आज भी ठुमरियाँ गाई जाती है। उक्त ठुमरी में निर्दिष्ट आड़ो तितालो से संभवतः 'अद्दा तिताला' का तात्पर्य रहा होगा, जो कि त्रिताल का ही एक भेद और ठुमरी गान में व्यवहृत होने वाला एक प्रसिद्ध ताल है।

महाराजा जवानसिंह कृत ठुमरी का एक उदाहरण इस प्रकार है–

"बटमारो तेरो मोहना री, मेरो गाँव लुटै माँ।

मोरे पास अच्छे-अच्छे साल दुसाले, कर भरदीने।।

तौ हूँ गैल नाहिं छुटै माँ।"

उपरोक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि उस समय तक ठुमरी के प्रति शासक वर्ग की रूचि बहुत बढ़ चुकी थी साथ ही ये भी सिद्ध होता है कि अवध नरेश वाजिद अली शाह के पहले से ही कुछ अन्य राजदरबारों में ठुमरी गान को प्रोत्साहन मिल रहा था। श्रीयुत् कृष्णधन बनर्जी ने उत्तर भारत के गीतों में ध्रुपद, ख्याल तथा टप्पा को प्रमुख मानते हुये अन्य गीतों को इन्हीं तीनों में वर्गीकृत कर दिया है। उन्होंने प्रबन्ध तथा होरी को 'ध्रुपद' के अन्तर्गत , त्रिवट, चतुरंग गुलनक्श, कौल इत्यादि गीत भेदों को 'ख्याल वर्ग' तथा ठुमरी, ग़ज़ल, खेमटा इत्यादि गीतों को 'टप्पा श्रेणी' के अन्तर्गत रखा है।

इस वर्गीकरण से ऐसा अनुमान होता है कि श्री बनर्जी ने प्राचीन भारतीय परंपरा से विकसित शास्त्राधारित गीतभेदों को ध्रुपद वर्ग में और मुस्लिम युग में आविर्भूत गीतभेदों को ख्याल वर्ग में रखा है। टप्पा वर्ग के गीतों में राग नियमों के प्रति शैथिल्य और लोकतत्वों की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि श्री बनर्जी के अर्न्तमन में ठुमरी का मूल लोकसंगीत में निहित होने की धारणा विद्यमान थी। ठुमरी की उत्पत्ति के विषय में श्री बनर्जी कहते हैं– "अवस्था देखने से ऐसा विश्वास होता है कि टप्पा को और भी संक्षिप्त करके गाने से ठुमरी गान का उद्‌भव हुआ है।" ऐसा प्रतीत होता है कि उनके इस 'विश्वास' के पीछे मुख्य कारण टप्पा और ठुमरी इन दोनों का विषय श्रृंगार, रचना संक्षिप्त, क्षुद्रप्रकृति तथा रागों और धुनों में समानता होना है। "अवस्था देखने से ऐसा विश्वास होता है" इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः कुछ ठुमरी रचनाओं और कुछ लोगों की गायकी पर टप्पा शैली का प्रभाव देखकर उन्होंने टप्पा के संक्षिप्तीकरण से ठुमरी के उद्‌भव की कल्पना की होगी।

किंतु वास्तव में उद्‌गम, रचना और शैली की दृष्टि से मूलतः टप्पा और ठुमरी नितांत भिन्न है। जिसके कारण किसी भी टप्पे को ठुमरी कहना अथवा टप्पा के संक्षिप्तीकरण से ठुमरी के उद्‌भव का अनुमान करना अस्वाभाविक और निराधार है। फ़कीरूल्लाह कृत **'रागदर्पण'** के दसवें अध्याय के अंतिम अंश में फ़कीरूल्लाह ने ग्यारह हिन्दुस्तानी रागों और धुनों की फ़ारसी नग़मों (धुनों) से तुलना करते हुये बताया है **"मजादात व नग़मा के दर आन बरवः मी ख़ानँद व बिल फ़ेल ज़बां ज़द रोज़गार बह बरवा व बाज़े ठुमरी गोयन्द"**–अर्थात् बरवः नामक नगमा को आजकल (उस समय) साधारण भाषा में बरवा कहा जाता है और उसी को कुछ लोग ठुमरी कहते हैं। इससे सिद्ध होता है, फकीरूल्लाह के समय अर्थात् ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में भी हिन्दुस्तानी संगीत के अन्तर्गत ठुमरी गाने का प्रचलन था।

'रागदर्पण' (17 वीं शताब्दी) का ठुमरी संबंधी उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक सबसे पुराना है। यद्यपि इसके पूर्व ठुमरी का उल्लेख अभी तक नहीं मिला है, परन्तु **'आइने अकबरी'** में श्री राग की रागिनियों में 'बिहारी' का उल्लेख है। इसी प्रकार ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि सूरदास कृत गेयपदों के सन्दर्भ में **'जंगला'** का उल्लेख मिलता है। बिहारी और जंगला यह दोनों ठुमरी की प्रसिद्ध धुनें है। अतएव इनके आधार पर कहा जा सकता है कि ठुमरी का अस्तित्व तो मुगल काल में था ही, अनुमानतः इसे गाने की परंपरा लोक में उससे पहले से चली आ रही है।

17 वीं, 18 वीं और 19वीं शताब्दी की ठुमरी का सिंहावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि अधिकतर बरवा, पहाड़ी, काफी, जंगला, मुल्तानी, भैरवी, सिन्धु काफी, सिंधु मुल्तानी, मुल्तानी काफी, मुल्तानीबरवा, सावनी बरवा, देस, पीलू, गारा, बिहारी, कालिंगड़ा, झिंझोटी, परज, धानी, सिंधु, लूम, बिहारा इत्यादि रागों में ठुमरी गाई जाती रही है। इनमें से अधिकांश रागों का विकास लोकधुनों से हुआ है जिनमें से **'बरवा'** तथा **'पहाड़ी'** को 17वीं शताब्दी में ठुमरी के रूप में गाने का खूब रिवाज़ था। आज भी इनमें अधिकतर ठुमरियाँ ही गाई जाती है। इसी प्रकार 17 वीं शताब्दी से लेकर वर्तमान ठुमरी की रचनाओं तक में ब्रजभाषा का आधिपत्य दृष्टिगोचर होता है। इससे पता चलता है कि समय–समय पर जनरूचि परिवर्तन के कारण यद्यपि वर्तमान ठुमरी का स्वरूप स्वभावतः तत्कालीन ठुमरी से अनेक अंशें में भिन्न हो चुका है तथापि लोकधुन और लोकभाषा का प्रयोग ये दो मूल तत्व ठुमरी के अन्तर्गत अब भी अक्षुण्ण रूप से चले आ रहे है। इससे सिद्ध होता है कि ठुमरी मूलतः लोकसंगीत से सम्बद्ध विधा है।

संगीत का प्रकृत लोक रूप परिष्कृत होकर **'शास्त्रीय'** रूप में परिणित हो जाने की यह प्रक्रिया समय–समय पर होती रही है। इसीलिये परवर्ती युग में ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा आदि गान भेद मूलतः लोकसंगीत के अंग होने पर भी परिमार्जन से कालांतर में क्रमशः 'शास्त्रीय' स्वरूप प्राप्त करते गये। किंतु ठुमरी की परिस्थिति इसमें सर्वथा भिन्न रही। समय–समय पर परिष्कृत होते रहने पर भी अपने उन्मुक्त स्वभाव के

कारण यह शास्त्रीय परिधि में अधिक सीमित न हो सकी। अतएव शास्त्र की नियमबद्धता पूर्णतया न आ पाई। समय–समय पर संगीत के लोक और शास्त्रीय दोनों रूपों का उसमें समन्वय होता रहा और दोनों से ही उसका संबंध बना रहा। इसलिये ठुमरी को शास्त्रीय और लोकसंगीत के बीच की कड़ी मानते हुए उसे प्रायः **'उपशास्त्रीय'** या **अर्धशास्त्रीय** (Light classical) गीतभेद के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। इस प्रकार रचना और शैलीगत विशेषताओं के अनुसार ठुमरी का स्थान देशी संगीत में लोकतत्वों से संबद्ध ललित, सुकुमार तथा भावप्रधान गीतभेदों की श्रेणी में आता है। इसलिये उत्तर भारत में बहुत समय तक वेश्याओं और संगीत व्यवसायी जाति के लोगों द्वारा ठुमरी और ठुमरी शैली के होली, दादरा आदि गीतों का गान और अभिनय सहित प्रदर्शन होता रहा है।

चर्चरी और रास से ठुमरी का उद्‌गम :

चर्चरी का गान और नृत्य मूलतः रास से संबद्ध है। चौदहवीं शताब्दी में आन्ध्र के महाराजा वेम ने चर्चरी को रासक का एक भेद बताया हैं। उनका कथन है :–

''रासकस्य'' प्रभेदास्तु रासक नाट्य रासक चर्चरी त्रिष्यः प्रोक्ताः''

इसी प्रकार तेरहवीं शताब्दी (सन् 1238) में उपदेश रसायन रास के वृतिकार जिनपालोपाध्याय के अनुसार चर्चरी और रासक एक ही है:

"चर्चरी - रासकप्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल।"

विभिन्न तथ्यों से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में चर्चरी नाट्य रासक एक भेद था, किन्तु कालक्रम से उसके स्वरूप में विकास और परिवर्तन होने के साथ–साथ समाज में उसका इतना अधिक प्रचलन हो गया कि चौदहवीं शताब्दी के पूर्व ही उसका अस्तित्व स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। फलतः चर्चरी को नाट्य रासक के समानान्तर मानते हुए उसे रासक के एक स्वतंत्र प्रभेद के रूप में स्वीकार कर लिया

गया। प्राप्त लक्षणों के आधार पर चर्चरी और ठुमरी के तुलनात्मक विवेचन से निकले निष्कर्षों का सारांश इस प्रकार है–

(1) संस्कृत भाषा के चलने के अर्थ वाले **"चर"** धातु से चर्चरी शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। इसलिए रंगमंच पर पात्रों के चलने की गति, लय के अर्थ में भी चर्चरी शब्द व्यवहृत हुआ है। अनुमानतः पैरों की गति–लय के कारण ही चर्चरी शब्द का अर्थ विस्तार नृत्य विशेष के रूप में हुआ और उस नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीतों को भी बाद में चर्चरी कहा जाने लगा।

"ठुमरी" शब्द की व्युत्पत्ति के मूल में पैरों की चाल को अभिव्यक्त करने वाला 'ठुम' या 'ठुमक' शब्द है, जिसका अर्थ विस्तार नृत्य के रूप में हुआ। अतः ठुमरी का अर्थ विकास भी 'नृत्य के साथ गाये जाने वाला गीत' हुआ। इस प्रकार चर्चरी और ठुमरी दोनों शब्दों के मूल में 'पैरों की चाल' या 'गीत का अर्थ' निहित है और दोनों का अर्थ विस्तार 'नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीत' के रूप में हुआ अतएव व्युत्पत्तिगम्य और रूढ़ शब्दार्थ की दृष्टि में भी चर्चरी और ठुमरी में बहुत समानता है।

(2) संस्कृत में चर्चरी शब्द विशिष्ट नृत्य, गीत, छंद, लय और ताल आदि के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार ठुमरी शब्द भी गीत और ताल विशेष के अर्थ में व्यवहृत होता है।

(3) चर्चरी देशी संगीत का भेद था और ठुमरी भी देशी संगीत का ही एक भेद है।

(4) चर्चरी रास संगीत की परम्परा का गीत भेद था। लक्षणों के आधार पर ठुमरी भी रास परम्परा की गीत विधा सिद्ध होती है।

(5) चर्चरी गान और नृत्य प्रदर्शन में स्त्रियों की प्रधानता थी। ठुमरी का गान और नृत्य भी मूलतः स्त्री प्रधान माना जाता है।

(6) चर्चरी गान लोक शैली पर आधारित था। ठुमरी गान पर भी लोक शैली का प्रभाव दिखायी देता है।

(7) चर्चरी, एक ऐसी गान विधा थी। जिसके अन्तर्गत विभिन्न तालों में गाये जाने वाले विभिन्न गीतों का समावेश था। ठुमरी विधा में भी ठुमरी, चैती, दादरा आदि विभिन्न प्रकार के गीतों का समावेश माना जाता है जो कि विभिन्न तालों में गाये जाते हैं।

(8) चर्चरी गीतों में सोलह मात्रिक छंद और ताल का प्रयोग भी होता था। ठुमरी और उसके भेद होली में चाँचर (जत), त्रिताल, सितारखानी, पंजाबी आदि सोलह मात्राओं वाले तालों के प्रयोग की अधिकता है।

(9) चर्चरी नृत्य के साथ व्यवहृत ते, ति, गि, ध, शुष्क अक्षरों से ठुमरी के साथ प्रयुक्त होने वाले त्रिताल, सितारखानी , पंजाबी, चाँचर आदि तालों और लग्गी के ठेकों की समता तथा क्रमिक विकास का आभास मिलता है।

इन निष्कर्षों के अनुसार चर्चरी और ठुमरी के लक्षणों में ऐसी अनेक समानताएँ दृष्टिगत होती हैं जिनसे यह विदित होता है कि वर्तमान ठुमरी की भाँति ही चर्चरी भी नृत्य और भावाभिनय के साथ गाये जाने वाली, प्राचीन और मध्यकाल की ऐसी श्रृंगार रस पूर्ण गीत विधा थी जो कि रास संगीत से उद्भूत होकर नाट्य रासक के माध्यम से विकसित होकर लोक में प्रचलित हुई।

वर्तमान समय में चाँचर (होली), ठुमरी और दादरा आदि गीतों का अन्तर्भाव ठुमरी शैली में होता है। तुलनात्मक दृष्टि से **संगीतरत्नाकर** में वर्णित चच्चरी प्रबन्ध और वर्तमान ठुमरी शैली के इन गीतों के अधिकांश लक्षणों में बहुत समानता दिखाई पड़ता है। इतना ही नहीं **रत्नावली** तथा **कर्पूरमंजरी** जैसे संस्कृत नाटकों में उल्लिखित चर्चरी गान के साथ नर्तकियों द्वारा किया जाने वाले नृत्याभिनय की परंपरा भी आधुनिक युग में नृत्यांगनाओं द्वारा चाँचर, ठुमरी और दादरा आदि ठुमरी शैली के गीतों के साथ किये जाने वाले नृत्य और भावप्रदर्शन में दिखाई पड़ती है। अतएव इनके आधार पर ठुमरी गान, चर्चरी गीतों की विकास–श्रृंखला में आता है। यथा–

उत्तर भारत में 'होली' या 'होरी' नामक गीतों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह गीत फाल्गुन मास में होने वाले होली के त्यौहार से संबद्ध है। हिन्दुस्तानी संगीत में इस नाम से दो गीत विधाएँ प्रचलित है– पहली ध्रुपद शैली की और दूसरी ठुमरी शैली की। इनमें से पहली धमार ताल में और दूसरी प्रायः चाँचर (दीपचंदी) ताल में गाई जाती है। चाँचर की होली ठुमरी शैली की विशेषताओं और उन्मुक्तता से परिपूर्ण है। ठुमरी की ही भाँति उसमें भी राग नियमों की शिथिलता बरती जाती है। चाँचर लोकसंगीत की एक ललित, सुकुमार और स्त्रियोचित गीत विधा है। साधारणतया व्यवहार में धमार की होरी को **'धमार'** और चाँचर की होली को प्रायः होली कहने का प्रचलन है। उत्तर भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में होली, बसंत और फाग आदि गीतों को बहुधा **'चाँचर'** या **'चाँचरि'** कहने का रिवाज है। इन गीतों में प्रयुक्त होने वाले एक विशेष ताल का नाम भी चाँचर या चाँचरि है। विलंबित लय की ठुमरियों में भी प्रायः चाँचर ताल का ही व्यवहार होता है। इसीलिए ग्रामीण क्षेत्रों में ठुमरी को भी प्रायः **'चाँचर'** के नाम से संबोधित कर दिया जाता है।

उदाहरणार्थ होली (चाँचर) और ठुमरी की तीन पुरानी, प्रचलित व प्रसिद्ध बन्दिशें प्रस्तुत हैं, जिनके काव्य में वर्ण्य विषय की भिन्नता होते हुए भी उनकी सांगीतिक रचना प्रायः एक समान है–

होली, राग खमाज **(चाँचर-दीपचंदी, 14 मात्रा)**

स्थायी : *होरी खेरत मोसे नई रे नई अब।*
का भयो ननदी अनोखे पिया सों।।

अंतरा : *बरजोरी कर मोरी बैयाँ गहत है।*
अपनी कहत और कछु न सुनत है।
आज लाज मोरी गई रे गई।।

स्थाई

स	—	—	ग	—	—	ग	म	म	—	ग	म	प	ध
हो	ऽ	ऽ	री	ऽ	ऽ	खे	ल	त	ऽ	ऽ	ऽ	मो	से
X			2				0			3			
नि	नि	—	सां	—	—	रें	सां	(सां)	—	नि	—	ध	ध^प
न	ई	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽन	ई	ऽ	ऽ	अ	ऽ	ब	ऽ
X			2				0			3			
नि	—	—	सां	—	सां	—	ध^सां	सां^ध	—	नि	—	ध	प
का	ऽ	ऽ	भ	ऽ	यो	ऽ	न	न	ऽ	ढी	ऽ	ऽ	अ
X			2				0			3			
ग	—	म	प	—	—	ध	ग^ध	—	म	ग	—	—	—
नो	ऽ	ऽ	खे	ऽ	ऽ	पि	या	ऽ	ऽ	सों	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			

अंतरा

म	ग	म	(म)नि̲	ध	–	नि	सां	सां	नि	सां	–	सां	–
ब	र	ऽ	जो	ऽ	ऽ	री	क	र	ऽ	मो	ऽ	री	ऽ
X			2				0			3			

नि	नि	–	सां	–	–	सां	सां	ऩि	सां	नि̲	–	ध	–
ब	हि	ऽ	यां	ऽ	ऽ	ग	ह	त	ऽ	है	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			

म	ग	म	प	–	–	ध	नि	नि	–	सां	–	सां	–
अ	प	ऽ	नी	ऽ	ऽ	क	ह	त	ऽ	औ	ऽ	र	ऽ
X			2				0			3			

नि	नि	–	सां	–	–	सां	नि	सां	–	नि̲	–	ध	–
क	छु	ऽ	ना	ऽ	ऽ	सु	न	त	ऽ	हैं	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			

नि	–	–	सां	–	–	सां	ध	(ध)सां	–	नि̲	–	ध	प
आ	ऽ	ऽ	ज	ऽ	ऽ	ली	ऽ	ज	ऽ	मो	ऽ	री	ऽ
X			2				0			3			

ग	म	–	प	–	–	ध	ग	–	म	ग	–	–	–
ग	ई	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ग	ई	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			

निम्नलिखित ठुमरी भी उक्त स्वरलिपियों में ही निबद्ध है–

ठुमरी-राग खमाज (चाँचर, दीपचन्दी, 14 मात्रा)

स्थाई - *जावो कदर नाहिं बोलो हम से। हम से बहुतेरे तुमरे दम से।।*

अन्तरा : *झूठी लगावत मोहे नाहीं भावत।*

हो हरजाई तुम तो जनम से।।

स्थाई

सा	–	–	ग	–	–	ग	म	म	–	ग	म	प	ध
जा	ऽ	ऽ	वो	ऽ	ऽ	क	द	र	ऽ	ऽ	ऽ	ना	हिं
X			2				0			3			
नी	–	–	सां	–	–	–रें	सां	(सां)	–	नि	–	ध	ध$^{\text{प}}$
बो	ऽ	ऽ	लो	ऽ	ऽ	ऽऽ	ह	म	–	से	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			
नि	–	–	सां	–	सां	सां	ध$^{\text{सां}}$	सां$^{\text{ध}}$	–	नि	–	ध	–
हम	ऽ	ऽ	से	ऽ	ब	हु	ते	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			
$^{\text{प}}$ग	म	–	प	–	–	ध	ग	म	–	ग	–	–	–
तु	म	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ	द	म	ऽ	से	ऽ	ऽ	ऽ
x			2				0			3			

अंतरा

म	ग	म	नि	ध	–	नि	सां	–	नि	सां	–	सां	–
झू	ऽ	ऽ	ठी	ऽ	ऽ	ल	गा	ऽ	ऽ	व	ऽ	त	ऽ
x			2				0			3			
नि	नि	–	सां	–	सां	–	सां	नि	सां	नि	–	ध	–
मो	हे	ऽ	ना	ऽ	हीं	ऽ	भा	ऽ	ऽ	व	ऽ	त	ऽ
x			2				0			3			
नि	–	–	सां	–	सां	–	ध[सां]	सां[ध]	–	नि	–	ध	–
हो	ऽ	ऽ	ह	ऽ	र	ऽ	जा	ऽ	ऽ	ई	ऽ	ऽ	ऽ
x			2				0			3			
[प]ग	म	–	प	–	–	ध	ग	म	–	ग	–	–	–
तु	म	ऽ	तो	ऽ	ऽ	ज	न	म	ऽ	से	ऽ	ऽ	ऽ
x			2				0			3			

इसी प्रकार निम्नलिखित ठुमरी (चाँचर) भी इन्हीं स्वरलिपियों में निबद्ध है—

ठुमरी- राग खमाज (चाँचर, दीपचन्दी, 14 मात्रा)

स्थाई - *परदेसवा जिन जइयो रे, पानन छाई पनवरिया भँवर।।*

अन्तरा : *काहे की तेरी नाव नवरिया। काहे का तेरा बासा,*

तेरा राखनहार बताये भँवर।।

स्थाई

^{ग}सा	सा	—	ग	—	—	ग	म	—	—	ग	म	प	ध
प	र	ऽ	दे	ऽ	ऽ	स	वा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	जि	न
x			2				0			3			
नि	—	—	सां	—	—	-रें	सां	(सां)	—	नि̲	—	ध	ध^{प}
ज	ऽ	ऽ	इ	ऽ	ऽ	ऽऽ	यो	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
x			2				0			3			
नि	—	—	सां	—	सां	—	ध$^{सां}$	सा^{ध}	—	नि̲	—	ध	—
पा	ऽ	ऽ	न	ऽ	न	ऽ	छा	ऽ	ऽ	ई	ऽ	प	न
x			2				0			3			
ग	म	—	प	—	—	ध	ग	म	—	ग	—	—	ग
व	रि	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	भँ	ऽ	व	ऽ	ऽ	र
x			2				0			3			

अंतरा

म	ग	म	नि	ध	–	नि	सां	–	नि	सां	–	सां	–
का	ऽ	ऽ	हे	ऽ	ऽ	ऽ	की	ऽ	ऽ	ते	ऽ	री	ऽ
x			2				0			3			
नि	–	–	सां	–	सां	–	सां	नि	सां	नि	–	ध	–
ना	ऽ	ऽ	व	ऽ	न	ऽ	व	रि	ऽ	या	ऽ	ऽ	ऽ
x			2				0			3			
म	ग	म	प	–	–	ध	नि	–	–	सां	–	सां	–
का	ऽ	ऽ	हे	ऽ	ऽ	ऽ	का	ऽ	ऽ	ते	ऽ	रा	ऽ
x			2				0			3			
नि	–	–	सां	–	–	–	नि	सां	–	नि	–	ध	ध$^{\text{प}}$
बा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	सा	ऽ	ऽ	ते	ऽ	रा	ऽ
x			2				0			3			
नि	–	–	सां	–	सां	–	$^{\text{सां}}$ध	सां$^{\text{ध}}$	–	नि	–	ध	ध$^{\text{प}}$
ऽ	ऽ	ऽ	ख	ऽ	न	ऽ	हा	ऽ	ऽ	र	ऽ	ऽ	ब
x			2				0			3			
ग	–	म	प	–	–	ध	ग	म	–	ग	–	–	ग
ता	ऽ	ऽ	ये	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	भँ	ऽ	व	ऽ	ऽ	र
x			2				0			3			

यद्यपि उपरोक्त तीनों बन्दिशों में बोलों के उच्चारण के अनुसार स्वरलिपि में परस्पर कहीं–कहीं यत्किंचित परिवर्तन दिखाई पड़ता है तथापि तीनों की मूल सांगीतिक रचना बिल्कुल एक ही है। अतएव इन उदाहरणों से स्पष्ट है होता है कि होली और ठुमरी में मुख्य भेद दोनों के काव्य वर्णित विषय ही है अन्यथा स्वर रचना और गानशैली के अनुसार दोनों एक हैं। इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि बसंत और होली वर्णन से युक्त चर्चरी (चाँचर) गीत केवल बसंत–ऋतु, फाल्गुन मास तथा होली पर्व तक ही सीमित रहकर **'होरी'** या **'होली'** नाम से अभिहित होते रहे और ठुमरी का उद्‌भव ऐसे चर्चरी नृत्य गीतों से हुआ, जिनका वर्ण्य विषय केवल बसंत और होली तक ही सीमित न रहा। अतएव इन गीतों का नृत्याभिनय सहित गान और प्रदर्शन, हर्ष व उल्लास के अन्य अवसरों पर भी होता रहा।

रास :

मूलतः रास, रासक, रासा और रासो–से सभी एकार्थवाची शब्द है। 'रास' शब्द के मूल में रस पोषक तत्व है। इसीलिए अधिकांश विद्वानों ने **'विष्णुयामलं'** में दी गई रास की परिभाषा **'रसानां समूहों रास'** को उपयुक्त मानते हुये स्वीकार किया है। रास की परंपरा इस देश में बड़ी प्राचीन है। इसका प्रादुर्भाव आज से कई सहस्त्र वर्ष पूर्व एक मंडलाकार लोकनृत्य के रूप में हुआ था। हरिवंश पुराण के विष्णुपर्व में छालिक्यक्रीड़ा–वर्णन नामक 89 वें अध्याय के अन्तर्गत रास और **'हल्लीसक'** दोनों का उल्लेख मंडली नृत्य के रूप में मिलता है। इससे स्पष्ट है कि रासनृत्य, हल्लीसक का ही एक भेद था। रास मूलतः एक लोकनृत्य था जिसको सर्वप्रथम भगवान कृष्ण द्वारा शरदपूर्णिमा की रात्रि में ब्रज की गोपियों सहित प्रयोग किये जाने का उल्लेख पुराणों में मिलता है। आगे चलकर ब्रज के इस रास का सौराष्ट्र, उड़ीसा, मिथिला, बंगाल तथा असम तक व्यापक प्रचार हुआ जिसका प्रभाव आज भी इन प्रदेशों की नृत्य शैली के रासनृत्य में परिलक्षित होता है। यही नहीं परवर्ती संगीत, काव्य, नाट्य , चित्र और

मूर्ति इत्यादि ललित कलाएँ भी रास के विषयों से अनुप्राणित हुई और रास में प्रयुक्त गीत, वाद्य, नृत्य तथा अभिनय आदि अंशों का विकास कालांतर में संगीत, काव्य, नाट्य इत्यादि की विविध श्रव्य और दृश्य विधाओं के रूप में हुआ। जिसका प्रमाण संस्कृत नाटकों के रास, चर्चरी आदि नृत्यों, जैन और राजपूतों के अपभ्रंश तथा डिंगल साहित्य में रास, रासक, रासा, रासो, चर्चरी इत्यादि काव्यों और उनके छंदों तथा भरत के **नाट्यशास्त्र** में वर्णित रासक उपरूपक में मिलता है। इस प्रकार रास संगीत संबंधी प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं–

(1) रास, देशी संगीत का एक भेद था।

(2) रास संगीत का विकास रासनृत्य के आधार पर हुआ। अतः राससंगीत मूलतः नृत्य के साथ गाए जाने वाले श्रृंगार रसात्मक गीत थे।

(3) रासगीतों की मूलधारा लोकसंगीत से निकली है।

(4) रासगीतों में सदा ही जनभाषा का व्यवहार होता आया है।

(5) रासगीतों में लोकसंगीत के प्रचलित धुनों और राग–रागिनियों का व्यवहार होता आया है।

(6) रासगीतों और नृत्यों के साथ **संगीतरत्नाकर** में उल्लिखित आदिताल के व्यवहार की प्रधानता रही है और इसी कारण लोक में उसे रासताल कहा जाने लगा। इसका स्वरूप वर्तमान चतुर्मात्रिक कहरवा ताल के सदृश्य था।

(7) रासगीतों के गान के साथ भावाभिनय भी होता था।

(8) रासगीतों के गान और नृत्याभिनय–प्रदर्शन में नर्तकियों का प्राधान्य था।

रासगीतों की ये सभी विशेषताएँ 'ठुमरी' गान में भी पर्याप्त अंशों में दिखाई पड़ती है। अतएव इनके आधार पर यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि ठुमरी गान की परंपरा मूलतः रासगीतों की धारा से आई है। लखनऊ के अंतिम शासक वाजिद अली शाह द्वारा 'परीखाना' के सहयोग से संगीतप्रधान 'नृत्यनाट्य' **'रहस'** (रास) में ठुमरियों का प्रयोग इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। वाजिद अली शाह को 'रहस' (रास) की

प्रेरणा ब्रज के रासधारियों से मिली। इस संबंध में अब्दुल हलीम **'शरर'** अपने ग्रंथ **'गुज़श्ता लखनऊ'** (पुराना लखनऊ) में कहते हैं "रहस्य खास मथुरा और ब्रज की कला है। वहीं रहसधारियों ने आ–आकर लखनऊ को इसका शौक दिलाया।"

श्रृंगार की भावना मनुष्य मात्र के लिये अत्यंत स्वाभाविक है। आदिकाल से ही मानव जीवन में श्रृंगार अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। इसलिये प्रायः श्रृंगार रस को आदिरस या रसराज भी कहा जाता है। आज भी भारत के विभिन्न प्रादेशिक व क्षेत्रीय संगीत में श्रृंगारात्मक नृत्य व गीत विधाओं का प्रचलन मिलता है, जिनका विकास उन प्रदेशों के निवासियों की रूचि, भाषा, स्वभाव व परंपरागत संस्कारों के अनुसार हुआ है। उनमें से कई गान विधाएँ ऐसी है जिनका ठुमरी से बहुत कुछ साम्य है जैसे चैती, कजरी, पूरबी, झूमरा (पूर्वोत्तर प्रदेश व बिहार), लेद, नाटी (हिमाचल, काँगड़ा), धमाल व माँड (राजस्थान), हीर, माहिया, टप्पा (पंजाब), लावणी, जावली, पदम्, झावरा, काफी, सिंधीकाफी, मुल्तानी काफी, धमाली व धमाइल इत्यादि। इन सभी गीत विधाओं की मूल प्रकृति ठुमरी से इतनी मिलती–जुलती है कि इनमें से कुछ विधाओं और इनकी धुन व गानशैली के साथ तो ठुमरी का परस्पर आदान–प्रदान भी हुआ है। जैसे पूर्वोत्तर प्रदेश बिहार की चैती, कजरी, पूरबी, बुंदेलखंड की लेद, पंजाब के हीर, माहिया, टप्पा आदि। इनमें से कई लोकगीत अपने विशिष्ट नामों से प्रसिद्व होने पर भी उनकी गान–शैली ठुमरी से इतनी मिलती जुलती है कि व्यापक दृष्टि से उनका समावेश ठुमरी शैली के गीतों में होने लगा है जैसे चैती, कजरी व पूरबी को पूरब अंग की ठुमरी और सिंधीकाफी व मुलतानीकाफी को पंजाब अंग की ठुमरी के अन्तर्गत माना जाने लगा है।

लोक कलाओं की परंपरा जनसाधारण में आदिम युग से चली आ रही है। इनके परिमार्जन अर्थात् शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण करने की प्रक्रिया धीरे–धीरे, क्रमानुसार और नियमपूर्वक संपन्न होती है। अतः इनके शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण करने पर इनमें क्रम और नियमबद्धता परिलक्षित होने लगती है। शिष्ट जन सम्मत इन शास्त्रीय विधाओं के संबंध

में समय—समय पर लिखित साहित्य का निर्माण भी होता रहता है। अतएव इनके उद्गम, विकास का क्रमबद्ध इतिहास अधिकांशतः मिल जाता है किंतु परिमार्जनावस्था के पूर्व, लोक परंपरा में शताब्दियों से चलते आए कलाविधाओं के उन्मुक्त प्रकृत रूपों के इतिहास और उद्गम को लिखित प्रमाणों के अभाव में खोज निकालना अत्यंत कठिन होता है। ठुमरी का ऐतिहासिक, तथ्यपूर्ण व क्रमबद्ध उद्गम खोजने में भी यही कठिनाई है। यद्यपि देशी संगीत के अन्तर्गत ठुमरी गाने की परंपरा लोक में पर्याप्त समय से चली आ रही है परंतु फकीरूल्लाह कृत **'रागदर्पण'** 17वीं शताब्दी के पूर्व ठुमरी संबंधी कोई लिखित उल्लेख न मिलने के कारण इसके अज्ञात उद्गम को ढूँढना दुष्कर प्रतीत होता है।

ठुमरी का इतिहास, विकास, उद्भव :

किसी भी कला की, किसी भी विधा की स्थिति, उपलब्धि, जनसामान्य में इसके प्रचार, प्रसार, लोकप्रियता व प्रतिष्ठापना आदि की व्यापक प्रगति को समझने के लिए उसका अतीत् अर्थात् इतिहास जानना अत्यंतावश्यक है। इस दृष्टि से ठुमरी शैली के इतिहास का अध्ययन तथा पर्यवेक्षण अत्यंत आवश्यक है।

ठुमरी शैली के विकास, उद्भव की पृष्ठभूमि में उत्तर प्रदेश का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। उत्तर प्रदेश की तत्कालिक जनरूचि व राजनैतिक परिस्थितियों से पूर्णतया प्रभावित इस शैली के चाहे भाषा, काव्य, वर्ण्य विषय की बात हो अथवा उद्गम, विकास, प्रचार—प्रसार स्थल की, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उत्तर प्रदेश अग्रणी रहा है। इस संदर्भ में विशेष रूप से यहाँ के नज़ाकत व शफ़ाकत भरे शहर लखनऊ की महत्वपूर्ण भूमिका को भुलाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार छन्द, प्रबन्ध, जातिगान आदि क्लिष्ट गायकी से ऊबे जनमानस ने क्रमशः ध्रुपद, धमार गायन शैली अपनाया, ध्रुपद—धमार की गायकी से ख्याल गायकी की ओर आकृष्ट हुए और एक समय ऐसा आया कि उस युग के नवाबों की रंगीनमिजाज़ी, नफ़ासत, मौसिकी—ए—मुहब्बत,

नर्तकियों की एक–एक अदा पर शाही खज़ाना लुटा देने वाले नवाबों की पीढ़ी दर पीढ़ी की विश्व प्रसिद्ध प्राप्त, दिलो अज़ीज़, नाज़ुक मिज़ाज़ शहर लखनऊ को ख्याल गायकी से भी कमसिन, नाज़ुक, रसीली, पुरअसर गायकी की बेताबी से प्रतीक्षा और विशेष चाह थी। ठुमरी के सांचे में ढली, रसभीनी गायकी ने अपनी रंगीली से सभी को मदहोश करते हुये नवाबों की महफ़िल की शमा बनने का विशिष्ट गौरव प्राप्त किया, जिस पर बड़े–बड़े रसिक नवाब, राजे–महाराजे, अमीर–उमराव, संगीत रसिक रईस सभी दिलोजान से संगीत परवाना बन जाने को आतुर थे। ठुमरी की इस नवीन गायकी ने सभी को पूर्ण संतुष्टि प्रदान की और सबकी चहेती बनकर सबके दिलों –दिमाग़ पर छा गई। लखनऊ की शाइस्ता गुफ़्तगू की तरह और लखनऊ की नज़ाकत, लखनऊ की शिष्टाचार अथवा उसकी तकल्लुफ़ की तरह लखनऊ की ठुमरी भी सारे संसार में मशहूर हो गई। उत्तर प्रदेश की धरती पर ठुमरी का रूप सँवारा गया, उसे तराशकर निखारा गया। इसके विकास क्रम में यहाँ की भूमिका कुछ इस प्रकार रही है।

ठुमरी मूलतः कैशिकी वृत्ति के आश्रय से नृत्य व भावाभिनय के साथ गाई जाने वाली स्त्रियोचित, सुकुमार, मधुर व ललित गानविधा है। शास्त्रों के अनुसार श्रृंगार रसात्मक, स्त्रीप्रधान, नृत्यगीत को कैशिकी वृत्ति के अन्तर्गत माना गया है। भरत के **नाट्यशास्त्र** के अनुसार ब्रह्म ने अप्सराओं की सृष्टि ही श्रृंगारात्मक कैशिकी वृत्ति के प्रयोग के लिये की। इससे ज्ञात होता है कि कैशिकी मूलतः स्त्रियोचित वृत्ति है और अत्यंत प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज में नृत्य गान की ललित विधा का प्रदर्शन मुख्यतः स्त्रियों द्वारा होता रहा है। 19 वीं शताब्दी के राजा सौरीन्द्र मोहन ठाकुर, श्री कृष्णधन बनर्जी और 20 वीं शताब्दी के पं० सुदर्शनाचार्य एवं पं०विष्णु नारायण भातखंडे प्रभृति ग्रंथकारों ने भी ठुमरी को मूलतः वेश्याओं से संबद्ध बताया है।

उत्तर भारत में ध्रुपद तथा ख्याल आदि गान विधाओं के गायकों, विभिन्न वादकों एवं कथक नर्तकों के विभिन्न घरानों का इतिहास तो मिलता है परन्तु ठुमरी गायिकाओं और नर्तकियों के विभिन्न घरानों का इतिहास नहीं मिलता। इसका कारण है कि केवल

कुछ जनजातियों को छोड़कर शेष भारतीय समाज मुख्य रूप से पितृसत्तात्मक है। अतएव भारतीय संगीत के विभिन्न घरानों की प्रतिष्ठापना भी वंशगत गायकों, वादकों, नर्तकों के आधार पर हुई। संगीत के वैशिक घराने मातृसत्तात्मक अर्थात् स्त्रीप्रधान होने के कारण समाज में प्रतिष्ठित न हो सके। अतः मूलतः वेश्याओं द्वारा गाये जाने के कारण आज ठुमरी के घरानों का इतिहास नहीं मिलता। किंतु संगीत क्षेत्र में वैशिक घरानों के प्रतिष्ठित होने पर भी गणिकाओं या वेश्याओं को गान और नृत्य की शिक्षा उत्तम घरानेदार आचार्यों द्वारा दी जाती रही है।

17वीं शताब्दी में लिखित फ़कीरूल्लाह कृत **'राग दर्पण'** एवं **'तोहफ़तुलहिंद'** ग्रंथों से पता चलता है कि उस समय भी ठुमरी गाने का प्रचलन था। जैसा कि पूर्व में उल्लिखित है। आगे चलकर 19वीं शताब्दी में कैप्टेन विलर्ड कृत **''ए ट्रीटिज ऑन दि म्यूज़िक ऑफ हिन्दुस्तान''** ग्रंथ से ठुमरियों की रचनाएँ ब्रजभाषा में होने की पुष्टि होती है। इससे ज्ञात होता है कि प्रारंभ में ठुमरियाँ ब्रज भाषा में गाई जाती थी और कालांतर में उत्तर भारत के मध्यदेश में राजस्थान से लेकर उत्तर प्रदेश तक उनका व्यापक प्रचार व़ प्रसार हुआ। भारत की सांस्कृतिक गतिविधियों में मध्य देश के केन्द्र में स्थित ब्रज क्षेत्र का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कथक नृत्य उत्तर भारत की एक सुसंस्कृत और शास्त्रीय नृत्यविधा है। ठुमरी और कथक नृत्य, दोनों के विषय ब्रज के कृष्णचरित्र, रास और मध्यकालीन रीति से अनुप्राणित है। दोनों का विकास और प्रसार क्षेत्र भी मुख्यतः मध्यदेश रहा है। इस प्रकार ठुमरी और कथक नृत्य में परस्पर समन्वय होना स्वाभाविक ही था। परिणामतः कथक नृत्य शैली द्वारा ठुमरी को भावाभिव्यंजित करने की प्रथा रूढ़ हो गई और इसीलिए मध्ययुग से विभिन्न सामाजिक उत्सवों व समारोहों पर वेश्याओं द्वारा ठुमरी गान के साथ-साथ उसके बोलों का अर्थभाव (पदार्थाभिनय) कथक नृत्यशैली के माध्यम से किया जाता रहा है। जिसमें गायकों के साथ-साथ कथकनर्तकों का सहयोग भी अपेक्षित था। अतः वैशिक समाज में गान और कथकनृत्य दोनों कलाओं के घरानेदार गुणियों द्वारा ठुमरी सिखाई जाने की परंपरा रही

है। ठुमरी के विकास में अनेक घरानेदार संगीतज्ञों का योगदान होने पर भी 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक इन संगीतज्ञों द्वारा ठुमरी को हेय दृष्टि से देखा जाता रहा।

'रागदर्पण' और **'तोहफ़तुलहिंद'** जैसे ग्रंथों से यद्यपि ठुमरी को 17वीं शताब्दी में गाये जाने का उल्लेख मिलता है और इसके पश्चात 18वीं से लेकर 19वीं शताब्दी के मध्य तक ठुमरी की गीत रचनाओं और वेश्याओं द्वारा नृत्याभिनय सहित ठुमरी गान प्रयोग के उल्लेख भी यत्र–तत्र मिलते हैं परन्तु ठुमरी को विकास, प्रचार और संगीत क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने का अवसर आगे चलकर 19वीं शताब्दी के मध्य में अवध प्रदेश के तत्कालीन शासक वाज़िद अली शाह के लखनऊ दरबार के रंगीन वातावरण में मिला। किन्तु कैप्टेन विलर्ड के अनुसार 18वीं शताब्दी के अंतिम चर्तुथांश में अवध के नवाब आसफ़ुद्दौला के समय वहाँ की राजधानी लखनऊ, संगीत और कथक नृत्य का गढ़ बन चुकी थी। उस समय से ही धीरे–धीरे वहाँ के लोगों में ठुमरी गान के प्रति अभिरूचि बढ़ने लगी थी और 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में तो ठुमरी का आकर्षण इतना बढ़ गया था कि लखनऊ के रईसों की प्रसन्नता के लिए तत्कालीन सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ गुलाम रज़ा सितार पर ठुमरियाँ बजाने लगे थे। इससे ज्ञात होता है कि वाजिद अली शाह के पूर्व ही ठुमरी के विकास और प्रचार के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित होने लगा था।

ठुमरी के विकास व प्रचार में विभिन्न संगीतज्ञों का योगदान

वाजिद अली शाह :

इनका जन्म सन् 1822 में हुआ और वे सन् 1847 में 25 वर्ष की आयु में अवध की राजगद्दी पर बैठे। वाजिद अली शाह एक कलात्मक प्रतिभा सम्पन्न रसिक व्यक्ति ही नहीं अपितु संगीत, काव्य नाट्यादि कलाओं के मर्मज्ञ होने के साथ–साथ ललित कलाओं के पृष्ठ पोषक भी थे। मुहम्मद करम इमाम के कथनानुसार ललित कलाओं की

प्रत्येक विधा पर वाजिद अली शाह का उत्तम अधिकार था और उनके लखनऊ में प्रत्येक कला के मर्मज्ञ, विशेषतः उच्चकोटि के संगीतज्ञ विद्यमान थे। वाजिद अली शाह कृत **'बनी'** नामक पुस्तक से ज्ञात होता कि इनमें से कई संगीतज्ञ, उनकी बेग़मों को नियमित रूप से संगीत–शिक्षा दिया करते थे। संगीतज्ञों के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों की तत्कालीन उत्तम गायिकाओं व नर्तकियों का भी लखनऊ और वहाँ के राजदरबार से घनिष्ठ संबंध था। स्वयं वाजिद अली शाह ने अपने दरबारी नर्तक ठाकुर प्रसाद जी व उनके भाई दुर्गा प्रसाद जी से नृत्य की शिक्षा ली थी।

वाजिद अली शाह संगीत और नाट्य के प्रेमी व प्रयोक्ता थे। उन्होंने संगीत और नाट्य प्रयोग के लिये अपने अंतःपुर में स्त्रियों की **'परीखाना'** नामक एक मंडली बनाई थी, जिसमें अनेक उत्तम गायिकाएं एवं नर्तकियाँ थी और इनमें से तो कई संगीतजीवी वर्ग की थी। इस **'परीखाना'** मंडली के सहयोग से नवाब प्रायः संगीत प्रधान नृत्यनाट्य अभिनीत किया करते थे, जिसमें **'रहस'** और **'इन्दरसभा'** प्रमुख थे। 'रहस' संस्कृत शब्द 'रास' का अपभ्रंश है जो कि कृष्णचरित के रासलीला से संबद्ध है। लखनऊ में रासलीला का प्रचार ब्रज के रासधारियों द्वारा हुआ था और वाजिद अली शाह को रहस (रास) की प्रेरणा उन्हीं रासधारियों से मिली थी। इस संबंध में अब्दुल हलीम, **'शरर'** जिनका बचपन नवाब के सानिध्य में गुजरा था, लिखते हैं "रहस, ख़ास मथुरा और ब्रज की कला है। वहीं के रहस धारियों ने आकर लखनऊ को इसका शौक दिलाया। वाजिद अली शाह को जब रहस पसंद आया तो उन्होंने अपनी रूचि और अपने काल्पनिक प्लाट (विषय वस्तु) का एक नया रहस तैयार किया।" 'रहस' तथा 'इन्दर सभा' दोनों ही श्रृंगारात्मक और नृत्य प्रधान संगीत नाट्य थे, जिसमें भावाभिनय सहित गाये जाने वाले नृत्य गीतों के रूप में ठुमरियों और होलियों (चाँचरि) का उपयोग किया गया, जो कि कृष्ण लीला से प्रभावित थे, जैसे :–

(1) ठुमरी- [लाल परी की ज़ुबानी]

बिन पिया घटा नहि भावै।। रहि-रहि दिल रूँध आवै।।

बिजरी की चमक तड़पावै, डरावै ।। बिन पिया०

ऋतु बरखा की आई गुईयाँ । आज पिया बिन कल नहि आवै।। बिन पिया०

[इंदर सभा, पृष्ठ 12]

(2) होली- [नीलम परी की जबानी]

कान्हा को समझावै न कोई।

अंगिया रंग में भिजोई, मोरी ब्रज में पति खोई।।

[इंदर सभा पृष्ठ 5]

इनमें से कुछ ठुमरियाँ और होलियाँ लखनऊ की क्षेत्रीय होली से किंचित प्रभावित होने पर भी मुख्यतः ब्रज भाषा में ही रचित है और कई तो विशुद्ध ब्रजभाषा में है। जिससे सिद्ध होता है वाजिद अली शाह ने तत्कालीन नृत्यप्रधान संगीत नाट्य **'रहस'** और **'इन्दरसभा'** के भावाभिव्यंजक नृत्यगीतों के रूप में कैशिकी वृत्ति के आश्रय से ब्रजभाषा में गाई जाने वाली ठुमरी और होली (चाँचरि) की उस विधा का चयन किया था जिसकी लोकपरंपरा मूलतः ब्रज के कृष्णरास एवं चर्चरी से संबद्ध थी और बाद में उसके सामाजिक प्रदर्शन की प्रथा संगीतजीवी गायिकाओं एवं नर्तकियों के माध्यम से उस युग तक पहुँची थी। नृत्याभिनय के प्रति गहन लगाव के कारण वाजिद अली शाह को नृत्य संगीत और उसमें व्यवहृत होने वाली भावाभिव्यंजक गानविधा ठुमरी से हार्दिक़ लगाव होना स्वाभाविक था, अतः इस रूचि के परिणामस्वरूप उनके दरबार में ठुमरी को बहुत प्रश्रय मिला।

कुशल संगीतज्ञ और कवि होने के गाते वाजिद अली शाह स्वयं भी एक उत्तम गायक एवं वाग्गेयकार थे। उन्होंने **'अख्तर'** उपनाम से अनेक सादरों, ख्यालों, ठुमरियों और उर्दू ग़ज़लों की रचनाएँ की। उदाहरण—राग खमाज का सादरा' सुध बिसर गई आज अपने गुनन की'। इसी प्रकार भैरवी की प्रसिद्ध ठुमरी 'बाबुल मोरा नैहर छूटो हि

जाय', उन्हीं की रचना बताई जाती है। उनकी बनाई ब्रज भाषा की अन्य दो ठुमरियाँ इस प्रकार है–

ठुमरी - काफी **(अद्धाताल)**

स्थाई :-

(1) *मोरी आली मैं पनियाँ कैसे जाऊँ री, सखी री नागर नटखट मुकुटवारी।*

मोसो करत ढिठाई, बंसीबट जमुनातट, पनियाँ लाऊँ री।

अंतरा

उझक-उझक और उचक-उचक झाँकै री 'अख़्तर'।

तट पनघट बंसीवट जमुनातट, पनियाँ कैसे लाऊँ री।।

(2) ठुमरी

स्थाई – उरझि रहे नैना जोबन पर तुम्हारे।

अन्तरा - तिरछि नजरिया घायल करि डारो। नाम रखो बाँके 'अख़्तर' प्यारे।

18 वीं शताब्दी के अंत और 19 वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही ठुमरी और कथक नृत्य के प्रति लखनऊ के लोगों का झुकाव बढ़ रहा था। वाजिद अली शाह के प्रोत्साहन से तो उनेक अंतःपुर से लेकर राजदरबार की महफ़िलों तक कथक नृत्य और ठुमरी गान की प्रधानता हो गई थी। **'यथा राजा तथा प्रजा'** के अनुसार शासक की अभिरूचि का प्रभाव राजकीय पदाधिकारियों, सामंतों तथा जनता पर पड़ने के कारण तत्कालीन लखनऊ का वातावरण ही ठुमरी गान व कथक रंग में रंग गया था। स्वयं वाजिद अली शाह, उनकी पत्नी आलम आरा नवाब के रिश्तेदार के पौत्र वज़ीर मिर्ज़ा बालाक़दर उपनाम **'कदर पिया'** की मधुर ठुमरियाँ आज भी संगीत जगत में प्रचलित है। उत्तर भारतीय वैशिक समाज में ठुमरी गान की शिक्षा गायकों व सारंगी वादकों और नृत्याभिनय की शिक्षा कथकों के हाथ में रहने के कारण ये सभी संगीतज्ञ ठुमरी गान की विशेषताओं और उसकी बारीकियों से पूर्णतया अवगत व उसमें पारंगत थे ही।

फलतः दरबारी महफिलों में ठुमरी गान की प्रधानता बढ़ने पर शासकों व आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिये इनमें से अनेक संगीतज्ञों ने भी महफ़िलों में ठुमरी गाना प्रारंभ कर दिया। इस संबंध में अधिकतर लोग तत्कालीन लखनऊ दरबार के सुप्रसिद्ध गायक उस्ताद सादिक अली खाँ को ठुमरी गान का सर्वप्रथम प्रवर्तक मानते हैं। स्वयं गिरिजाशंकर चक्रवर्ती के अनुसार –वाजिद अली शाह के दरबार में ठुमरी गान का सर्वप्रथम प्रचलन उस्ताद सादिक अली खाँ ने किया। इससे प्रतीत होता है कि उस समय ठुमरी गाने वाले पुरूष गायकों में वे सबसे अग्रणी हुए।

सादिक अली खाँ :

उस्ताद सादिक अली खाँ का जन्म सन 1800 और देहान्त सन 1910 में हुआ। वे क़व्वाल बच्चे घराने की वंश परंपरा के संगीतज्ञ थे। मूलतः ख्यालिया होते हुए भी ध्रुपद, धमार, सादरा, तराना, टप्पा आदि गान विधाओं पर उनका उत्तम अधिकार था और ठुमरी के तो वे विशेषज्ञ थे ही। उनको इस बात का श्रेय था कि लखनवी ठुमरी के जन्मदाता व प्रवर्तक वे ही थे। 19वीं शताब्दी के उतरार्द्ध से लेकर 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक के अनेक प्रसिद्ध ठुमरीकारों, गायक– गायिकाओं ने उनसे ठुमरी सीखी थी। उनके शिष्यों में लखनऊ के प्रसिद्ध कथक नर्तक महाराज बिंदादीन, सुप्रसिद्ध ठुमरीकार व हारमोनियम वादक ग्वालियर राजघराने के भैया गनपतराव तथा ठुमरी मर्मज्ञ ठाकुर नवाब अली खाँ प्रमुख थे। उस्ताद सादिक अली खाँ के संबंध में आगरा घराने के प्रसिद्ध संगीतज्ञ स्व० विलायत हुसैन खाँ का कथन है–" क़व्वाल बच्चों के घराने के बड़े प्रसिद्ध गवैयों में सादिक अली खाँ का नाम बहुत उल्लेखनीय है। यह नवाब वाजिद अली शाह के ज़माने में लखनऊ में थे और उसके बाद भी कई वर्ष तक जिंदा रहे। इन्होंने अपने घराने की गायकी को कायम रखने के साथ ठुमरी में बड़ी विशेषता उत्पन्न की। उसे इन्होंने ऐसा प्रभावोत्पादक बनाया कि उसके बाद से ठुमरी का रंग ही बदल गया। यह गायकी हर गायकी को पसंद आई और तमाम पूर्वी हिन्दुस्तान इसके रंग में रंग गया। बनारस, गया और कलकत्ते वगैरह में इसका बहुत ज्यादा प्रचार हुआ।"

ठुमरी को अपनाने वाले पुरूष संगीतज्ञों में सर्वप्रथम गायक उस्ताद सादिक अली खाँ और नर्तक महाराज बिंदादीन थे। महाराज बिंदादीन के भतीजे और वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध कथक नर्तक स्व० शंभू महाराज के कथनानुसार—उनके घराने में ठुमरी का प्रारंभ सबसे पहले महाराज बिंदादीन जी से हुआ। महाराज बिंदादीन ने उस्ताद सादिक अली खाँ से ठुमरी सीखकर स्वयं अनेक ठुमरियों की रचना कर, उन्हें महफ़िलों में भावाभिनय सहित प्रस्तुत करना आरंभ कर दिया ।

इस प्रकार ठुमरी के विकास और प्रचार में सर्वप्रथम जिन व्यक्तियों ने योगदान दिया, उनमें लखनऊ के वाजिद अली शाह, उस्ताद सादिक अली खाँ, लखनऊ घराने के कथक नर्तक महाराज बिंदादीन प्रमुख थे। 19 वीं शताब्दी में अवध के बादशाह वाजिद अली शाह को ठुमरी रचना करने और ठुमरी गान को प्रश्रय देकर प्रोत्साहन व प्रचार द्वारा उसके योग्य वातावरण बनाने, उस्ताद सादिक अली खाँ को ठुमरी रचना व गान के साथ उसकी शिक्षा देकर अनेक ठुमरी गायक—गायिकाओं के निर्माण करने और महाराज बिंदादीन को ठुमरी रचना करने व भावाभिनय सहित उसके प्रस्तुतिकरण की कला को विकसित करने का श्रेय रहा है। इसीलिए लोगों की विभिन्न धारणाओं के अनुसार इनमें से प्रत्येक व्यक्ति को भ्रमवश ठुमरी का जन्मदाता भी माना जाता रहा है।

वाज़िद अली शाह के समय में ठुमरी के प्रति लखनऊ के लोगों की अभिरूचि बढ़ने के साथ ही साथ ठुमरी गाने की कला का वहाँ इतना विकास और प्रचार हुआ कि तत्कालीन भारत में लखनऊ को ठुमरी गान का केन्द्र समझा जाने लगा एवं देश के विभिन्न भागों के गायक—गायिकाएँ लखनऊ के ठुमरी विशेषज्ञ गुणियों से ठुमरी सीखना अपना गौरव समझते थे। लखनऊ के इन ठुमरी रचनाकारों एवं संगीतज्ञों के गान—प्रयोगों से ठुमरी का एक विशिष्ट स्वरूप विकसित होकर तत्कालीन संगीत रसिक समाज में लोकप्रिय एवं प्रचलित हुआ, जिसके काव्य पर ब्रजभाषा के साथ—साथ लखनऊ की क्षेत्रीय बोली, अवधी व उर्दू भाषा तथा शैली पर नवाबी युग की विलासिता का बहुत प्रभाव था। कालांतर में ठुमरी के इस विशिष्ट स्वरूप को **'लखनऊ की ठुमरी'**

या **'लखनऊ ठुमरी'** कहा जाने लगा और उस्ताद सदिक अली खाँ, वाजिद अली शाह 'अख़्तर', वज़ीर मिर्ज़ा बाला क़दर उर्फ **क़दर पिया'** और महाराज बिन्दादीन जैसे संगीतज्ञ इसके प्रतिष्ठापक समझे गये।

इस समय लखनवी ठुमरी की रचना और शैली में दो धाराएँ स्पष्ट दिखाई दे रही थी। एक तो मुख्यतः कथक नर्तकों और वेश्याओं द्वारा प्रयुक्त, जिसमें कि ठुमरी की भावाभिव्यक्ति प्रधानतः नृत्य, हावभाव व अंगिकाभिनय द्वारा होती थी एवं गीत की स्थिति सहायक जैसे होती थी। दूसरी, गायक–गायिकाओं द्वारा व्यवहृत, जिसमें ठुमरी के बोलों की भावभिव्यंजना, स्वर सन्निवेश व काकु के समन्वित प्रयोगों से होती थी। इसमें गाने की प्रधानता तथा नृत्य व अंगिकाभिनय का अभाव था। इन आधारों पर पहली को **'नृत्यप्रधान ठुमरी'** और दूसरी को **'गान प्रधान ठुमरी'** कहा जा सकता है। गत्यात्मकता और भावभिव्यंजना की प्रधानता के आधार पर भी उस समय ठुमरियों के दो मुख्य भेद हो गये थे, जिन्हें क्रमशः **'बोलबाँट की ठुमरी'** और **'बोलबनाव की ठुमरी'** कहा गया। वेश्याओं और कथकों की नृत्यप्रधान ठुमरी के प्रदर्शन में बोल–बाँट की ठुमरियों को प्रायः खड़े होकर नृत्य के साथ और बोलबनाव की ठुमरियों को बैठकर भावाभिनय द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रथा रही है। यद्यपि 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लखनऊ में बोलबाँट तथा बोलबनाव दोनों प्रकार की ठुमरियों का प्रचलन रहा परन्तु बोलबाँट की ठुमरियों का प्रसार ब्रज, दिल्ली और उत्तर प्रदेश के पश्चिम भाग में विशेष रूप से रहा है। इसलिये बाद में बोलबाँट की ठुमरियों को **'पछाहीं ठुमरी'** भी कहा जाने लगा।' सन् 1856 में अंग्रेजों द्वारा बन्दी बनाये जाने के बाद वाजिद अली शाह का स्थाई निवास स्थान **'मटियाबुर्ज कलकत्ता'** होने पर लखनऊ दरबार के कई उत्तम संगीतज्ञ भी उनके साथ गये, जिसके कारण पूर्वी भारत के बनारस, गया, पटना व कलकत्ता आदि के स्थानों के लोगों में भी ठुमरी गान के प्रति अभिरूचि बढ़ी।

भैया गनपत राव :

भैया गनपत राव का जन्म सन् 1852 में ग्वालियर में हुआ था, जिनके द्वारा संगीत क्षेत्र में प्रवेश से ठुमरी गान के एक नये युग का सूत्रपात हुआ। उनकी माता ग्वालियर नरेश जियाजी राव की उपपत्नी और श्रेष्ठ गायिका चन्द्रभागा थी। अतः भैया गनपत राव को संगीत के आनुवांशिक गुण मातृपक्ष से मिले थे। भैया जी ने सबसे पहले उस समय के सुप्रसिद्ध बीनकार बन्दे अली से गाना और बीन सीखा। इसी समय उस्ताद सादिक अली खँ से लखनऊ में उनसे ठुमरी गान सीखा ठुमरी के साथ हारमोनियम वादन में भैया गनपत राव इतने सिद्धहस्त हुये कि वे इस कला के अद्वितीय गुणी माने जाते थे।। अपने हारमोनियम वादन में षड्ज संक्रमण विधि द्वारा एक में अनेक रागों की छटा दिखाकर वे श्रोताओं व गुणियों को मन्त्रमुग्ध कर देते थे। षड्ज संक्रमण की यह विधि लखनवी ठुमरी की अन्यतम् विशेषता थी। भैया गनपत राव ने **'सुघर पिया'** उपनाम से अनेक उत्तम ठुमरियों की रचना की है। वैसे तो उन्होंने पूरा भारत भ्रमण किया था परन्तु लखनऊ, बनारस, गया, पटना एवं कलकत्ता आदि विशेष रूप से उनके कार्यक्षेत्र रहे जिसके कारण इन स्थानों पर पूरब अंग की ठुमरी का बहुत प्रचार व प्रसार हुआ। इनके शागिर्दों में बनारस के मौजुद्दीन खाँ, कलकत्ता के गिरिजाशंकर चक्रवर्ती, गायिकाओं में गौहरजान व जद्दनबाई (कलकत्ता), मलिकाजान (आगरा), जोहराजान (पटना) आदि ने ठुमरी के क्षेत्र में बहुत नाम किया।

ठुमरी के बोलों को यथोचित स्वर--सन्निवेश और भावानुकूल काकु प्रयोग सहित गाते हुये, गीत में अन्तर्निहित भावों को अभिव्यक्त करना ही भैया गनपतराव को अभीष्ट था। ठाकुर जयदेव के कथनानुसार गनपतराव प्रायः उनसे कहा करते थे-- "ठुमरी के जिन भावों को एक नर्तक हावभाव से अदा करता है उन्हीं को हम गले से गाकर अदा करते हैं।" भैया गनपत राव के सभी शिष्याओं ने ठुमरी गान संबंधी उनके आदर्शों को अपनी ठुमरी गायकी में पूरी तरह अपनाया जिनकी गायकी में बोलबनाव की प्रधानता

थी और गीत के बोलों के भाव स्वरों की सहायता से अभिव्यक्त किये जाते थे। इस प्रकार ठुमरी गाने वालों में भैया गनपत राव के शिष्य मौजुद्दीन खाँ बहुत प्रसिद्ध हुए।

मौजुद्दीन खाँ :

इनका जन्म सन् 1875 के लगभग पंजाब के नालागढ़ रियासत में हुआ था। इनके पिता गुलाम हुसैन उत्तम गायक व सितारवादक और माँ जेबुन्निसा बेग़म भी अच्छी गायिका थी। सन् 1880 के लगभग गुलाम हुसैन सपरिवार काशी आकर रहने लगे। ठुमरी गान में मौजुद्दीन खाँ का जबाब नहीं था। उस्ताद फैयाज खाँ, मौजुद्दीन खाँ की ठुमरी की बहुत प्रशंसा करते थे और कहते थे कि वह पूरब की ठुमरी बेजोड़ गाते थे। भैया गनपत राव की प्रेरणा से प्रोत्साहन प्राप्त कर तथा अभ्यास कर वे ठुमरी के अद्वितीय गायक बने।

जगदीप मिश्र :

उन दिनों नृत्य और गान में जगदीप मिश्र की बड़ी ख्याति थी। वे जाति के कथक और मूलतः आजमगढ़ के निवासी थे। बाद में वे बनारस आकर **'कबीर चौरा'** मुहल्ले में बस गये। बनारस के लोग जगदीप मिश्र को ठुमरी की बनारसी शैली का प्रवर्तक मानते हैं। बनारस के वयोवृद्ध ठुमरी गायक स्व० रामाजी के अनुसार बनारस के लोगों का कहना है कि मौजुद्दीन खाँ ने पहले जगदीप मिश्र को सुन–सुनकर ठुमरी गाना सीखा बाद में वे भैया गनपत राव के शिष्य हो गये। बनारस के पुराने लोगों का यह भी मत है कि पहले ठुमरी मध्यलय में ही अधिकतर गाई जाती थी। बाद में विलंबित लय की ठुमरी गाने का प्रचलन जगदीप मिश्र ने आरंभ किया, जिसे बाद में मौजुद्दीन खाँ ने इसे आगे बढ़ाया। इस प्रकार जगदीप मिश्र, मौजुद्दीन खाँ के समय उन्हीं लोगों के प्रयत्नों से विलंबित लय की बोलबनाव ठुमरी गाने का प्रचलन बढ़ा।

उत्तर भारत में लखनऊ के अतिरिक्त बनारस भी ठुमरी के लिये विशेष, रूप से प्रसिद्ध रहा है। लखनऊ की अल्हड़ किशोरी चपल एवं द्रुतलय युक्त ठुमरी गायकी जब गोमती का किनारा छोड़ बनारस आई तो यहाँ की शान्त, सौम्य माँ गंगा का स्नेहिल परम पवित्र रूप देखा, नमन कर स्पर्श किया तो मानों काशी तक की यात्रा की सारी थकान दूर हो गई और स्वप्निल सुखद अनुभव से स्वयं रोमांचित हो उठी। काशी का संगीतमय वातावरण, यहाँ के संगीतज्ञों का अटूट प्यार उसे इतना भाया कि द्रुतलययुक्त, चपल चाल की ठुमरी ने चंचलता त्याग लज्जाशील, शालीन नारी के उपयुक्त बनारसी नयनाभिराम रेशमी साड़ी के आवरण में अलंकृत होकर नये श्रृंगार द्वारा एक नवीन स्वरूप धारण कर धीर, गंभीर, विलंबित लय की आश्रित हुई एवं यहाँ के रंगीले, रसीले, भावुक, उदार, गुणी संगीत विद्वानों ने ठुमरी को बनारसी पैनेपन के विशिष्ट रंग में रंगकर बोलबनाव ठुमरी के रूप में श्रृंगार, करूण, शान्त रस से ओतप्रोत करके हृदयग्राही स्वरूप में प्रस्तुत किया। यहाँ की ठुमरी गाने की शैली इतनी लोकप्रिय हुई कि कालांतर में उसे **'बनारसी शैली की ठुमरी'** 'या' **'बनारसी ठुमरी'** कहा जाने लगा। किन्तु विभिन्न ग्रन्थों से पता चलता है कि 19 वीं शताब्दी के अंत तक ठुमरी गान की बनारसी शैली का अस्तित्व प्रकाश में नहीं आया था। कई ग्रंथों में केवल 'लखनऊ ठुमरी' का ही जिक्र हुआ है। बनारसी ठुमरी के संबंध में कोई उल्लेख नहीं है अतः उस समय तक ठुमरी गान की बनारसी शैली का कोई स्वतन्त्र रूप विकसित और गठित नहीं हुआ था। वयोवृद्ध बनारसी संगीतज्ञों का भी मत है कि बनारस में ठुमरी का आगमन लखनऊ से ही हुआ। अतएव ज्ञात होता है कि बनारस में ठुमरी गान का प्रचलन अपेक्षाकृत लखनऊ के बाद में अर्थात् 19 वीं शताब्दी के अंतिम दशक के लगभग प्रारम्भ हुआ और ठुमरी गान की बनारसी शैली का स्वतंत्र विकास लगभग 20 वीं शताब्दी के आरंभ में होना शुरू हुआ।

उस्ताद सादिक अली खाँ, भैया गनपत राव, जगदीप मिश्र, मौजुद्दीन खाँ एवं महाराज बिन्दादीन व उनके पारिवारिक सदस्यों एवं शिष्य–शिष्याओं द्वारा बनारस में

ठुमरी गान का प्रचलन हुआ और इन सभी के योगदान से कालांतर में ठुमरी की बनारसी शैली के विकास की नींव पड़ी। कालांतर में धीरे–धीरे बनारस की ओर गाई जाने वाली ठुमरी की रचनाओं व शैली पर उत्तर भारत के पूर्वी प्रदेशों की बोलियों, लोकगीतों व लोकधुनों का बहुत प्रभाव पड़ा। अतएव आगे चलकर बनारस में बोलबनाव के ठुमरी गान का एक ऐसे स्वरूप का विकास हुआ जिसमें लोक तत्व का भी सम्मिश्रण हुआ, जिस प्रकार ब्रजभाषा के साथ–साथ अवधी, भोजपुरी व मगही आदि बोलियों और पूर्वी उत्तर प्रदेश व बिहार में प्रचलित चैती, घाटो, कजरी, सावन, झूमर, बिरहा, पुरबी आदि लोकगीतों और उनकी धुनों का भी बहुत प्रभाव था। बनारसी ठुमरी का यह स्वरूप मुख्यतः गान प्रधान और बोलबनाव का रहा। इस प्रकार 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'पूरब अंग की ठुमरी की **'लखनवी'** और **'बनारसी'** दो शाखाएँ हो गई। बाद में जैसे–जैसे 'बनारसी ठुमरी' को लोकप्रियता बढ़ती गई वैसे–वैसे 'लखनवी ठुमरी' धीरे–धीरे प्रचार से हटती गई और उत्तरी भारतीय संगीत में बनारसी ठुमरी का इतना प्रचलन व प्रभुत्व रहा कि वर्तमान समय में वह 'पूरब अंग ठुमरी' की एकमात्र प्रतिनिधि समझी जाने लगी है। 'पूरब अंग ठुमरी' में प्रयुक्त बोलबनाव ठुमरी और उसकी गान शैली की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार है–

लोकतत्वों से अधिक प्रभावित होने के कारण, बोलबनाव की ठुमरियाँ प्रायः लोकधुनों और उससे तादात्म्य रखने वाले रागों में अधिक गाई जाती हैं। वर्तमान युग में प्रायः माँड, बिहाग, गारा, पहाड़ी, तिलंग, झिंझोटी, बिहारी, तिलक कामोद, देस, जोगिया, कालिंगडा, परज, खमाज, काफी, पीलू, भैरवी, सिंदूरा, बरवा, सिंधु, सिंध भैरवी, सोहनी, जंगला आदि रागों में बोलबनाव की ठुमरियाँ गाने का प्रचलन है। इन रचनाओं की भाषा साधारणतः ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि बोलियाँ होती है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए चैनदारी अर्थात् सावकाशत्व बहुत ही आवश्यक है। बोलबनाव ठुमरियों की गायकी में भावाभिव्यंजन का विशेष महत्व होने के कारण उनमें अधिकतर विलंबित लय का ही प्रयोग किया जाता है। इसलिये ये प्रायः जत, पंजाबी, दीपचंदी आदि तालों में

गाई जाती है। रचनात्मक दृष्टि से बोलबनाव की बंदिशें लघुकाय व सरल होती है, जिसमें स्थाई और प्रायः एक ही अन्तरा रहता है। यद्यपि अपवादस्वरूप कभी–कभी दो अंतरे भी मिलते हैं। इसकी गायकी के विस्तार क्रम में पहले 'स्थाई के बोलो' का भावानुकूल काकुसमन्वित स्वर सन्निवेशों सहित साक्षर लप्ति करते हुये यदृच्छया 'बनाव' किया जाता है। ऐसे प्रत्येक बोलबनाव के बाद 'स्थाई' का 'मुखड़ा' दिखाया जाता है। इसके बाद यही कृत्य अंतरे में करते हुए बार–बार अंतरे की अंतिम पंक्ति समाप्त करके स्थाई की पहली पंक्ति को त्रिताल या कहरवा ताल के अनुसार निबद्ध करके मध्यलय में कई बार गाया जाता है। इस कृत्य के साथ तबले में कहरवा ताल के एक विशिष्ट ठेके **'लग्गी'** को बजाते हुये संगति की जाती है और अंत में एक छोटे 'मोहरे' या 'तिहाई के प्रयोग सहित 'सम' पर आकर ठुमरी गान की समाप्ति होती है।

बोलबनाव ठुमरी की दो शाखाएँ प्रचलित हुई 1- पूरब अंग 2- पंजाब अंग

1. पूरब अंग : बोलबनाव की ठुमरी का प्रसार विशेष रूप में उत्तर भारत के पूर्वी भाग में अधिक होने के कारण इसे प्रायः **'पूरब अंग की ठुमरी'** कहा जाता है। पूरब अंग की बोलबनाव ठुमरी गाने का ढंग साधारणतया पूर्वोक्त रूप में होते हुये भी उसकी गायकी में बोलों व स्वरों के 'बढ़त' का एक विशेष क्रम होता है जिसमें बाद में समप्रकृति रागों द्वारा मुख्य राग में तिरोभाव–अर्विभाव की क्रिया भी की जाती है। ये कौशल प्रायः षड्जसंक्रमण स्वरसन्निवेश परिवर्तन द्वारा किया जाता है। जैसे–यदि भैरवी में थोड़ी देर के लिये 'निषाद' स्वर पर 'षड्ज' की स्थिति मान ली जाय तो काफी राग का आभास होने लगता है यथा–

भैरवी : ऩि सा ऱे ग़ म प ध़ ऩि सां

काफी : सा रे ग़ म प ध ऩि सां

अब इसके अनुसार भैरवी की एक प्रसिद्ध ठुमरी में काफी की छाया उत्पन्न करके और पुनः 'मुखड़ा' पकड़ने का उदाहरण इस प्रकार है–

भैरवी :	– निनि सा –	रे सा रेग मग	मध्रप पम –म गम	रेसा –सा रेग मग
काफी :	– सासा रे –	ग रे गम पम	पनिध धप –प मप	गरे –रे गम पम
ठुमरी के बोल :	ऽ सुनि दयो ऽ	नं ऽ ऽद ऽकु	माऽऽ ऽऽ ऽर सुनि	योऽ ऽनं ऽद ऽकु
	x	2	0	3

भैरवी :	म – – म
काफी :	प – – प
ठुमरी :	मा ऽ ऽ र
	x

इस प्रकार अन्य स्वयं पर षडज संक्रमण द्वारा विभिन्न रागों की छाया उत्पन्न की जा सकती हैं।

इन सब विशेषताओं से युक्त पूरब अंग की ठुमरी अपने सुरीलेपन, चैनदारी, बोलबनाव व स्वरों के विशिष्ट लगाव के लिए प्रसिद्ध है। बोलबनाव की ठुमरियों के विकास के लिये उत्तर प्रदेश के लखनऊ और बनारस नगर बहुत समय से विख्यात है। जिनके आधार पर 'पूरब अंग ठुमरी' की गायकी के मुख्यतः दो भेद माने जाते है। इन्हें क्रमशः 'लखनवी शैली' और 'बनारसी शैली' कहा जाता है। पूरब अंग की प्रतिनिधि और परस्पर संबद्ध होने के कारण, यद्यपि दोनों शैलियाँ एक दूसरे से काफी मिलती–जुलती हैं किन्तु फिर भी रचना व गायन शैली की प्रकृति के आधार पर किसी सीमा तक दोनों में सूक्ष्म भेद किया जा सकता है–

1- लखनवी शैली : इस शैली की ठुमरी रचनाओं में ब्रजभाषा के साथ–साथ प्रायः लखनऊ और उसके आस–पास बोली जाने वाली अवधी बोली का प्रयोग भी मिलता है। कभी–कभी उर्दू भाषा के शब्दों का भी यथोचित रूप में प्रयोग मिलता है जैसे–

ठुमरी–राग भैरवी

स्थाई : 'बाबुल मोरा नइहर छूटो हि जाय'।

अंतरा : चार कहार मिल डोलिया उठावे, अपना बेग़ाना छूटो ही जाय।।

वाजिद अली शाह कृत उक्त ठुमरी के अंतरों में उर्दू शब्द 'बेग़ाना' का प्रयोग हुआ है। इन विशेषताओं के फलस्वरूप लखनऊ में बोलबनाव ठुमरी गान का एक ऐसा विशिष्ट ढंग प्रचलित हुआ जिसमें संगीत पक्ष के कलात्मक कौशल के प्रति सजग रहकर बोलबनाव किया जाता है। लखनऊ क्षेत्र में ठुमरी के अतिरिक्त टप्पा का भी बहुत प्रचार रहने से लखनवी शैली के ठुमरी गान में टप्पा शैली के स्वर संदर्भों की झलक भी कहीं–कहीं दिखाई पड़ी है जैसे–

ठुमरी, राग भैरवी **(ताल-पंजाबी, विलंबितलय)**

–सारे म मग	(म)गमपप (ग)ममग्ग रेसा रेनि	सा – – सारे	ममग गरेरे सासानि सा
ऽ अरे जा गोऽ	रेऽऽऽ ऽऽऽनि दिया ऽकी	मा ऽ ऽ ऽऽ	ऽऽऽ ऽऽ ऽऽऽ वी
0	3	x	2

लखनऊ, ग़ज़ल और उर्दू शायरी के विकास व प्रसार का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। फलतः लखनवी ठुमरी गान में बीच–बीच में ठुमरी के विषयानुकूल उर्दू भाषा के शेर कहने का रिवाज भी प्रायः मिलता है।

2- बनारसी शैली : इस शैली की ठुमरी रचनाओं में ब्रज व अवधी के साथ–साथ पूर्वी क्षेत्रीय भोजपुरी व मगही इत्यादि पूर्वी बोलियों का प्रयोग भी प्रायः दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ–

1- ठुमरी, भैरवी : स्थाई : ऐ री दैया मोरी झुलनी हेरानी।

अंतरा : मूँद किवरवा मैं जो सोई, भीतर सोवै देवरवा।

भिनसरवा की नींद, मोरी झुलनी हेरानी।

2- ठुमरी, भैरवी : स्थाई – बारे बलम फुलगेंदवा न मारो, लगत करेजवा में चोट।

अंतरा : सैया निरमोहिया दरदिया न जाने, रखत पलकिया की ओट ।।

बनारसी ठुमरी पर पूर्वी उत्तर प्रदेश में गाये जाने वाले चैती, कजरी, पुरबी, झूमर आदि लोकगीतों व उनकी धुनों का बहुत प्रभाव है। फलतः बनारसी शैली के ठुमरी गान में बोलबनाव करते समय बोलों के 'कहन' अर्थात लहजे में पूर्वी बोलियों के

विशिष्ट उच्चारण के मिठास के साथ–साथ स्वर सन्निवेशों के प्रयोग में पूर्वी लोकधुनों की सादगी व सरलता के दर्शन होते है। संक्षेप में, कह सकते हैं कि ठुमरी गान की बनारसी शैली उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्र की लोक संस्कृति से अधिक प्रभावित है।

बनारसी ठुमरी के पुराने विशेषज्ञों में आजमगढ़ के जगदीप मिश्र, बनारस के मौजुद्दीन खाँ, मिठाई लाल, रामसेवक, दरगाही जी, सियाजी, बड़े रामदास जी, श्रीचंद्र मिश्र, इलाहाबाद के भोलानाथ भट्ट और वर्तमान समय में बनारस के स्व० रामाजी, श्री महादेव मिश्र प्रसिद्ध हुए। पुरानी गायिकाओं में हुस्ना, विद्याधरी, मैना, राजेश्वरी देवी, टामी बाई, चंपा बाई, सरस्वती बाई, चंद्राबाई, भागीरथी, इलाहाबाद की जानकी देवी उर्फ 'छप्पनछुरी', आगरे की मलिका जान आदि और बाद की पीढ़ी में काशी की बतूलन, काशी बाई, कमेलश्वरी, दुर्गेश, बिट्टो, श्यामा, बिट्टन, मुन्नी, गुलाब, भौंफटी, केसर, तारा, अनवरी, कमला, शांति, मोहनी आदि का नाम आता है। पुरानी परंपरा की गायिकाओं में श्रीमती बड़ी मोतीबाई, रसूलनबाई तथा सिद्धेश्वरी देवी इस युग की उत्तम ठुमरी गायिकाएँ हुई है। नई पीढ़ी की गायिकाओं में श्रीमती गिरिजादेवी तथा श्रीमती माणिक वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। शहनाई वादन में बनारसी ठुमरी की धुन प्रस्तुत करने वालों में बनारस के उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ अग्रगण्य है।

बनारस के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में अयोध्या, इलाहाबाद, जौनपुर, आजमगढ़, गाजीपुर, बलिया, बस्ती, झाँसी, गोरखपुर, शोहरतगढ़, पड़रौना इत्यादि स्थानों पर भी कथक जाति के अनेक गायक, वादन, नर्तकों के बसने से यहाँ भी ठुमरी गान शैली का खूब प्रचार–प्रसार हुआ। आज 'बनारसी ठुमरी' पूरब अंग ठुमरी की एकमात्र प्रतिनिधि समझी जाने लगी है और 'लखनवी ठुमरी' का केवल नाम ही शेष रह गया है। जिस समय 'बनारसी ठुमरी' के विकास के साथ–साथ लखनऊ के पूर्व की ओर 'पूरब अंग' की बोलबनाव 'ठुमरियों' का प्राधान्य बढ़ रहा था उस समय लखनऊ

के पश्चिमी क्षेत्रों की ओर पश्चिमी उत्तर प्रदेश से लेकर दिल्ली तक 'पछाही अंग' की बोलबाँट या बंदिशी ठुमरियों का अधिक प्रचलन था।

पछाहीं ठुमरी :

बोलबाँट ठुमरियों का प्रसार क्षेत्र लखनऊ के पश्चिम में स्थित फ़र्रूखाबाद, इटावा, बरेली, रामपुर, मथुरा व दिल्ली आदि स्थानों की ओर अधिक होने के कारण इन्हें प्रायः 'पछाहीं ठुमरी' के नाम से भी संबोधित किया जाता है। उत्तर भारत के पश्चिमी क्षेत्रों से विशेषतया संबद्ध होने के कारण बोलबाँट की ठुमरियों पर एक ओर तो पश्चिमी उत्तर प्रदेश, ब्रज व बुंदेलखंड में गाये जाने वाले होली, रसिया, सावन, मल्हार, लेद इत्यादि लोकधुनों का प्रभाव है तो दूसरी ओर इनकी रचना व प्रदर्शन में परंपरागत घरानेदार गायकों, सितारवादकों व कथक नर्तकों का विशेष योगदान रहने के कारण इन पर परंपरागत रागसंगीत का भी बहुत प्रभाव है। इनमें से कुछ ठुमरियाँ मध्यलय के ख्याल, कुछ तराने, सितार की गतों और कुछ नृत्य के अधिक निकट है। इतना ही नहीं कुछ ठुमरियों में तो ध्रुपदगान की भाँति दुगुन व आड़ इत्यादि लयकारियों का प्रयोग भी दिखाई देता है। जिससे बोलबाँट की ठुमरियों में बहुत विविधता दिखाई पड़ती है। इन ठुमरियों में व्यवहृत होने वाली भाषा मुख्यतः ब्रज है। बोलबाँट की ठुमरियाँ प्रायः त्रितात या उसके भेद अद्धा या सितारखानी में निबद्ध होती है। कभी–कभी रूपक, झपताल, एकताल व आड़ाचौताल में निबद्ध रचनाएँ भी दृष्टिगत होती है। बोलबाँट ठुमरी के गाने में 'बंदिश' की बहुत प्रधानता व महत्व होने के कारण इस शैली की बंदिशें बहुत ही सुगठित, मध्यकाल व लयबद्ध होती है। मध्यलय में गाई जाने वाली इन ठुमरियों में से अनेक ठुमरियों की रचना व गानशैली मध्यलय के ख्यालों से इतनी मिलती–जुलती है कि दोनों में स्पष्ट विभेद कर पाना अत्यंत दुष्कर है। इसलिये ऐसी कुछ ठुमरियाँ कालांतर में ख्याल के रूप में ही प्रचार रूढ़ हो गई। अतः

इन्हें **'बंदिश की ठुमरी'** भी कहा जाता है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जहाँ पूरब की ठुमरी में लोकतत्व की अधिक प्रधानता है, वहाँ पछाहीं ठुमरियों में परंपरागत रागसंगीत की झलक अधिक दिखाई पड़ती है। इसलिए पूरब की रचनाएँ केवल कुछ लोकधुनों और चंचल व हल्की प्रकृति के रागों तक ही सीमित है, जबकि पछाँह की 'बोलबाँट' ठुमरियाँ केवल कुछ बहुत गम्भीर प्रकृति के रागों को छोड़कर प्रायः सभी रागों को मिलती है। बोलबाँट की ठुमरी वाग्गेयकारों तथा गायकों में लखनऊ के वज़ीर मिर्ज़ा बाला कदर 'क़दर पिया', महाराज बिन्दादीन 'बिंदा', बेगम आलमआरा 'आलम' व चाँदपिया के अतिरिक्त बरेली के तवक्कुल हुसैन **'सनदपिया'**, फ़र्रूख़ाबाद के **'ललन पिया'**, मथुरा के काले खाँ **'सरसपिया'**, दिल्ली के श्री लाल गोस्वामी **'कुँवर श्याम,'** गोपाल **सुधर छैल**, गुट्टू आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। जिनमें से कुछ संगीतज्ञों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

तवक्कुल हुसैन :

बरेली निवासी तवक्कुल हुसैन **'सनद पिया'** रामपुर के सुप्रसिद्ध सुरसिंगार वादक बहादुर हुसैन खाँ के शिष्य थे। उन्होंने अधिकतर ठुमरी रचनाएँ अपनी गुरू परंपरा में प्रचलित तंत्र (तत्वाद्य) की मध्य तथा द्रुतलयबद्ध गतों के अनुसार की। उनकी बोलबाँट की ठुमरियाँ बहुत प्रसिद्ध है।

ललनपिया :

फ़र्रूखाबाद निवासी 'ललन पिया' का जन्म सन् 1856 ई० में हुआ था। उन्होंने अपने ताऊ नन्हेंमल जी से संगीत शिक्षा प्राप्त की थी। यद्यपि 'ललनपिया' ने सादरा, तराना, टप्पा, ठुमरी, दादरा, भजन, ग़ज़ल इत्यादि अनेक गीत प्रकारों की रचना की परंतु उनकी विशेष प्रसिद्धि ठुमरीकार और ठुमरी गायक के रूप में रही है। ताल और लयकारी पर उनका अद्‌भुत अधिकार था। साथ ही इनकी ठुमरियों में उच्चकोटि के साहित्य का समन्वय मिलता है। इन्होंने **'ललनसागर'** नामक एक वृहद् ग्रंथ भी लिखा

जिसमें इनकी बनाई अनेक ठुमरियाँ संग्रहीत है। सन् 1926 के लगभग इनका देहांत हो गया।

कालेखाँ :

कालेखाँ **'सरस पिया'** का जन्म मथुरा में सन 1860 में हुआ था। इन्होंने गायन और सितार वादन की शिक्षा अपने पिता गुलदीन खाँ से प्राप्त की। उन्होंने अनेकों ख्याल, ठुमरी, सरगम आदि की रचना की। उनकी बनाई मध्यलय की कई ठुमरियाँ आज भी बहुत प्रसिद्ध है। जैसे परज की ठुमरी–'मन मोहन ब्रज को रसिया।

नज़रअली, क़दर अली :

19 वीं शताब्दी के अन्त में नज़र अली और उनके भाई क़दर अली भी ठुमरी गायन में बहुत प्रवीण हुये। ये दोनो संगीतजीवी वर्ग के और मूलतः लखनऊ के निवासी थे। बाद में ये लोग ग्वालियर जाकर बस गये। नज़र अली ने **'नज़र पिया'** उपनाम से अनेकों ठुमरियाँ बनाई। इनकी अधिकतर ठुमरियाँ बोलबाँट की है। ग्वालियर के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ स्व० राजा भैया पूंछवाले ने 'नजरपिया' से ठुमरी गान सीखा था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक लोगों में ठुमरी गान इतना लोकप्रिय हो गया था कि वैशिक वर्ग के अतिरिक्त उस समय देश के अनेक घरोनदार व उच्चकोटि के प्रतिष्ठित ध्रुपद व ख्याल गायकों ने भी इसके बड़े शौक से अपनाया। जैसे ध्रुपदियों में मथुरा के चंदन चौबे, ख्याल गायकों में ग्वालियर के रहमत खाँ, शंकर पंडित और महाराष्ट्र के भास्कर राव बखले व रामकृष्ण बुवा बजे इत्यादि वेश्याओं द्वारा गाये जाने एवं ठुमरी गान में साधारणतया रागों के सर्वमान्य नियमों की अवहेलना किये जाने के कारण 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक ध्रुपद व ख्याल गान के अनेक स्वाभिमान संगीतज्ञों द्वारा ठुमरी गान को प्रायः उपेक्षित व हेय दृष्टि से देखा जाता था। परंतु शताब्दी के दो दशक बीतते–बीतते अपनी कलात्मकता व स्वाभाविक माधुर्य के कारण ठुमरी ने जनमानस को इतना प्रभावित किया कि अनेक उच्चकोटि

के प्रतिष्ठित गायकों ने संगीत सभाओं व संगीत सम्मेलनों में इसे गाना प्रारम्भ कर दिया और कालांतर में ठुमरी के प्रति जनता का आग्रह इतना बढ़ा कि लगभग सभी गायकों में अपने संगीत कार्यक्रम का अंत प्रायः ठुमरी गान से करने की प्रथा सी चल पड़ी। बड़ौदा के स्व० उस्ताद फैयाज़ हुसैन खाँ (आगरा घराना) रामपुर के उ० मुश्ताक़ हुसैन खाँ, अब्दुल करीम खाँ जैसे लब्धप्रतिष्ठ घरानेदार शास्त्रीय संगीतज्ञों ने ठुमरी को बहुत सद्भाव से अपनाया और अपने कार्यक्रम का समापन प्रायः ठुमरी गान से करने लगे।

उस्ताद अब्दुल करीम खाँ :

अब्दुल करीम खाँ ख्याल के अतिरिक्त ठुमरी गान के लिये भी विशेष रूप से विख्यात थे। इनका मूल संबंध उत्तर प्रदेश के **मुज़फ्फरनगर** ज़िले में स्थित **'किराना'** नामक स्थान के बीनकार व सारंगीवादकों के परिवार से था। उनकी गाई हुई ठुमरियों के अनेक ग्रामोफोन रिकॉर्ड्स बने है। जिनमें से झिंझोटी की ठुमरी **'पिया बिन नाहीं आवत चैन'**, भैरवी की ठुमरी **'जमुना के तीर'०, 'पिया के मिलन की आस'** (जोगिया), **सोच समझ नादान** (पीलू) आदि विशेष उल्लेखनीय है।

मुरव्वत खाँ :

कालपी घराने के प्रसिद्ध सितारिये अब्दुल गनी खाँ के छोटे भाई मुरव्वत खाँ बहुत अच्छे हारमोनियम व सितारवादक थे। उन्होंने **' मुरव्वत पिया'** उपनाम से अनेकों ख्याल, सादरें व ठुमरियों की उत्तम रचनाएँ की, जिनमें बोलबनाव तथा बोलबाँट दोनों प्रकार की ठुमरियाँ है। ये उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले में स्थित चंदापुर रियासत में थे।

लखनऊ के **सैयद अली 'बब्बन'** भी ठुमरी के उत्तम गायक व विशेषज्ञ थे। लखनऊ के ही श्री सफदर हुसैन भी ठुमरी गान में बहुत कुशल हुये है।

2. पंजाब अंग : आज से लगभग 60–65 वर्ष पहले ठुमरी गाने की एक अन्य शैली बड़ी लोकप्रिय हुई जिसे आजकल **पंजाब अंग** कहा जाता है। इस शैली के

प्रवर्तकों में पंजाब के स्व० बड़े गुलाम अली खाँ और बरकत अली खाँ का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। पं० दिलीपचन्द्र बेदी के अनुसार पंजाब अंग की ठुमरी का सूत्रपात स्व० उस्ताद अलीबख्श द्वारा हुआ था जो बड़े गुलाम अली तथा बरकत अली खाँ के पिता थे तथा उन्हें ठुमरी का ज्ञान महाराज बिन्दादीन व कालिका प्रसाद के संपर्क से हुआ था, जिसे उन्होंने पंजाबी लोकधुनों का रंग देकर नई शैली में प्रस्तुत किया था।

आज भी पंजाब अंग की ठुमरियों में बन्दिशें तो पूरब अंग की ठुमरियों, होलियों, दादरों की भाँति हिन्दी की ब्रज, अवधी, भोजपुरी इत्यादि बोलियों में विरचित होती है परन्तु गायकी में पंजाबी लोकधुनों का प्रभाव रहता है। इसलिय स्वयं स्व० गुलाम अली खाँ ठुमरी को विशेष रूप से पूरब अंगों की गानविधा मानते हुये पंजाबी शैली को उससे अलग न मानकर उसकी शाखा मात्र मानते थे।

ठुमरी गान शैली के कुछ लब्ध–प्रतिष्ठत कलाकारों के बारे में मैं संक्षिप्त रूप से यहाँ अवश्य चर्चा करना चाहूँगी, जिन्होंने इस गान शैली को समृद्ध करने में आना योगदान दिया–

बेगम अख्तर :

आधुनिक युग की प्रतिष्ठित ठुमरी गायिकाओं में यदि **बेग़म अख़्तर** का नाम न लिया जाय तो चर्चा अवश्य अधूरी रह जायेगी। लखनऊ की **बेग़म अख़्तर** न तो लखनऊ का रंग गाती थी और न बनारस का। इनकी ठुमरी गायकी में पूरब और पंजाब दोनों अंगों का मिला–जुला रूप दिखाई देता है। अता खाँ से शिक्षा पाकर वह पंजाब के प्रभाव से न बच सकीं और उनकी ठुमरी गायकी में पंजाब अंग की झलक अधिक थी। ठुमरी के साथ ही वह ग़ज़ल भी बहुत खूब गाती थी।

वर्तमान प्रतिष्ठित गायकों में सहसवान घराने के सुप्रसिद्ध ख्याल गायक निसार हुसैन खाँ भी ठुमरी अत्यंत कुशलतापूर्वक गाते थे। इनके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के वर्तमान ठुमरी गायक–गायिकाओं में डॉ० गीता बनर्जी, शुभा मुद्‌गल, सविता देवी, पूर्णिमा

चौधरी आदि का नाम उल्लेखनीय है। गायक–गायिकाओं के अतिरिक्त वर्तमान युग में सितार–सरोद आदि वाद्यो के वादकों ने भी ठुमरी की बहुत आदर तथा प्रेम से अपनाया है तथा अपने संगीत कार्यक्रम का अंत प्रायः ठुमरी धुन बजाकर करते हैं। ठुमरी को हाव – भाव से अभिव्यक्त करने वाले कथक–नर्तकों की परंपरा में 'अच्छनमहाराज', स्व० 'लच्छू महाराज' तथा स्व० शंभू महाराज बड़े प्रवीण हुय। शंभू महाराज ने ठुमरी गाने की शिक्षा अपने समय के अप्रतिम ठुमरी गायक मौजुद्दीन खाँ के छोटे भाई रहीमुद्दीन खाँ से पाई थी।

इस प्रकार हम कह सकते है कि ठुमरी का अस्तित्व तो पहले से था परन्तु एक शैली की हैसियत से वह अधूरी और अपरिमार्जित थी, जो कि उत्तर प्रदेश की भूमि पर पूर्णता को प्राप्त कर लोकप्रियता की पराकाष्ठा को प्राप्त किया और आज ठुमरी ने उत्तर भारतीय संगीत की ख्याल, ध्रुपद, धमार, टप्पा आदि गान विधाओं के बीच अपनी ऐसी महत्वपूर्ण जगह बनाई है कि ठुमरी के प्रति लोकाभिरूचि इतनी बढ़ गई है कि प्रायः सभी संगीत सभाओं व संगीत सम्मेलनो में लोग, प्रत्येक गान, वादन व कथक नर्तन कार्यक्रम के अंतिम भाग में ठुमरी के गान, वादन या भावप्रदर्शन की अपेक्षा करते हुए बड़ी उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा भी करते हैं। इसकी लोकप्रियता व माधुर्य के कारण नाट्य व सिनेमा संगीत में ठुमरी गान के प्रचुर प्रयोग के साथ–साथ उनमें प्रयुक्त होने वाले गीतों की नई धुनों के निर्माण के लिये भी ठुमरी और उसकी शैली का आश्रय भी लिया गया। इन सबके पर्यवेक्षण से यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि वर्तमान भारतीय संगीत की लोकप्रिय गीतविधाओं में ठुमरी का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है।

अब मैं उदाहरण स्वरूप कुछ ठुमरियाँ स्वरलिपि सहित प्रस्तुत कर रही हूँ–

ठुमरी

राम खम्बावती

ताल-त्रिताल

स्थायी- भरन गयी पनियाँ पनघटवा के घाट,
कालिन्दी के कूल—कूल हरि—
उरन उरित जिय सुन ऐ रि प्रिया

अन्तरा- केलि करत, हँसत, क्रीड़त नंद को ललन,
नखि नव थल दबकि सिधायी उलटे पगन,
यमुना जल भरा घर आ आयो—
अपने बस में जिया।।

स्थायी

															नि
															भ
ध	न	ध	सां	—	सां	नि	सां	नि	नि	ध	नि	ध	·	प,	ध
र	न	ग	यी	ऽ	प	नि	याँ	प	न	घ	ट	वा	ऽ	के	घा
x				2				0				3			
—	ध	म	—	प	—	प	म	ग	ग	—	सा	सा	रे	म	ग
ऽ	ट	का,	ऽ	लि	ऽ	न्दी	ऽ	के	कू	ऽ	ल	कू	ल	ह	रि
x				2				0				3			
म	प	प	ध	नि	ध	सां	सां	सां	रें	गं	—	सां	सां	नि	नि
उ	र	न	उ	रि	त	जि	या	सु	न	ऐ	ऽ	री	प्रि	य,	भ
x				2				0				3			

अंतरा

				—	ध	प	ध	सां	सां	सां	सां	सां	सां	रें	रें
				ऽ	के	ऽ	लि	क	र	त	हँ	स	त	क्री	ड़
				2				0				3			
रें	गं	गं	गं	मं	मं	मं	गं	गं	गं	गं	गं	सां	सां	सां	सां
त	नं	द	को	ल	ल	न	ल	खि	न	व	थ	ल	द	व	कि
x				2				0				3			
सां	सां	नि	नि	नि	ध	प	ध	ध	म	म	म	ग	ग	सा	सा
सि	धा	यी	उ	ल	टे	प	ग	न	य	मु	ना	ज	ल	भ	रा
x				2				0				3			
सा	रे	म	—	म	प	प	ध	ध	नि	ध	प	ध	सां	सां,	नि
घ	र	आ	ऽ	आ	ऽ	यो	अ	प	ने	ब	स	में	जि	य,	भ
x				2				0				3			

"ललन पिया की ठुमरियाँ" – पृष्ठ– 82, 83

षष्टम् अध्याय

टप्पा–शास्त्रीय संगीत की एक क्लिष्ट शैली : विकास तथा महत्व

(स) विशेषताएँ, लोकसंगीत के रूप में टप्पा, टप्पे के उपशास्त्रीय रूप का विकास

(रे) टप्पा गायन शैली के अंग, घराने, टप्पा शैली का अन्य शैलियों पर प्रभाव

(ग) कुछ टप्पे स्वरलिपि सहित

टप्पा- शास्त्रीय संगीत की एक क्लिष्ट शैली: विकास व महत्व

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की क्लिष्ट, चंचल, शोखयुक्त गान शैली **'टप्पा'** भी उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा से अछूती नहीं रही है। उत्तर प्रदेश में टप्पा गान शैली को लखनऊ और बनारस क्षेत्र में बहुत प्रोत्साहन मिला और वहाँ इनका प्रचार–प्रसार लगभग एक साथ रहा। उद्भव के दृष्टि से तो यद्यपि इस शैली का पंजाब प्रांत से अटूट संबंध है किन्तु विकास की दृष्टि से उत्तर प्रदेश की भूमिका महत्वपूर्ण रही है क्योंकि टप्पा गान शैली के प्रवर्तक गुलाम नबी **'शोरी मियाँ'** युवावस्था से ही लखनऊ आ बसे जहाँ अवध के दरबार में ठुमरी के साथ–साथ टप्पा गान शैली विकसित हुई और बाद में वे वाराणसी आ गये जिससे इन स्थानों पर इनके अनेक शिष्य तैयार हुये और यहाँ टप्पा शैली का खूब प्रचार–प्रसार हुआ।

मुख्यतः शोरीमियाँ उत्तर प्रदेश के संगीत संवर्धन केन्द्र, नवाबों की नगरी लखनऊ में बहुत समय तक रहे। उस समय के नवाब आसिफुद्दौला शोरी मियाँ का बहुत सम्मान करते थे। इनके शिष्य गामुन मियाँ ने इनसे टप्पा सीखकर बनारस मे चित्रा व श्यामा बाँदी को टप्पा गायन की शिक्षा दी, जिससे यह गायकी वाराणसी पहुँची। बाद में बड़ी मोतीबाई, बंगारीबाई, रसूलन बाई एवं सिद्धेश्वरी देवी आदि ने इस पर अधिकार प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद के भोलानाथ मिश्र, जिनके पास सौ टप्पों का भंडार था तथा पं० गणेश प्रसाद मिश्र, जिनके पास अप्रचलित टप्पों का अनोखा संग्रह है, का भी नाम बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार शोरी मियाँ से टप्पा सीखकर उनके शिष्य बनारस, लखनऊ, इलाहाबाद, रामपुर तथा अन्य प्रांतों में बस गये और अनेक शागिर्दों को टप्पा सिखाया।

विद्वानों के अनुसार गुलाम नबी शोरी मियाँ (18वीं शताब्दी) ने टप्पा शैली का निर्माण किया। शोरी मियां का जन्म पंजाब प्रांत के **झंगसियाल** गाँव में वहाँ के ग्रामवासियों के अनुसार हुआ था। इनके पिता गुलाम रसूल खाँ अपने समय की गान परंपरा के ख्याति प्राप्त गायक थे। कुछ विद्वानों के अनुसार ध्रुपद व ख्याल गायकी में अपनी तानें लगाने के कारण गुलाम नबी को अपने पिता से डाँट खानी पड़ी थी। फलतः वे घर छोड़कर चले गये और पंजाब जाकर टप्पे की रचना की। तो कुछ विद्वानों की मान्यता है कि गुलाम नबी की स्त्रियोचित पतली आवाज़ के कारण उनके पिता ने उन्हें पुरुषोचित गायकी की शिक्षा नहीं दी किन्तु कालांतर में गुलाम नबी ने अपनी संस्कारगत विलक्षण संगीत प्रतिभा एवं साधना से पंजाबी भाषा का अध्ययन किया और ऊँटहारों के मध्य प्रचलित अद्‌भुत हृदयस्पर्शी लोकधुनों के आधार पर एक नवीन गायन शैली **'टप्पा'** को जन्म दिया और पंजाबी भाषा में ही असंख्य श्रृंगार एवं विरहयुक्त गीतों की रचना अनेक रागों में की तथा इन बन्दिशों में उपनाम **'शोरी'** को जोड़ा। कहा जाता है कि एक बार पंजाब में घूमते समय शोरी मियाँ ने ऊँट हाँकने वाले व्यक्तियों को हीर–राँझे के प्रेमगीत गाते सुना। पंजाबी गीतों में छोटी–छोटी घुमावदार तानें और ऊँट की चाल के कारण गाने के बीच में हिचकोले खाती स्वरावली इनके मस्तिष्क में कुछ ऐसी बैठी कि इन ऊँटहारों के प्रेमगीतों में प्रदर्शित गले की विशिष्टता युक्त लोकधुनों की रसमाधुरी से प्रभावित होकर, सभी विशेषताओं का सम्मिश्रण करके टप्पा शैली के आविष्कार की प्रेरणा इन्हें मिली।

टप्पा शैली भारतीय संगीत के इतिहास में ही नहीं अपितु विश्व संगीत के इतिहास में भी अनुपम है। पंजाबी ठेका और उसके बोलों का वज़न आज भी विलंबित गीत में गायकों की लय की कसौटी बन जाता है। पंजाब की लोकप्रिय शास्त्रीय धुनों ने ही पंजाबी लोक संगीत को नवीन दिशा प्रदान की, ऐसा कहा जा सकता है। पंजाब जाकर ही शोरी मियाँ ने ऊँट चालकों द्वारा गाये गये टप्पों को सुना। एक विशिष्ट प्रकार की गायकी के रूप में उन्होंने शास्त्रीय पुट देकर टप्पे को नया रूप दिया।

पंजाब से आकर वे लखनऊ बस गये किन्तु उसके बाद उनका कोई भी शिष्य टप्पा गायन में निष्णात होकर पंजाब नहीं गया जिससे पंजाब में टप्पा गायन का विकास होता तथा पंजाब के गायकों ने टप्पे के विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया और यही कारण है कि पंजाब की भूमि पर आविष्कृत इस गान शैली का अपेक्षाकृत उत्तर प्रदेश में खूब प्रचार–प्रसार तथा विकास हुआ, जिसने यहाँ की सांगीतिक परंपरा की समृद्धता में एक और कड़ी जोड़ दी। अब मैं टप्पा गायन शैली की विशेषताओं तथा अन्य बिन्दुओं पर संक्षिप्त रूप में प्रकाश डालना चाहूँगी–

टप्पा गायन शैली उपशास्त्रीय संगीत की श्रेणी में आती है। ख्याल गायकी के बाद टप्पा गायकी का प्रचार हुआ। इसे हिन्दी भाषी प्रांतों में 'टप्पा', बंगला में 'टौप्पा' और पंजाबी में 'टप्पे' के नाम से जाना जाता है। 'टप्पा' शब्द पंजाबी भाषा के **'टप्पना'** शब्द से निर्मित है, जिसका शाब्दिक अर्थ है–उछलना, कूदना, फुदकना आदि। 'टप्पा' हिन्दी और पंजाबी भाषा के मिश्रण से बनी एक श्रृंगार रस प्रधान शैली है। इसकी प्रवृत्ति चंचल, लच्छेदार तानें, मुर्की, खटका आदि से ज्ञात होता है कि यह ख्याल तथा ठुमरी की गंभीरता से अत्यंत दूर है। 'टप्पा' को आरंभ से ही बोलों की छोटी–छोटी दानेदार तानों से सुसज्जित करना पड़ता है, सूक्ष्मतिसूक्ष्म दाने पिरोने पड़ने है, इसमें स्वरों पर विशेष रूकावट नहीं हुआ करती तथा बोल आलाप का कोई स्थान नहीं होता है। टप्पा गायन में तान का प्रयोग बहुत अधिक होता है। बन्दिश भी तानों से युक्त होती है। इसकी तानें दानेदार, जमजमा से युक्त होती है जो शाब्दिक अर्थ के अनुसार उछाल खाकर गिरती है। प्रत्येक प्रकार की जल्द गमक का प्रयोग टप्पे में किया जा सकता है किंतु गंभीर गमक के लिये इस शैली में स्थान नहीं है। तान चाहे सीधी हो या वक्र, दोनों ही प्रकार की तानों में आरोह व अवरोह करते समय बीच–बीच में दो–दो स्वरों के जोड़े दिखाते जाते हैं जैसे–ग म प ध ध प म ग रे स, ग म प प म ग रे सा, अथवा रें रें सां नी ध नी सां सां, नी ध प ध नी नी ध प, म प ध ध प म ग रे सा– ग म प ध नी सां, परन्तु ऐसा करते समय तान क्रम से बिना बीच में तोड़े पूर्ण

कर ली जाती है। इस प्रकार की तानें ही टप्पा की विशेषता है। ऐसी तान किसी अन्य शैली के लिये आवश्यक नहीं है किन्तु टप्पा पूर्णतः इसी पर आधारित होता है जो इसे अन्य शैलियों से अलग करती है साथ ही टप्पे में मींड का प्रयोग बहुत ही कम होता है। यह गायकी प्राकृतिक रूप से चपल है और चपलता की सबसे ऊँची चोटी इस गायन शैली का विशिष्ट गुण है। संक्षिप्तता के कारण एक आवर्तन में स्थाई तथा दूसरे आवर्तन में अंतरा गाने का प्रचलन हो गया। टप्पा गायन में राग की सभी विशेषताओं को समाहित करके टप्पे को सौन्दर्य प्रदान किया जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार ध्रुपद की बेसरा गीति के आधार टप्पा गान शैली की रचना हुई।

टप्पा की चाल मध्य लय की होती है। इस गायन शैली में चीज़ के मुखड़ों को अंदाज से निर्मित कर ताल के सम पर आने का विशेष महत्व होता है। भाँति–भाँति के स्वर सन्निवेशों का प्रयोग करके हर बार नई तरह से सम पर आने का, ताल के भराव के अनुरूप गायन एवं ताल पर नियंत्रण का विकास होता है। यही कारण है कि इस गायन के साथ जिन तालों का प्रयोग होता है उनकी लय झूमती रहती है। इस गायकी के साथ सोलह मात्राओं के ताल अधिक प्रचार–प्रसार में है, जिनमें पंजाबी, एकवाई, अद्धा, तीनताल, सितारखानी आदि उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त सात मात्रीय पश्तो ताल में भी टप्पे गाये जाते है, जिसका प्रयोग पंजाब के लोकसंगीत में भी होता है। "इसकी विषयवस्तु हीर व रांझा की गाथाओं से तथा प्रेम भाव के विभिन्न श्रृंगारिक रूपों से युक्त होती है।"[1] टप्पा के साथ प्रयुक्त होने वाले रागों में भैरवी, काफी, बिहाग, खमाज, देश, माँड, झिंझोटी, जयजयवन्ती, रागरूप, जंगला, सिन्दूरा, बरवा, पीलू, आदि प्रमुख हैं।

---

1. (i) O Goswami - The story of Indian Music. Page - 136
   (ii) Shri Padbandopadhyaya - "The evolution of songs" & lives of great musicians P. 60

लोकगीत के रूप में टप्पा :

टप्पा गायन शैली वस्तुतः अपने प्रारंभिक रूप में पंजाब प्रांत के लोकगीत के रूप में विख्यात थी। लोकगीत के रूप में गाये जाने वाले टप्पों की भाषा जनसामान्य की भाषा है। इन टप्पों में नखशिख वर्णन, प्रिय से मिलन की उत्कंठा, वियोग की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, हास–परिहास एवं व्यंग विनोद की बातें होती है। ये टप्पे विशेष धुनों में गाये जाते हैं। शास्त्रीय संगीत की झलक इनमें अवश्य मिलती है। ये प्रमुख राग हैं– भैरवी, काफी, माँड एवं पहाड़ी।
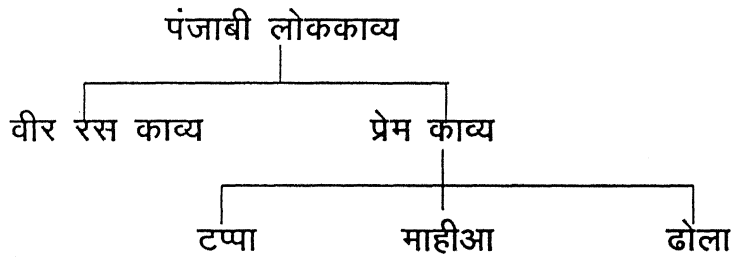
अधुना पंजाब में टप्पा नाम से कई लोकधुनें प्रसिद्ध हैं। लेकिन इन लोक शैलियों से 'उपशास्त्रीय प्रकार टप्पा' का कोई संबंध नहीं है। इन सादी धुनों का प्रयोग विवाह के शुभ अवसर पर किया जाता है। आज से लगभग 200 वर्ष पूर्व इन टप्पों का क्या रूप था, यह तो काल के गति में ही चला गया। इस प्रकार टप्पे के लोक संगीतमय रूप का इतिहास ज्ञात करना असंभव तो नहीं लेकिन कठिन अवश्य प्रतीत होता है। पंजाब में लोकगीत के रूप में गाये जाने वाले टप्पे इस प्रकार हैं। इस टप्पा गीत में दो गुट बनते हैं–

''टप्पे याँदी दे वारी, कुड़िये पंजाब दीये

टप्पेया तू ना हारी।''

हिन्दी अर्थ–लड़की से कहा जा रहा है कि तुम टप्पयाँ तो देने लगी हो लेकिन हारना मत।

''चौकी ते चौकियाँ, वारी ते तू ला बैठीरं

पर वारी देनी अखियाँ।''

हिन्दी अर्थ–वारी लगाने का तो तूने निश्चय कर लिया है, लेकिन वारी देनी बहुत कठिन है। इस प्रकार लोकगीतात्मक टप्पे में आपसी संबंधों की एक झलक, हँसी मज़ाक रहता है।

टप्पे के उपशास्त्रीय रूप का विकास (टप्पे का विकास):

उपशास्त्रीय रूप में प्रचलित टप्पे के उद्‌भव के संबंध में विभिन्न तथ्य सामने आते हैं–प्रसिद्ध ब्रजभाषी ग्रंथ, **"चौरासी वैष्णवन की वार्ता"** (16वीं शताब्दी) में ऐसा वर्णन एक स्थान पर प्राप्त होता है–"सो आगरे बाजार में एक वेश्या नृत्य करत हुती। ख्याल टप्पा गावत हुती और भीर हुती। सब लोग तमासो देखत हुते सो कृष्णदास बाजार में तमासे में जाय ठाड़े भय।" जिससे ज्ञात होता है कि 16 वीं शताब्दी में ख्याल, टप्पा अथवा टपख्याल की रचनाएँ लोकप्रियता के साथ गाई जाती थी किन्तु साक्ष्याभाव के कारण यह कहना कठिन है कि शोरी मियाँ के ज़मज़मा तान लेकर गाये जाने वाले टप्पों से ये कितने भिन्न हैं। प्रसिद्ध ग्रंथकार फकीरूल्लाह (17 वीं शताब्दी) के ग्रंथ में लाहौर प्रांत के एक प्रसिद्ध प्रेमगीत के रूप में टप्पे का उल्लेख प्राप्त है। मिर्ज़ा खान ने अपने ग्रंथ **'तुहेफतुलहिन्द'** ग्रंथ (17 वीं शताब्दी) में **'डपा'** नामक प्रेमगीत का उल्लेख किया है, जिसके सब लक्षण टप्पे के समान हैं। उसी समय के ग्रंथों में टप्पा नाम भी दिखाई देता है।

किन्तु उक्त तथ्यात्मक विश्लेषण से 16वीं से 18वीं शताब्दी तक टप्पा गायन शैली के गाने का ढंग क्या था, यह निश्चित करना कठिन है।

टप्पा गायन शैली के अंग :

टप्पे की दो गायन शैलियाँ प्रचलित हुई–(1) ग्वालियर, (2) बनारस अंग। पंजाबी टप्पे ग्वालियर घराने के गायकों में पंजाबी ठेका मध्य लय से भी कम या धीमा त्रिताल जैसा रहता है। स्वर पर न्यास, मींड का प्रयोग अधिक सुनाई पड़ता है जबकि बनारस और इलाहाबाद के गायकों में जहाँ टप्पा गायन का बनारस अंग प्रचलित है, १¹/₂ दाना

ज़मज़मा १ १/४, २ १/२, ३ ३/४ मात्रा की ज़मज़मा तानें लेकर सम पर चमत्कारपूर्ण आने की प्रथा है।

घरानेः टप्पा गायन के विविध घराने बने जिसमें उत्तर प्रदेश में बनारस और इलाहाबाद घराना निर्मित हुआ, जहाँ बनारस अंग से टप्पा गायन प्रचलित हुआ।

बनारसः शोरी मियाँ निःसंतान थे, फलस्वरूप आप द्वारा आविष्कृत टप्पा गायकी को लोकप्रिय बनाने का एकमात्र श्रेय आपके निष्णात पटु शिष्य गामू खाँ को है, जिन्होंने इस गायकी की शिक्षा अपने पुत्र शादी खाँ को दी। पिता एवं पुत्र एक लंबे अरसे तक काशी में रहे। उस समय काशी नरेश महाराज उदित नारायण सिंह सिंहासनारूढ़ थे जिनके शासनकाल में शादी खाँ दरबारी कलावन्त थे। टप्पा गायकी की इस अभिनव शैली से संगीत नगरी काशी अभिभूत हुई और इस विशिष्ट गायकी को शादी खाँ से आत्मसात करते हुए टप्पे की भरपूर शिक्षा लेकर बनारस की सुप्रसिद्ध गायिका चित्रा, इमामबाँदी ने इस गायकी में अद्‌भुत वर्चस्व एवं प्रसिद्धि प्राप्त की, जिनकी विलक्षण टप्पा गायकी ने पूरे बनारस में धूम मचा दी।

काशी के सुविख्यात प्रसिद्धू–मनोहर जी, जब अयोध्या के नवाब सादत अली के दरबारी गायक नियुक्त हुए तो सौभाग्य से उन्हीं दिनों आप दोनों भाइयों का परिचय शोरी मियाँ से हुआ। दोनों ही एक दूसरे की विद्धता से प्रभावित हुए, निःसंकोच गायन शैली का आदान–प्रदान हुआ और लगातार सात वर्षों के साथ से इन दोनों भाइयों ने टप्पा गायकी में महारत प्राप्त की और वर्चस्व स्थापित किया। इसके अतिरिक्त बनारस घराने में शिवसेवक मिश्र, पशुपति मिश्र, गामू खाँ, शादी खाँ, सिद्धेश्वरी देवी, रसूलन बाई, बड़ी मोतीबाई, गिरिजा देवी, बंगारी बाई, श्रीपति मिश्र, राजन व साजन मिश्र भी बहुत प्रसिद्ध हुये। मिश्र घराने के गायक अधिकांशतः द्रुतलय में ही टप्पा गायन पसंद करते हैं।

इलाहाबाद : इलाहाबाद में भी टप्पा गान शैली पल्लवित, विकसित हुई। यहाँ के टप्पा गायकों में भोलानाथ भट्‌ट तथा गणेश प्रसाद मिश्र विशेष प्रसिद्ध हुए।

टप्पा शैली का अन्य शैलियों पर प्रभाव :

भारतीय संगीत के कई गीत भेद दूसरी गान शैलियों से प्रभावित हुए हैं उसी प्रकार टप्पा शैली का प्रभाव भी अन्य शैलियों पर पड़ना स्वाभाविक ही था। टप्पा और ठुमरी इन दोनों गान शैलियों को लखनऊ क्षेत्र में बहुत प्रोत्साहन मिला। अतः एक ही प्रदेश में प्रचलित होने के कारण ठुमरी गान में टप्पा शैली का प्रभाव कुछ अंश में दिखाई पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप कुछ संगीतज्ञ ठुमरी में टप्पा शैली के खटके जमजमे और स्वरोच्चारों का प्रयोग करने लगे जो उनकी निजी तथा क्षेत्रीय विशेषता बन गई।

इसी प्रकार ख्याल गायन पर टप्पे का प्रभाव पड़ा। लखनऊ के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह के काल में **'टप्पा अंग'** से ख्याल गाना एक गर्व की बात मानी जाती थी। अनेक ख्याल इसी अंग पर रचे गये और टप्पे गायन की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। टप्पा अंग पर रचे गये ख्यालों को **'टपख्याल'** कहा गया। राग काफी में निबद्ध एक टप्पा जो कि पंजाबी त्रिताल में है, वो इस प्रकार है–

स्थाई – बोल सुना जानी सैंया रे।
सानू मान्दे जान्द फान्दे रे।।

अन्तरा – सरफना विच आलम बेरवा।
सुनो **शौरी** गले फान्दे जान्दे फान्दे रे।।

अब मैं उदाहरण के लिये टप्पा की एक स्वरलिपि प्रस्तुत कर रही हूँ–

टप्पा

राग काफी

ताल-टप्पा (सोलह मात्रा)

स्थायी – सद है जानी यारबे ए मियाँ।

अन्तरा – दोनों तरफ से है मुश्किल या रब तेरी दुहाई है न तावे वस्ल हारम नताकती जुदाई।

स्थायी

–	–	–	नीप	ग	रे	–	–ग
ऽ	ऽ	ऽ	सद	है	ऽ	ऽ	ऽऽ
2				0			
ममग	रेग–	सऽ	रे	म	–	रेम	पम
ऽऽऽ	ऽऽऽ	जा	नी	या	ऽ	ऽऽ	ऽर
3				X			
प	–	–	–	सारेम	पधनी	ध	प
बे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽए	ऽऽऽ	मि	याँ
2				0			
पधप	नीधप	मपम	धपम	गमग	पमग	रेगरे	मगरे
ऽऽऽ	ऽऽऽ	ऽऽऽ	ऽऽऽ	ऽऽऽ	ऽऽऽ	ऽऽऽ	ऽऽऽ
3				X			

अन्तरा

				रे	—	—,	नीप
				ऽ	ऽ	ऽ	सद
				2			
मम	पनी	सांनी	सांसां	धध	धध	—ध	धनीसां
दोनों	तरफ	सेमु	शिकल	यार	तेरी	ऽढु	ढाऽऽ
0				3			
सांनीध	नीध	प	—प	परें	सारें	निसां	धनी—प
ऽऽऽ	ऽई	है	ऽन	ताबे	वस्ल	दारम	नताऽक
x				2			
ध—ग	गमगम	पधपध	नीसांनीसां	रेंगंरेंसां	रेंसांनिसां	निधनिध	पधपम
तीऽजु	ऽऽऽऽ	ऽऽऽऽ	ऽऽऽऽ	ऽऽऽऽ	ऽऽऽऽ	ऽऽऽऽ	ऽऽऽऽ
0				3			
पमगम	सरेगरे	सारे——	नीप				
ऽऽऽऽ	ऽऽऽऽ	ऽई, ऽऽ	सद				
X							

अभिनव गीतांजलि —पं० रामाश्रय झा ' रामरंग', भाग—3, पृष्ठ— 232-233

सप्तम् अध्याय

गायन शैलियों के विकास में कुछ सांगीतिक परंपराओं का विशेष योगदान

(स) काशी की संगीत परंपरा

(रे) रामपुर की सांगीतिक परंपरा

(ग) हवेली संगीत : उत्तर प्रदेश की एक पुष्ट संगीत परंपरा

काशी की गायन परंपरा

भारतवर्ष के कुछ ही नगर ऐसे हैं जो व्यक्ति विशेष एवं संस्कृति विशेष के कारण सदियों से अलग पहचाने जाते रहे हैं। काशी नगरी को यह गौरव प्राप्त है। इसकी संस्कृति, कला, धर्म, दर्शन, गुण, चरित्र, विचार एवं संगीत परंपरा का मनोमुग्धकारी तथा अपराजेय इतिहास क्षण मात्र में मानस पटल पर अंकित हो उठता है। इस नगर की महत्ता बढ़ाने में यहाँ के गुणी, सन्त पंडित, साधक, महात्मा, औलिया, फकीर, अवधूत, कापालिक, साहित्यकार, चित्रकार, व्यंगकार, कवि, लेखक, नाटककार एवं गुणग्राहक राजा, रईसों एवं संगीतज्ञों की पीढ़ी का योगदान विशेष चिरस्मरणीय है, जिनके प्रकाण्ड पांडित्य प्रकाश से समय–समय पर पूरा विश्व आलोकित होता रहा। यही कारण है कि हर युग में अनेक धर्मों, संप्रदाय, साहित्य, कला, दर्शन, राजनीति, आयुर्वेद एवं संगीत के दिग्गज आचार्यों एवं प्रवर्तकों को भी यहाँ की पुण्यभूमि की मिट्टी को अपने मस्तक पर लगाकर इस नगरी को शत–शत नमन करना पड़ा है। प्रत्येक क्षेत्र में इस पावन भूमि ने ऐसे जाज्वल्यमान–नक्षत्रों को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया है, जिनकी विचारधारा, स्वाभिमान, देशभक्ति, कवित्वशैली, लेखन शैली, विद्वता, पांडित्य, कला साधना, गायन, वादन, नर्तनशैली से विद्वानों से लेकर जनसामान्य तक सभी प्रभावित हुए।

उत्तर प्रदेश की प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी काशी को अति प्राचीनकाल से ही सांस्कृतिक केन्द्रस्थली होने का गौरव प्राप्त है। शिल्प हो अथवा कला, धर्म हो अथवा दर्शन, साहित्य हो अथवा संगीत–सभी क्षेत्रों में इस अप्रतिम नगरी की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है, जिसने संपूर्ण विश्व को अपने पांडित्य की गरिमा से विमुग्ध कर मार्गदर्शक होने का गौरव अर्जित किया है। संगीत के विगत् 3–4 सौ वर्षों के प्राप्त आधे–अधूरे अवशिष्ट इतिहास के अवलोकन से यह स्पष्ट विदित होता है कि सरस्वती की अजस्त्र नाद धारा निरंतर प्रवाहित होकर आज भी इस नगरी एवं यहाँ के संगीतज्ञों के वर्चस्व को गौरव प्रदान करती चली आ रही है। संगीत जगत के जाज्वल्यमान

नक्षत्रों के रूप में इस नगरी के प्रसिद्धू—मनोहर मिश्र, शिवदास—प्रयाग मिश्र, पं० राम सहाय, सुमेरू मिश्र, बड़े गणेश मिश्र, शीतल मिश्र, दरगाही मिश्र, ठाकुर प्रसाद मिश्र, मिठाईलाल मिश्र, बलदेव सहाय, बिरई मिश्र, बिहारी मिश्र, ननकूलाल मिश्र, शिवा—पशुपति, मौजुद्दीन खाँ, बड़े रामदास मिश्र, छोटे रामदास मिश्र, सरजू प्रसाद मिश्र, पं० कंठे महाराज, सियाजी मिश्र, मौलवीराम मिश्र, रामू मिश्र, हरिशंकर मिश्र, दाऊजी मिश्र, पं० श्रीचन्द्र मिश्र, अनोखेलाल मिश्र, मुश्ताक़ अली खाँ, उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ, पं० रविशंकर, सितारा देवी, गुदई महाराज, किशन महाराज, गोपाल मिश्र, बैजनाथ मिश्र, सिद्धेश्वरी देवी, रसूलन बेग़म, पं० महादेव प्रसाद मिश्र, श्रीमती गिरिजा देवी, बागेश्वरी देवी, राजन—साजन मिश्र सरीखे अनगिनत सशक्त हस्ताक्षर अपने जीवनकाल में ही संगीत—जगत की गौरव गाथा बन चुके हैं।

काशी की संगीत परंपरा का क्रमबद्ध इतिहास यों तो प्रामाणिकता के अभाव में अप्राप्य सा है, किन्तु 16 वीं शती के पूर्व के इतिहास का अवलोकन करने पर कहीं—कहीं घटनाक्रम के उल्लेख से स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि संगीत—कला इस नगरी से पूरी तरह कभी भी विलुप्त नहीं हुई। भारतीय संगीत यहाँ के जन—जीवन में हमेशा से घुला—मिला रहा, भले ही उसकी सर्वव्यापकता न रही हो और वह एक वर्ग विशेष तक ही सीमित रही हो। काशी प्राचीनकल से ही संगीतनगरी के रूप में विख्यात रही है। यहाँ संगीत की समुन्नति के लिए शिक्षालयों की राज्य की ओर से व्यवस्था का वर्णन बौद्ध—ग्रन्थों की जातक कथाओं में वर्णित काशीराज ब्रम्हदत्त के शासन काल में प्राप्त है। उस समय यहाँ के प्रख्यात वीणावादक **'गुप्तिल'** ने उज्जैन के अपने समकालीन वीणावादक **'मुसिल'** को वीणावादन की प्रतियोगिता में पराजित किया था। बौद्धकालीन नगर वधुओं के माध्यम से नागरिकों का मनोरंजन होता था। नागरिकों के पारिवारिक, सामाजिक, मांगलिक एवं धार्मिक उत्सवों के अवसर पर इनके संगीत—नृत्य का प्रदर्शन अवश्य होता था। इनके प्रदर्शन में राम, कृष्ण के लीलापदों का भक्तिमय, संगीतमय नृत्य प्रदर्शन प्रमुख था। समाज में इनका पूर्ण सम्मान एवं आदर था। संगीत

ही इनकी आजीविका एवं भरण पोषण का मुख्य साधन था। यहाँ के धार्मिक वातावरण के प्रभाव से ये संगीत–व्यवसायिक नर्तकियाँ अछूती नहीं थी। जिससे समय–समय पर यहाँ के विभिन्न मन्दिरों, देवालयों एवं देव स्थानों में आयोजित झूलनोत्सव, जन्मोत्सव, वार्षिक एवं विशेष श्रृंगार आदि अवसरों पर नृत्य संगीत का रसास्वादन जनसामान्य भी सरलता से करती थी। यद्यपि इस वर्ग द्वारा संगीत को अपनी आजीविका, भरण–पोषण का व्यवसाय बना लेने से संगीतकला कुछ काल तक समाज से परित्यक्त सी हुई, किन्तु इन्हीं के द्वारा संगीतकला जीवित रह सकी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफ़र के दिल्ली छोड़ने के साथ दिल्ली दरबार से आने वाले संगीत कलावन्तों में वीणावादक, वारिस अली खाँ, टप्पा गायक अकबर अली खॉ, ध्रुपद गायक निसार अली खाँ, एवं ख्याल गायक सादिक अली खाँ काशी आए। यहाँ के संगीतमय आत्मिक वातावरण ने उन सभी को ऐसा प्रभावित किया कि वे मुग़ल दरबार के छूट जाने के ग़म को भूल गये और यहीं के होकर रह गये। गुलाम नबी शोरी के पिता गुलाम रसूल एवं मियाँ जानी दोनों ही अवध के नवाब आसफुद्दौला के दरबारी गायक थे। लेकिन नवाब के वज़ीर हसन खाँ से उचित सम्मान नहीं मिला, जिससे उन्होंने नौकरी छोड़ दी और गुलाम रसूल एवं उनके पुत्र शोरी मियाँ लंबे समय तक काशी में रहे।

वाराणसी में आमोद–प्रमोद की विविध कलात्मक परंपरा प्राचीनकाल से रही है। इस संदर्भ में इस नगर की दैनिक दिनचर्या में धार्मिक आस्था, वाणी की उदारता, शास्त्रनिपुणता, लेखनपटुता में निर्भीकता, संस्कृति, परंपरा एवं देशप्रेम, आस्था, निःशुल्क विद्यादान, गोदान, अन्नदान, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक गुणों से ओत–प्रोत इस नगर की गतिशीलता अन्य नगरों से सर्वथा भिन्न रही है। यहाँ के विद्वान सरस्वती के गंभीर उपासना में ही स्वाध्याय करते हुए शास्त्रों का निःशुल्क अध्ययन–अध्यापन कर वाग्देवी की दिव्य आराधना में ही अपना संपूर्ण जीवन व्यतीत कर हर्ष का अनुभव करते रहे हैं। यहाँ के विद्वान न केवल समस्त कलाओं में अपितु

व्याकरण, वेदान्त, न्याय, कर्मकाण्ड, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि के शास्त्रार्थ में भी अत्यंत प्रवीण एवं पटु थे। इसके अतिरिक्त यह प्राचीनकाल से ही संगीतनगरी के रूप में न केवल उत्तर प्रदेश में ही अपितु देश की सांस्कृतिक–राजधानी के गौरव को प्राप्त रही। आधुनिक काल में भी इस भूमि पर भारतीय संगीत फला–फूला है। भारतीय संगीत के उत्थान के लिए पूर्ण समर्पित विद्वान श्री विष्णु नारायण भातखण्डे एवं संगीत मनीषी श्री विष्णु दिगंबर पलुस्कर जैसे उत्कृष्ट विद्वानों से काशी के मूर्धन्य विद्वानों में संगीतशास्त्र, गायकी–नायकी सभी विधाओं के सुयोग्य प्रतिनिधि श्री दरगाही मिश्र आदि के मध्य वाराणसी के ठठेरी बाजार मुहल्ले में **'काशी संगीतसमाज'** की सभा में संगीतविषयक अनेक प्रचलित–अप्रचलित रागों, तालों एवं बन्दिशों एवं शास्त्रों में वर्णित अनेक धारणाओं पर विशद् विचार–विनमय, तर्क–वितर्क, खंडन–मंडन आदि का परस्पर आदान–प्रदान किया गया, अनेक भ्रांतियों के उन्मूलन हुए और इन विद्वानों की ज्ञानगरिमा से भातखंडे जी, विष्णु दिगंबर जी भी विशेष प्रभावित हुए। इस प्रकार यह बहुत पहले से ही विधा एवं विद्वानों का आकर्षण केन्द्र रहा है।

काशी नगरी के जीवनकाल में एक समय ऐसा भी था जब घरानेदार संगीतज्ञों के गढ़ के रूप में काशी का संपूर्ण क्षेत्र चार भागों में विभाजित था। इसमें से एक घराना **'तेलियानाला घराना'** दूसरा **'पियरी घराना'** तीसरा **'रामापुरा मुहल्ले का घराना'** और चौथा सबसे विराट घराने के रूप में संपूर्ण **'कबीर चौरा मुहल्ला'** जहाँ के पग–पग पर पूरी काशी के लब्ध–प्रतिष्ठ, विश्व विश्रुत गुणी गन्धर्वों का दो तिहाई से अधिक समुदाय निवास करता था। इस मुहल्ले में गायनक्षेत्र में श्री जगदीप मिश्र (ठुमरी गायक एवं मौजुद्दीन खाँ के आदर्श एवं गुरू) जयकरन मिश्र, श्री ठाकुर प्रसाद मिश्र आदि के घरानेदार विद्वानों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी चतुर्मुखी प्रतिभा सम्पन्न विद्वान थे, जो गायन, बीन, सारंगी, सितार, तबला एवं नृत्य के समुचित पारंगत एवं मान्य विद्वान थे। ऐसे पारंगत विद्वानों में पियरी घराना एवं श्री दरगाही मिश्र पूर्ण पटु मान्य विद्वान माने जाते थे।

वाराणसी का कबीर चौरा मुहल्ला सदियों से अब तक प्रमुख संगीतज्ञों का निर्विवाद मान्य गढ़ रहा है, जहाँ जन्म लेकर न जाने कितने विश्वविश्रुत विद्वानों ने इस मुहल्ले और नगर की ख्याति और गरिमा को विश्व में महत्वपूर्ण स्थान दिलाया है। इस मुहल्ले के संगीतज्ञों का कोई ऐसा परिवार शायद ही हो, जिसमें किसी न किसी समय किसी विश्वविख्यात कलाकार ने जन्म लिया हो। हर परिवार की किसी न किसी महान संगीत विभूति का अपने समय में संगीत क्षेत्र में विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान अवश्य रहा और आज भी मान्य है। हर घरानों की अपनी निजी व मौलिक विशेषता रही। किसी घराने में ध्रुपद, धमार, होरी का वर्चस्व था, तो कोई ख्याल शैली का। कोई टप्पा–ठुमरी अंग में, कोई सुरीलेपन मिठास में, कोई लयकारी प्रधान अंग में सुदक्ष, कोई स्वतंत्रवादन में अनुपम तो कोई संगति में बेजोड़ स्थान रखता था। कोई–कोई घराना ऐसा विशिष्ट रहा जो चारों पट की गायकी एवं वादनशैली में पूर्ण पटु एवं पारंगत था। सभी घरानों ने अपनी मौलिकता एवं विशेषता से अपनी अलग पहचान बना रखी थी और सभी घरानेदार एक दूसरे की मौलिक विशेषताओं का सम्मान करते थे तथा परस्पर प्रेमबंधन में बंधे थे। एक दूसरे की कला साधना के प्रशंसक और आपसी ईर्ष्या से कोसों दूर धुरन्धर गायक, विद्वान संगीताकाश के दैदीप्यमान नक्षत्र के रूप में काशी नगरी की ख्याति में चार चाँद लगा देते थे। काशी के घरानेदार संगीतज्ञों में एक ओर जहाँ ध्रुपद, धमार, होरी, ख्याल अंग के अनेक विशिष्ट कलाकार थे वहीं ठुमरी–टप्पा गायकी के ऐसे–ऐसे रससिद्ध कलाकार थे, जिनकी सूझबूझ, पैनेपन और मधुकरी गायकी का सिक्का कलाकारों से लेकर जनसामान्य तक सभी पर जमा था। यही कारण है कि सभी प्रकार की गायन शैली की समुचित शिक्षा देने वाले विशिष्ट विद्वानों की जितनी विशाल संख्या इस नगरी को प्राप्त रही, उतनी संख्या में किसी अन्य नगर में मूर्धन्य विद्वान, कलाकारों का मिलना कठिन रहा जिसके कारण नगर का साधारण संगीत श्रोता भी संगीत के कार्यक्रमों को बराबर देखते–सुनते उनकी बारीकियों से परिचित रहा। काशी में समय–समय पर संगीत की गायन विधा में विविध

संगीत मनीषियों, साधकों, कलाकारों के द्वारा जो प्रयत्न किये गये, यदि हम उन्हें ऐतिहासिक कालक्रम में रखकर मूल्यांकित कार विचार करें, तो सबसे पहले उनका विभाजन घरानों की दृष्टि से समीचीन होगा। काशी में गायन की विविध शैलियों के अनेक घराने प्रचलित हुए और उससे संबंधित साधकों की साधना से उत्तरोत्तर विकसित होते रहे, जिनका परिचय इस प्रकार है :–

पियरी घराना

दिलाराम मिश्र :

इस गायन घराने के प्रथम संगीत महापुरूष एवं प्रवर्तक के रूप में पंडित दिलाराम मिश्र का उल्लेख मिलता है। आपका समय 16 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को माना जा सकता है। आपके पूर्वज गोण्डा–बलरामपुर के मठाधिपति एवं वैष्णव धर्म प्रचारक थे। मुग़ल सम्राट बाबर के विजयी उन्मत्त सेना ने न केवल आपके पूर्वजों के महलों को ध्वस्त किया, अपितु वहाँ के मठाधिपति को मौत के घाट उतार दिया। दुःखी पारिवारिक सदस्यों के साथ पं० जी ने सदैव के लिए वहाँ से अन्यत्र पाँच भाईयों सहित राधा वल्लभ संप्रदाय के विद्वान संगीतज्ञ श्री 108, हित हरिवंश जी से 30–35 वर्षों तक संगीत की उत्कृष्ट शिक्षा ग्रहण कर छन्द, प्रबन्ध, विष्णुपद, ध्रुपद आदि शैलियों पर विशेष अधिकार प्राप्त किया। सभी भाईयों ने संगीत के प्रचार–प्रसार का संकल्प लेकर विभिन्न दिशाओं की ओर प्रस्थान किया। दिलाराम मिश्र काशी को अपनी कर्मस्थली बनाने का अपने मन में निश्चय किया एवं उनके भ्राता चिन्तामणि मिश्र ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। बाकी भाईयों के विषय में अभी तक इतिहास अप्राप्य है। दिलाराम मिश्र ने अपनी संगीत साधना पूर्ण हो जाने पर **'सेवक'** उपनाम से अनेक ध्रुपदों की रचना की। इस उपनाम से प्राप्त सभी ध्रुपद दिलाराम मिश्र की ही रचनाएँ हैं। आप विष्णुपद, ध्रुपद गायक, मूर्धन्य विद्वान नायक एवं विशिष्ट रचनाकार थे। आपके एकमात्र पुत्र जगमन मिश्र थे। प्रसिद्धू–मनोहर मिश्र सरीखे वंशजों ने इस घराने को होरी, टप्पा, ख्याल आदि शैलियों से भी समद्ध कर इन पर भी अपना वर्चस्व स्थापित किया।

श्री चिन्तामणि मिश्र :

आप श्री दिलाराम मिश्र के सहोदर भ्राता एवं उच्च कोटि के संगीत विद्वान थे। आप अपने युग के विलक्षण ध्रुपद गायक एवं अप्रतिम ध्रुपद रचनाकार, संगीत नायक थे, जिसका उल्लेख संगीतोद्धारक श्री विष्णु नारायण भातखंडे द्वारा लिखित मराठी भाषा की पुस्तक **'क्रमिक पुस्तकमाला'** में मिलता है। श्री चिन्तामणि की विलक्षण गायकी–नायकी से पूना व पेशवा दरबार विशेष प्रभावित हुआ और आप पेशवा दरबार के विशिष्ट दरबारी कलावन्त के पद पर प्रतिष्ठित हुए जहाँ पर आपने श्री रामकृष्ण देव 'देवजी बुआ' के नाम से विख्यात ध्रुपद गायक को संगीत शिक्षा देकर मूर्धन्य ध्रुपद गायकी में निष्णात किया। प्रथम ग्वालियर घराने के संस्थापक लखनऊ के गुलाम रसूल थे, जिनकी परंपरा में ख्याल गायक शक्कर खाँ, मक्खन खाँ, पीरबख्श, हद्दू खाँ, हस्सू खाँ, शंकर पंडित, कृष्णराव पंडित, एल०के० पंडित आदि आते है। द्वितीय ग्वालियर घराने के संस्थापक काशी के स्वनामधन्य संगीत नायक श्री चिन्तामणि मिश्र थे, जिनकी शिष्यि परंपरा में रामकृष्ण देव 'देवजी बुआ' उनके शिष्य बालकृष्ण इचलकरंजीकर, उनके शिष्य संगीतोद्धारक संगीत सन्त श्री विष्णु दिगंबर पलुस्कर एवं उनकी शिष्य परंपरा में पं० ओंकार नाथ ठाकुर, विनायक राव पटवर्धन, नारायण राव व्यास, डी०वी० पलुस्कर,उनके शिष्यों में मनोहर बर्वे, सुनंदा पटनायक, नारायण राव पटवर्घन, विद्याधर व्यारा गायकों एवं विद्वान संगीत शिक्षकों के रूप में एस०एस० बोडस, वी०एन० कशालकर आदि की महान संगीत सेवा से संगीत जगत सुपरिचित है। श्री चिंतामणि की शिष्यों–प्रशिष्यों की दूसरी श्रृंखला में श्री भालेराव (ठुमरी गायक), गनपत राव (धमार गायक), रावजी बुवा गोगटे (टप्पा गायक), महाराष्ट्र के टप्पा गायक श्री नारायण बुआ फलटणकर उनके शिष्य सुप्रसिद्ध संगीत शास्त्री बी०आर० देवधर, लाल जी बुवा (ध्रुपद–धमार गायक), उनके पुत्र केशव गणेश (कलकत्ता निवासी) एवं शिवा दत्तोपन्त दीक्षित अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। चिन्तामणि मिश्र की शिष्य परंपरा में दीक्षित नारायण शास्त्री के शिष्य नारायण बुआ फलटणकर के विलक्षण गायन एवं विद्वता से प्रभावित होकर मथुरा में अनेक चौबे आपके शिष्य हो गये, जिसमें चन्दन चौबे भी थे। इस प्रकार

संगीत के विशाल वट वृक्ष के रूप में काशी के श्री चिंतामणि मिश्र ने अपनी छत्रछाया में पुष्पित, पल्लवित, शिष्य–प्रशिष्य परंपरा में अनेक नवीन घरानों की उत्पत्ति एवं विकास में अविस्मरणीय योगदान देकर काशी के घरानेदार गायन परपरा की गरिमा को संगीत जगत में विशेष शीर्षस्थ आसन प्रदान किया है।

श्री जगमन मिश्र :

श्री दिलाराम जैसे अनुपम विद्वान, वाग्गेयकार, गायक, नायक एवं विद्वान संगीत शास्त्री के एकमात्र पुत्र के रूप में जगमन मिश्र ने अपनी वंश परंपरा की प्राचीन धरोहर को पिता के मार्गनिर्देशन में बचपन से ही ग्रहण करना प्रारम्भ किया, और शनैः–शनैः अपनी कठोर साधना, कुशाग्रता एवं पिता के मार्गदर्शन से आपकी संगीत प्रतिभा प्रकाशित होती गई और कालान्तर में जगमन मिश्र ने अपनी संगीत साधना से पिता की ही भाँति गायकी–नायकी प्रतिभा की प्रतिमूर्ति बनकर अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा से संगीतजगत को न केवल प्रभावित किया अपितु पिता की ही भाँति यशस्वी होने का गौरव प्राप्त किया तथा पूर्ण आयु प्राप्त कर दिवंगत हुए।

श्री ठाकुर दयाल मिश्र :

श्री जगमन मिश्र के एकमात्र पुत्र श्री ठाकुरदयाल मिश्र अपने घराने के सुयोग्य यशस्वी वंशज एवं ख्याल गायन शैली के संस्थापक नियामत खाँ **'सदारंग'** उनके जगाता फिरोज खाँ **'अदारंग'** के समकालीन संगीत विद्वान थे। आपके पूर्व तक वंश परंपरा में प्रचलित विष्णुपद, ध्रुपद, प्रबंध आदि गायन शैली का ही वर्चस्व था। किंतु समकालीन विद्वान सदारंग, अदारंग के द्वारा आविष्कृत नवीन गायन शैली ख्याल ने भी आपको प्रभावित किया और दूसरी ओर सदारंग–अदारंग आपकी प्रभावोत्पादक विष्णुपद ध्रुपद आदि गायनशैली से विशेष प्रभावित हुए, जिसके फलस्वरूप आपसी सहज सौजन्य से दोनों ही शैलियों का आदान–प्रदान विद्वानों में हुआ। इस प्रकार श्री ठाकुर दयाल मिश्र के व्यक्तिगत झुकाव से ख्याल गायन शैली का पियरी घराना में प्रवेश

हुआ। ठाकुर दयाल को तीन पुत्र क्रमशः मनोहर मिश्र, हरप्रसाद मिश्र (प्रसिद्धू जी) एवं विश्वेश्वर मिश्र हुए, जिन्हें ठाकुर दयाल जी ने अपनी वंश–परंपरा की प्राचीन गायकी के साथ–साथ नवीन प्रचलित ख्याल आदि शैलियों की भी भरपूर एवं उत्कृष्ट शिक्षा प्रदान की।

श्री प्रसिद्धू एवं मनोहर मिश्र :

गायन क्षेत्र में प्रसिद्धू–मनोहर मिश्र की जोड़ी ने अतिशय यश प्राप्त कर काशी को गौरवान्वित किया। विश्वेश्वर मिश्र ने बाद में तंत्र वादन में विशेष रूचि लेकर मुग़ल सम्राट बहादुर शाह ज़फ़र दरबार के सुप्रसिद्ध तंत्रवादक उस्ताद रज़ा खाँ का सानिध्य प्राप्त किया और सितार वादन के क्षेत्र में काशी को धनी बनाने का गौरव हासिल किया। पिता द्वारा प्रदत्त उत्कृष्ट संगीत–शिक्षा, कठोर अनुशासन, नियमित संगीत साधना एवं वंशानुगत ईश्वरप्रदत्त संगीत प्रतिभा ने शीघ्र ही आप भ्राताओं को संगीत जगत में चर्चित कर दिया। जिसके फलस्वरूप मुग़ल सम्राट बहादुर शाह ज़फ़र के दिल्ली दरबार तक आप लोगों की कीर्ति पहुँची। सम्राट ने ससम्मान आप लोगों को बुलाकर अपने दरबार का विशिष्ट कलावन्त नियुक्त किया और स्वयं प्रसिद्धू मिश्र से संगीत शिक्षा ली।

श्री रामकुमार मिश्र :

श्री मनोहर मिश्र के एकमात्र पुत्र रामकुमार मिश्र का जन्म लगभग सन् 1834 ई० के आसपास हुआ था। बाल्यकाल से ही निरन्तर चलती कठोर संगीत साधना ने आपको अल्पकाल में ही युवावस्था आते–आते अप्रतिम सुकंठ तथा सुदक्ष गायक बना दिया। प्रसिद्धू मिश्र के नेपाल चले जाने पर मनोहर मिश्र कलकत्ता चले आये और रामकुमार मिश्र को ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, होरी, ठुमरी आदि की भरपूर विशिष्ट शिक्षा प्रदान की। कालांतर में अपनी वंश परंपरा के विलक्षण प्रतिभाधनी, सुकंठ, सुदक्ष गायक के रूप में आपने काशी का नाम उज्जवल किया।

श्री शिवसहाय मिश्र :

आप प्रसिद्धू मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र थे। आपको संगीत की समुचित शिक्षा बाल्यावस्था से ही पिता एवं चाचा के कुशल मार्गदर्शन में प्राप्त हुई। आपके पास ध्रुपद, धमार, होरी, ख्याल,टप्पा आदि शैलियों की विलक्षण बन्दिशों का बहुमूल्य भंडार संग्रहीत एवं सुरक्षित था। श्री शिवसहाय मिश्र अपने घराने में प्रचलित सभी गायन शैलियों के पारंगत विद्वान के साथ–साथ टप्पा गायकी के भी अप्रतिम विशिष्ट गायक थे। इस कारण आप अपने युग के **'शोरीमियाँ'** कहे जाते थे। श्री शिवसहाय की शिष्य परंपरा में काशी के ठाकुर प्रसाद मिश्र, दरगाही मिश्र, महेशचन्द्र मुखर्जी आदि विशिष्ट संगीत विद्वान के रूप में प्रख्यात हुए जिन्होंने आपसे गायन की शिक्षा प्राप्त कर काशी का गौरव बढ़ाया।

श्री रामसेवक मिश्र :

आप शिवसहाय मिश्र के लघु भ्राता एवं प्रसिद्धू मिश्र के कनिष्ठ पुत्र थे। आपका जन्म सन् 1845 ई० में हुआ था। रामसेवक मिश्र गायन की शिक्षा पिता, ज्येष्ठ भ्राता एवं तबला वादन की शिक्षा मामा प्रताप महाराज (गुदई महाराज के प्रपितामह) से प्राप्त हुई। आपने तबला वादन विषयक दो उत्कृष्टग्रंथ **'तबला प्रकाश'** एवं **'तबला विज्ञान'** की रचना की। पिता से धमार, ख्याल, टप्पा आदि गायन शैलियों के साथ ही सुरबहार, सितार आदि की भी यथेष्ट शिक्षा प्राप्त की। इस प्रकार गायन, तंत्रवादन एवं तबला वादन में भी आपने अधिकार प्राप्त किया। आपके दो यशस्वी पुत्रों में ज्येष्ठ श्री पशुपति सेवक मिश्र एवं कनिष्ठ श्री शिवसेवक मिश्र ने अपनी विलक्षण संगीत–साधना से कालांतर में संगीत जगत में अपना विशिष्ट स्थान बनाया और कुल गौरव कहलाने का अधिकार प्राप्त किया।

श्री लक्ष्मीदास मिश्र :

अपने युग के 'अवतारी संगीत महापुरूष' के रूप में पूरे बंगाल के संगीत प्रेमियों के घर–घर में पूजित श्री लक्ष्मीदास मिश्र का जन्म सन् 1860 ई० में हुआ था। आपने ध्रुपद, ख्याल, वीणा, सितार आदि की संपूर्ण शिक्षा पिता श्री रामकुमार मिश्र से प्राप्त की। गायन की विविध शैलियों के कुशल ज्ञाता, वीणा, सितार आदि वाद्यों के अधिकारी विद्वान एवं तबला, पखावज के पूर्ण पटु लक्ष्मीदास मिश्र की काशी के चतुर्मुखी प्रतिभाधनी विद्वानों में गणना थी, जो अतिशयोक्ति नहीं है। आपके अनेक शिष्यों में प्रमुख अनाथनाथ बसु, सुबोधनागी, जगदीशचन्द्र घोष, श्यामचरण, राजा सौरीन्द्र मोहन ठाकुर, क्षेमेन्द्र मोहन ठाकुर, मणिक लाल हाल्दार, सतीशचन्द्र अर्णव, पाथुरियाधार घोष–वंश के मन्मथनाथ घोष एवं सजातीय शिष्यों में मदनमोहन मिश्र, विनायक मिश्र, बूँदी मिश्र तथा वंश परंपरा में पं० रामकृष्ण मिश्र आदि ने विशेष ख्याति अर्जित की। श्री लक्ष्मीदास मिश्र ने अपार धन, यश, प्रसिद्धि प्राप्त कर 7 दिसम्बर सन् 1929 ई० को कलकत्ता में शरीर त्याग किया।

श्री शिवसेवक मिश्र :

काशी के पियरी घराने की संगीत परंपरा के सुयोग्य प्रतिनिधि ध्रुपद, धमार, ख्याल, टपख्याल, होरी, टप्पा गायन शैलियों के अद्वितीय विद्वान गायक श्री शिवसेवक मिश्र का जन्म सन् 1884 ई० नेपाल में हुआ था। विविध गायन शैलियों की परंपरागत शिक्षा आपको अपने पिता श्री रामसेवक मिश्र एवं अग्रज श्री पशुपति सेवक मिश्र से प्राप्त हुई। टपख्याल की गायकी की शिक्षा नेपाल प्रवास के दौरान शिवसेवक मिश्र ने टपख्याल गायकी के प्रवर्तक एवं नेपाल दरबार में नियुक्त विशिष्ट कलावन्त उस्ताद इनायत हुसैन खाँ से प्राप्त की। कालांतर में अपनी विशिष्ट संगीत साधना एवं प्रतिभा से दोनों भाईयों की यह अनूठी जोड़ी नेपाल तथा संपूर्ण भारतवर्ष में **'शिवा-पशुपति की जोड़ी'** के नाम से विख्यात हुई और काशी का गौरव बढ़ाया। नेपाल से वर्षों बाद

यथेष्ट सम्मान, यश और धन ार्जित कर आप काशी आये। अनेक वर्षों के प्रवासकाल में अपने वंशजों एवं शिष्यों क संगीत क्षेत्र में निष्णात कर बाद में आप स्थाई रूप से कलकत्ता जा बसे। आप अप युग में ध्रुपद, टपख्याल, ख्याल आदि विभिन्न गायन शैलियों के शीर्षस्थ माने जाते थे। लगभग दो सौ होरी, दो सौ ख्याल, टपख्याल, सौ सादरा, टप्पा आदि का अलौवि क भंडार आपको कंठस्थ था तथा संगीत संग्रह में सुरक्षित था। सन् 1933 में आपकी मृत्यु हो गई। आपकी मृत्यु के पश्चात् आपके पुत्रों क्रमशः रामकृष्ण मिश्र, भानुसेवक मिश्र, विष्णु सेवक मिश्र ने घराने की गरिमा को सुदृढ़ रखा।

श्री शिवसेवक मिश्र की शिष्य परंपरा में श्री ललित मोहन दास, विजय दास पाकड़े, सतीश चन्द्र डे, अनि । कृष्ण राय, दुर्गा विश्वास, क्षेमेन्द्र मोहन ठाकुर आदि ने विशेष ख्याति अर्जित कर '**ियरी घराने**' की अनूठी शैली को संपूर्ण बंगाल प्रान्त में जन–जन तक प्रचारित, प्रसारि एवं लोकप्रिय बनाने में विशेष योगदान दिया।

श्री रामकृष्ण मिश्र :

संगीत जगत में काशी की गौरव गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखने में घरानेदार गायकी के लिए सुप्रसिद्ध '**पिय ी-घराना**' का विशेष एवं महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस घराने में ऐसे अनेक विलक्षण ागीतज्ञ हुए है, जिन्होंने अपनी साधना, विवेक, तपस्या से संगीत जगत का पथ प्रशर । करते हुए कुशल मार्ग निर्देशन किया और काशी की घरानेदार गायकी का वर्चस्व ब ाये रखा। संगीत के दैदीप्यमान नक्षत्रों की श्रृंखलाबद्ध श्रेणी में अपने पूर्वजों की ही भाँति श्री रामकृष्ण मिश्र का नाम भी उल्लेखनीय है। आपका जन्म संवत् 1961, चैत्र मास सन् 1905 ई० में हुआ था। 5 वर्ष की अवस्था में ही आपकी संगीत शिक्षा रामसेवक मिश्र के द्वारा आरंभ हुई जिनसे आपने लगातार 10 वर्षों तक अपने घराने की विशिष्ट गायकी में स्वर, ग्राम, रागदारी, सरगम एवं तबलावादन की शिक्षा ली। आपके दादा विविध विषयों के मूर्धन्य विद्वान थे। 16 वर्ष से 28 वर्ष की उम्र तक लगातार 12 वर्षों तक अपने पूज्य पिता श्री शिवसेवक मिश्र की सेवा करते हुए धुपद, धमार, हरी, टप्पा, टपख्याल, गुलनक्श, तिरवट, तराना, चतुरंग,

रागमाला, बन्धेजी सरगम, ख्याल, ठुमरी (बनारसी एवं लखनवी) आदि की भरपूर शिक्षा ग्रहण की और अपने घराने में ठुमरी की परंपरा की नींव डालकर अपनी कठोर संगीत साधना से विविध गायन शैलियों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर और दैनिक अभ्यास से मनमोहक बनाकर एक विलक्षण सुकंठ, सुदक्ष गायक के रूप में पं० रामकृष्ण मिश्र ने अल्प समय में ही संगीत जगत में विशेष स्थान बना लिया। आपने लगभग 14 वर्ष की अल्पायु में अपने ताऊ एवं पिता के साथ मद्रास संगीत सम्मेलन में भाग लेकर अपनी ईश्वर प्रदत्त संगीत प्रतिभा से लोगों को प्रभावित कर अतिशय प्रशंसा एवं ख्याति अर्जित की। सन् 1949 ई० में बंबई में आयोजित प्रथम **'स्वामी हरिदास संगीत सम्मेलन'** में अपनी घरानेदार विशिष्ट ध्रुपद, धमार गायकी से संपूर्ण महाराष्ट्र में आपको अपार लोकप्रियता मिली। जनसामान्य में लोकप्रिय प्रचलित रागों के साथ–साथ अनेक अप्रचलित कठिन रागों पर भी आपका असाधारण अधिकार था, जिससे आप उन रागों को भी अत्यंत कुशलता एवं सहजता से गाने में सिद्धहस्त थे, जिनमें राग पंचम, हेम, क्षेम, सोमेश्वरनारायण मत का राग बसंत आदि विशेष उल्लेखनीय थे। अपनी विशिष्ट प्रतिभा से आप कुछ रागों को जैसे ललित–कोमल धैवत, शुद्ध धैवत से, बसन्त–कोमल व शुद्ध दोनों धैवत से, पूर्वी– कोमल व शुद्ध दोनों धैवत से गाने में पूर्ण प्रवीण थे। आपके एकमात्र पुत्र मारूतिनन्दन मिश्र (मिट्ठूलाल मिश्र) एवं शिष्यों में शैलेन्द्र बनर्जी, शीतल कुमार घोष, प्रतापचन्द्र ब्रम्हचारी, गंगा कल्याणपुरकर, प्रभा नाग आदि प्रमुख रूप से शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में उल्लेखनीय रहे। चलचित्र जगत में संगीत निर्देशन के क्षेत्र में अनिल विश्वास, राबिन राय, जटाधर पाइन, सूर्यकुमार पाल आदि ने विशेष ख्याति अर्जित की।

श्री भानुसवेक मिश्र :

काशी के पियरी घराने की उत्कृष्ट गायन परंपरा में सुप्रसिद्ध विद्वान श्री शिवसेवक मिश्र के द्वितीय पुत्र भानुसेवक मिश्र का जन्म 1908–9 ई० के आस–पास हुआ था। बाल्यकाल से ही संगीत की शिक्षा पूज्य पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता रामकृष्ण मिश्र

के निर्देशन में आरंभ हुई। बचपन से ही आप कुशाग्र बुद्धि के थे जिससे शीघ्र ही अपनी साधना, निष्ठा एवं नियमित अभ्यास से आप कुशल गायक के रूप में विख्यात होते गये। ध्रुपद, ख्याल आदि सभी शैलियों की वंश–परंपरा विशेषता युक्त गायकी से आपने लोगों को प्रभावित किया एवं विलक्षण बन्दिशों एवं टप्पा गायकी के सुदक्ष गायकों में आप गिने जाने लगे। बाद में मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाने से काशी में सन् 1949 ई० में आपकी मृत्यु हो गई। आपके एकमात्र पुत्र श्री सुरेन्द्र मोहन मिश्र में संगीत की नैसर्गिक प्रतिभा गायन–वादन में विद्यमान है। पिता की भाँति संकोची, मिलनसार सुरेन्द्र मोहन मिश्र ने काशी में रहते हुए सेन्ट्रल हिन्दू गर्ल्स स्कूल के लोकप्रिय संगीत शिक्षक के रूप में संगीत जगत की सेवा की।

श्री विष्णुसेवक मिश्र :

काशी के प्रख्यात युगप्रवर्तक गायक बन्धु **'प्रसिद्धू-मनोहर मिश्र'** की वंश परंपरा की अटूट दैदीप्यमान श्रृंखला के विद्वान संगीत नक्षत्र शिवसेवक मिश्र के तृतीय कनिष्ठ पुत्र श्री विष्णु सेवक मिश्र का जन्म सन् 1918 ई० में हुआ था। पीढ़ी दर पीढ़ी से अविच्छिन्न चली आ रही सांस्कृतिक विरासत के संगीतमय वातावरण में पलने एवं बढ़ने का सौभाग्य आपको बचपन से ही मिला जिससे संगीत के प्रति रूचि, स्वाभाविक संस्कार बनी। पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता के सानिध्य में संगीत शिक्षा आरंभ हुई जो परिपक्वता के साथ बढ़ती गई।

अपने घराने की पैतृक विरासत की विशिष्ट एवं प्रतिष्ठित गायकी के कुशल गायक के रूप में आपने विशेष ख्याति अर्जित की। बंगाल प्रांत के 'माल्दा' नगर के संगीत प्रेमियों के विशेष आग्रह और आत्मीय प्रेम के कारण विष्णु सेवक मिश्र को काशी छोड़कर सपरिवार माल्दा जा बसना पड़ा। वहाँ जाकर आपने अनेक सभ्रांत राजपरिवार, जमींदार एवं जनसामान्य संगीत प्रेमियों के बीच संगीत कला का बीज अंकुरित किया और आजीवन वहीं के होकर रह गये। श्री विष्णु सेवक मिश्र की भी गायकी अपनी वंश

परंपरा की मर्यादा से मण्डित रही है और अपने ज्येष्ठ भ्राता रामकृष्ण मिश्र की ही भाँति आप भी ध्रुपद, धमार, होरी, टप्पा, ख्याल, ठुमरी सभी गायन शैलियों के कुशल गायक एवं ज्ञाता विद्वान थे। आपकी आवाज अत्यंत दमदार, मनमोहक, खुली एवं सुरीली थी। लुभावने व्यक्तित्व से मंडित ओजपूर्ण स्वस्थ शरीर सौष्ठवयुक्त विष्णु सेवक मिश्र में अपने घराने की सभी पारम्परिक विशेषताएँ विद्यमान थी, फलतः आप सबके प्रिय कलाकार रहे। आपके तीन पुत्र बाबू, लड्डू और दिनेश मिश्र माल्दा में रहते हुए संगीत सेवा कर रहे हैं। आपके शिष्यों में यतीन्द्रनाथ घोष तथा शीतलकृष्ण घोष ने विशेष ख्याति अर्जित की। सन् 1980–81 में आप माल्दा में ही दिवंगत हुए, किन्तु अपने घराने की अंतिम कड़ी के विद्वान प्रतिनिधि गायक के रूप में आप संगीत जगत में सदैव याद किये जाते रहेंगे।

श्री मारूतिनन्दन मिश्र :

पियरी घराने के अप्रतिम विद्वान गायक श्री रामकृष्ण मिश्र के एकमात्र पुत्र श्री मारूतिनन्दन मिश्र (मिट्ठूलाल मिश्र) का जन्म 1930–31 ई० के आसपास हुआ था। बचपन से ही संगीत की शिक्षा पिता एवं दोनों चाचा लोगों से मिली और धीरे–धीरे आप अपने घराने की विशिष्ट गायकी से परिचित होते गये। कुछ वर्षों के लिए आप अहमदाबाद की एक लोकप्रिय संगीत संस्था में संगीत शिक्षण के पद पर कार्यरत रहे, किंतु स्वास्थ्य अनुकूल न होने के कारण आप पुनः काशी आ गए। काशी में रहते हुए आपने नगर के अनेक सांस्कृतिक समारोहों में कुशल हारमोनियम वादक के रूप में भाग लिया। रेडियो संगीत सम्मेलन, दूरदर्शन के भारत के अनेक नगरों के कार्यक्रमों में आपने अपने निकटस्थ संबंधी राजन–साजन मिश्र के साथ हारमोनियम–वादक के रूप में भाग लिया और उन्हीं के साथ श्रीलंका की यात्रा भी की। श्री मिट्ठूलाल मिश्र की अचानक हृदयगति रूक जाने के कारण 22 अक्टूबर सन् 1989 ई० में काशी में ही मृत्यु हुई। आपके एकमात्र पुत्र राजेश मिश्र तबला वादन के क्षेत्र में सक्रिय हो रहे है।

इस प्रकार हम देखते है कि काशी का 'पियरी घराना' शनैः–शनैः संगीत की वैविध्यतापूर्ण विधाओं से परिपूर्णता को प्राप्त हुआ। यथा–इस घराने के प्रतिनिधि भी ठाकुर दयाल मिश्र का संपर्क जब ख्याल गायकी के प्रवर्तक नियामत खाँ **'सदारंग'** से हुआ तो पियरी घराने में ख्याल गायनशैली भी समाविष्ट हुई। प्रसिद्धू–मनोहर मिश्र ने शोरी मियां के संपर्क में आने पर **'टप्पा'** गायकी से घराने को समृद्ध किया। विश्वेश्वर मिश्र ने बहादुर शाह ज़फर दरबार के दरबारी कलावंत उस्ताद रज़ा खाँ से सितार की शिक्षा प्राप्त की और घराने में तंत्रवादन को प्रतिष्ठापित किया। पशुपतिसेवक मिश्र ने नेपाल दरबार के सुप्रसिद्ध बीनकर मुहम्मद खाँ से बीन की शिक्षा 15 वर्षों तक विधिवत् ग्रहण कर वादनशैली पर अद्‌भुत अधिकार प्राप्त किया। श्री शिवसेवक मिश्र ने अपने घराने की विशेषताओं के साथ–साथ नेपाल दरबार के विशिष्ट कलावन्त गायक 'टपख्याल' शैली के प्रवर्तक इनायत हुसैन खाँ से **'टपख्याल'** की विशिष्ट शिक्षा लेकर अपने घराने की गायनशैली के साथ–साथ अन्य शैली पर भी विशेष अधिकार प्राप्त किया। साथ ही इस घराने के नक्षत्री गायक बन्धु स्वनामधन्य प्रसिद्धू–मनोहर मिश्र की शिष्य परंपरा में पांत नरेश महाराज महेन्द्र प्रताप सिंह, मुग़ल सम्राट बहादुर शाह ज़फर आदि एवं घराने की शिष्य परंपरा में श्री गोपाल मिश्र, श्री शिवनारायण मिश्र, गुरू प्रसाद एवं राधिका प्रसाद गोस्वामी, नूनो गोपाल, विश्वनाथ राय, काशीनाथ राय, लक्ष्मणनारायण बाबा जी, हरिकर्मकार (ढाका) एवं विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर परिवार विशेष उल्लेखनीय है।

इस प्रकार काशी के पियरी घराने की वंश एवं शिष्य परंपरा के अन्तर्गत काशी से कलकत्ता, पूर्वी एवं पश्चिमी बंगाल, ढाका तक एक अविच्छिन्न संगीत श्रृंखला फैली हुई है। जिससे संगीत जगत में यह घराना सदैव अमर रहेगा।

शिवदास प्रयाग मिश्र घराना

घरानेदार गायन परंपरा में पियरी घराने की ही भाँति प्रतिष्ठित घराने के रूप में शिवदास प्रयाग घराने की प्रसिद्धि थी। शिवदास–प्रयाग मिश्र के पिता श्री प्रहलाद मिश्र कूच बिहार राज्य के सूबेदार मेजर थे। कालांतर में वे किन्हीं कारणों से काशी आये और स्थाई रूप से यहीं बस गए। आप दोनों सहोदर भाईयों को संगीत शिक्षा अपने मामा श्री रामप्रसाद मिश्र से मिली, जो बनारस–मिर्ज़ापुर के सीमान्त ग्राम गुतमन, खैरबगहा में रहते थे। अपने सुंदर शरीर सौष्ठव एवं संगीत विद्वता के बल पर आप कुशल बन्धुओं ने गुणग्राही काशी नरेश महाराजा ईश्वरीनारायण सिंह (शासनकाल 1835–1889 ई०) के दरबारी गायक एवं राज्य के नाजिर के पद पर प्रतिष्ठित थे। अपनी पारस्परिक संगीत विशिष्टता के साथ–साथ देश के अन्य मूर्धन्य संगीत विद्वानों की शैली को भी आत्मसात करते हुए, निरन्तर परिवर्धन, परिशोधन के चलते आप की गायन शैली में अद्भुत निखार आता चला गया। अपने समय के मूर्धन्य संगीत विद्वान बडकू मियाँ जब काशी नरेश के विशेष आग्रह एवं आमंत्रण पर नेपाल दरबार से काशी आए और काशी नरेश दरबार के विशिष्ट कालावंत पद पर आसीन हुए तो आप लोगों ने उनकी विद्वता से लाभ उठाने में कोई संकोच नहीं किया। श्री मुहम्मद अली (बड़कू मियाँ) ध्रुपद, धमार एवं दुतलय की ख्याल गायन शैली के अद्भुत गायक एवं अप्रतिम बीनकार थे।

श्री शिवदास मिश्र :

सभी गायन शैलियों के कुशल ज्ञाता एवं बीन, सितार, सरोद, सुरसिंगार आदि वाद्यों के कुशल वादक थे। आपके पुत्र श्री घिन्नू जी मिश्र एवं उनके सुपुत्र श्री बैद्यनाथ (बग्गड़ जी) अपने समय के कुशल सारंगीवादक थे। शिवदास मिश्र की वंश परंपरा में वर्तमान में श्री जालपा प्रसाद मिश्र काशी के गुणी गायक के रूप में संगीत जगत की सेवा कर रहे हैं।

श्री प्रयाग मिश्र :

ये गायन के अतिरिक्त सितार के धुरन्धर वादक थे, जिनकी शिष्य परंपरा में फूलपुर तहसील हंडिया, ज़िला इलाहाबाद निवासी पदारथ मिश्र, मुनक्की मिश्र (इलाहाबाद), श्री भैरोप्रसाद मिश्र (काशी) आदि ने गायन की ही प्रथम शिक्षा प्रयाग मिश्र से प्राप्त की। प्रयाग मिश्र के एकमात्र सुपुत्र काशी के सुकंठ गायक श्री मिठाई लाल मिश्र थे, जिनके पुत्र श्री जगन्नाथ मिश्र कुशल सारंगीवादक एवं गायक थे। इनके एकमात्र पुत्र श्री कमल मिश्र ने काशी को छोड़कर बंबई को कार्य स्थली के रूप में चुना और 30 वर्ष बाद बंबई प्रवास काल में कुशल गायक, कुशल हारमोनियम वादक के रूप में देशव्यापी ख्याति अर्जित की।

श्री मिठाई लाल मिश्र :

काशी की संगीत उर्वरभूमि ने समय–समय पर संगीत के विलक्षण जादूगर संगीतज्ञों को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया है जो अपनी गायकी–नायकी प्रतिभा से अपने जीवनकाल में ही संगीत जगत के लिए किंवदन्ती बन चुके थे। ऐसे संगीत मनीषियों में शिवदास–प्रयाग मिश्र वंश परंपरा में मिठाई लाल मिश्र का नाम निःसंकोच लिया जा सकता है। आपका जन्म 1855 ई० काशी में श्री प्रयाग मिश्र के पुत्र के रूप हुआ। श्री मिठाई लाल मिश्र को संगीत की संपूर्ण शिक्षा पिता एवं चाचा से मिली। मुग़ल दरबार के कलारत्न उस्ताद सादिक अली खाँ के काशी आकर स्थाई रूप से बस जाने पर मिठाई लाल मिश्र ने उनसे बीन और सुरसिंगार की शिक्षा प्राप्त की और उत्कृष्ट गायक के साथ–साथ वीणावादन के पारंगत विद्वान के रूप में प्रसिद्ध हुए। आपकी गायन प्रतिभा से देश के श्रेष्ठ संगीतज्ञ, विद्वान भी प्रभावित थे और आपके घोर प्रशंसक थे। विशिष्ट विलक्षण बन्दिशों की रचना प्रतिभा आप में अद्‌भुत थी और लोग आपकी गायकी प्रतिभा से भी प्रभावित थे। श्री मिठाई लाल मिश्र की शिष्य परंपरा में सजातीय श्री मग्गन मिश्र, दुर्गा प्रसाद मिश्र (सारंगीवादक), श्री दाऊ मिश्र, श्री चन्द्र

मिश्र (गायक), खेटू बाबू (सितार), धीरेन बाबू (ठुमरी, टप्पा गायक), श्याम शंकर चौधरी (वीणावादक), सुप्रसिद्ध गायिकाओं में हुस्नाबाई, बड़ी मोतीबाई आदि ने विशेष ख्याति अर्जित की। पहले शिवदास–प्रयाग मिश्र रामापुरा मुहल्ले में रहते थे बाद में श्री मिठाई मिश्र ने कबीर चौरा मुहल्ले में बसने का निर्णय लिया।

श्री मिठाईलाल मिश्र के चाचा श्री शिवदास मिश्र की वंश परंपरा में उनके पुत्र श्री घिन्नू मिश्र एवं उनके पुत्र बैजनाथ जी (बग्गड़ जी) अपनी वंश परंपरा की विरासत में प्राप्त ख्याल एवं टप्पा अंग के कुशल सुदक्ष सारंगीवादक थे। श्री बग्गड़ जी के एकमात्र पुत्र श्री जालपा प्रसाद मिश्र वर्तमान में काशी के गुणी गायकों में गिने जाते है। आप ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, चैती, कजली, होली, भजन, ग़ज़ल, गीत आदि सभी कुशलतापूर्वक गाने में आप पूर्ण पटु है। श्री जालपा प्रसाद मिश्र को कोई सन्तान नहीं है। इस प्रकार काशी के घरानेदार गायकी का एक विशिष्ट एवं प्रसिद्ध घराना अब समाप्ति पर है किन्तु शिष्यों में बाँटी गई संगीत सुरभि की सुगंध से संगीत जगत में यह घराना निःसन्देह ही अमिट रहेगा।

श्री जगदीप मिश्र घराना एवं प्रतिनिधि शिष्य

श्री जगदीप मिश्र मूलतः मौजा हरिहरपुर, ज़िला आज़मगढ़ के निवासी थे, जो काशी आ बसे। गायन की सभी शैलियों के कुशल ज्ञाता नृत्यकला के अगाध विद्वान विशेषतः बनारस अंग की ठुमरी गायकी के अनुपम, रससिद्ध गायक थे। आप कबीर चौरा मुहल्ले में कबीर मठ के पास रहते थे। वे शिवदास प्रयाग जी के समकालीन थे। सुदूर नेपाल से कलकत्ता तक अनेक रियासतों में अपनी गायकी की पताका फहराकर वाराणसी में जीवन पर्यन्त रहकर जगदीप जी ने मौजुद्दीन खाँ को ठुमरी गायकी के अमर गायक पद पर आसीन कर अपनी अप्रतिम ठुमरी गायकी का साकार प्रतिबिम्ब प्रमाणित किया। ठुमरी गायन शैली के प्रथम गायक के रूप में काशी में आपका विशेष आदर था। इस प्रकार श्री जगदीप मिश्र घराना के प्रतिनिधि शिष्य के रूप में श्री मौजुद्दीन खाँ का नाम सर्वप्रथम आता है।

मौजुद्दीन खाँ :

काशी की महान अनुपम संगीत विभूतियों में उस्ताद मौजुद्दीन खाँ का नाम संगीत जगत में सदैव अमर रहेगा जिन्होंने अपनी अनूठी रसीली, दर्दीली, चित्ताकर्षक बनारसी ठुमरी गायकी की सुगन्धि संपूर्ण देश में महकाकर काशी की महत्ता व गौरव को महिमामण्डित करने में विशेष योगदान दिया। आपका जन्म पटियाला के समीप हिमाचल प्रदेश की छोटी सी रियासत **नाहन** में सन् 1875–76 ई० में एक संगीतज्ञ परिवार गे हुआ था। आपके पिता का नाम उस्ताद गुलाम हुसैन एवं चाचा का नाम उस्ताद रहमान खाँ था, दोनों ही प्रख्यात गायक एवं सितार वादक थे। जब मौजुद्दीन खॉ की उम्र 4–5 वर्ष की थी तभी उनके पिता पंजाब छोड़कर काशी आ बसे और फाटक शेख सलीम (नई सड़क) मुहल्ले में रहने लगे। बनारस की मिट्टी की सुगंध, संगीत के धुरन्धर दिग्गज रससिद्ध विद्वानों की सत्संगति ने खाँ साहब को ऐसा मोहित किया कि आप पंजाब–पटियाला–नाहन को सदैव के लिए भूलकर काशी के हो गए। गायकी की भरपूर शिक्षा माता जेबुन्निसा से आपको प्राप्त हुई जिन्हें अपने पिता सुलह खाँ के सिखाये गये सैकड़ों ख्याल याद थे। खाँ साहब पिता की मृत्यु के उपरांत गायन की शिक्षा लेने के लिए पटियाला घराने के प्रसिद्ध बन्धु **'अलिया-फत्तू** के पास गये और उनसे ख्याल गायकी की शिक्षा ग्रहण की। बीच में आप काशी भी आते रहते थे। एक बार काशी के अप्रतिम ठुमरी गायक श्री जगदीप मिश्र का गायन सुनकर आप ऐसे प्रभावित हुए कि उनकी प्रेरणा से उन्हीं के सानिध्य में बैठकर छोटी–छोटी चीजों का अभ्यास करने लगे और अभ्यास करते–करते एक दिन ऐसा आया कि आप जगदीप गिश्र की रससिद्ध ठुमरी गायकी की प्रतिमूर्ति बनकर देश के अप्रतिम, ठुमरी गायक के सिंहासन पर विराजमान हुए। आपने ख्याल एवं ठुमरी दोनों ही शैलियों की शिक्षा प्राप्त की थी इसलिए दोनों अंगो की गायकी में दमकशी, डपट, शहजोरी, मर्दानापन की विशिष्ट झलक परिलक्षित होती थी। आप ख्याल गाते समय चक्करदार तानों की झड़ी लगा देते थे। आपका गला गमक, खनक, मुर्की, फिरत, सुरीलापन एवं गंभीरता से

युक्त था। गले को कहाँ खोलना, कहाँ मुलायम करना, जोरदार सुर लगाना, इन सभी बातों से आप अभिज्ञ थे। मौजुद्दीन खाँ जब भी गाते तो काशी के ठुमरी गायक जगदीप मिश्र की गायकी को याद करके 'आह' करते। इसी से कल्पना की जा सकती है कि जगदीप जी कैसे रससिद्ध गायक रहे होंगे। वस्तुतः मौजुद्दीन खाँ जैसे विलक्षण प्रतिभासम्पन्न कलाकार कभी–कभी जन्म लेते है। देश की प्रसिद्ध रिकॉर्ड कंपनी एच०एम०वी० ने आपकी चार प्रसिद्ध ठुमरियों की रिकॉर्डिंग करके उसे अमूल्य निधि के रूप में सुरक्षित रखा है–(1) पानी भरे री कौने अलबेले की नार हो, झमाझम (2) पिराय मोरी अंखियाँ, राजा हमसे न बोलो (3) पिया बिनु नाहीं आवत चैन (4) बाजू बन्द खुली–खुली जाय।

सन् 1919 ई० में 45 वर्ष की अल्पायु में मौजुद्दीन खाँ दिवंगत हो गये। उन्होंने अपनी अनूठी, अलबेली, रससिद्ध ठुमरी गायकी की जो अमिट छाप छोड़ी है, वह संगीत जगत् के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी।

रामा जी शुक्ल :

काशी के गैर पेशेवर ठुमरी गायकों में प्रसद्धि रामा जी शुक्ल गुजराती, धीरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, मौजुद्दीन खाँ की ठुमरी गायकी पर फिदा थे। आप लोगों की ठुमरी गायकी पर खाँ साहब की स्पष्ट छाप थी।

काशी की सुप्रसिद्ध गायिका बड़ी मोतीबाई ने काशी के घरानेदार संगीतज्ञों के अतिरिक्त मौजुद्दीन खाँ से भी ठुमरी गायन की शिक्षा प्राप्त की और अपने युग में विशिष्ट ठुमरी, टप्पा गायिका के रूप में विशेष यश, धन, ख्याति, आदर प्राप्त कर काशी का गौरव बढ़ाया। कलकत्ता निवासी श्यामलाल क्षेत्रीय अमियनाथ सान्याल, रेखा मुहुरी आदि मौजुद्दीन खाँ की शिष्य परंपरा में थे। इस प्रकार जगदीप मिश्र घराना का कुशल प्रतिनिधित्व मौजुद्दीन खाँ एवं उनकी शिष्य परंपरा द्वारा हुआ।

जयकरन मिश्र घराना एवं प्रतिनिधि शिष्य

श्री जयकरन मिश्र मूलतः बेतिया निवासी, ध्रुपद गायकी की चारों बानियों में पूर्ण पटु, बेतिया दरबार के मूर्धन्य ध्रुपदाचार्य श्री जयकरन मिश्र बेतिया से काशी के कबीरचौरा मुहल्ले में आ बसे और मृत्युपर्यन्त यहीं रहे। संभवतः आप शिवदास–प्रयाग जी से आयु में बड़े, समकालीन अगाध संगीत विद्वान थे। आपकी परंपरा में दामाद पं० बड़े रामदास मिश्र, शिष्यों में सुप्रसिद्ध ध्रुपद गायक वेणीमाधव भट्ट, भोलानाथ भट्ट आदि ने अखिल भारतीय ख्याति अर्जित की।

श्री रामदास मिश्र (बड़े) :

श्री जयकरन मिश्र घराना के प्रतिनिधि के रूप में श्री बड़े रामदास का नाम सर्वप्रथम आता है। काशी के घरानेदार संगीतज्ञों में हिन्दू–कुल गौरव, अत्यंत लोकप्रिय, चारों पट की गायकी में सुदक्ष, निरभिमानी, उदारमना, जीवन की अन्तिम बेला तक माँ सरस्वती के दैनिक आराधक, निर्व्यसन, रससिद्ध गायक–नायक के रूप में संगीत इतिहास में श्री बड़े रामदास मिश्र काशी की मूर्धन्य विभूतियों में अग्रगण्य गायक के रूप में याद किये जाते रहे हैं। आपका जन्म काशी में सन् 1877 ई० में एक संगीतज्ञ परिवार में हुआ था। आपके पूर्वज श्री लच्छीराम मिश्र ग्राम कुण्डा, सुल्तानपुर, जिला प्रतापगढ़ के मूल निवासी थे जो अवध के नवाब के दरबारी गायक थे। वहीं से आपका परिवार काशी आ बसा।

संगीत की उत्कृष्ट शिक्षा के लिए इनके पिता इन्हें पियरी घराना के उस युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान गायक श्री शिवसहाय मिश्र (पुत्र प्रसिद्धू मिश्र) के पास ले गये, उसके पश्चात् अपने श्वसुर जयकरन मिश्र के पास आए जो बेतिया घरानें की ध्रुपद परंपरा के मूर्धन्य गायक थे। उनसे विधिवत् संगीत शिक्षा लेते हुए रामदास मिश्र ने उनसे चार पाँच सौ ध्रुपद–धमार की बन्दिशें, ख्याल, टपख्याल, टप्पा, होरी एवं विभिन्न प्रचलित–अप्रचलित रागों एवं तालों की अनूठी बन्दिशें को सीखा और कंठस्थ किया।

दस वर्ष की उम्र से तीस वर्ष की उम्र तक आते–आते आपका दैनिक अभ्यास का क्रम 18–20 घंटे प्रतिदिन का हो चुका था। इस प्रकार की निरंतर कठोर साधना से आप देश भर में प्रसिद्ध हो गये। शनैः शनैः आपकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर एवं गायन की प्रशंसा सुनकर नेपाल नरेश ने आपको नेपाल आने का निमंत्रण दिया और आपके गायन से प्रभावित होकर महाराज ने आपको दरबार का विशिष्ट गायक नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त आप नवाब रामपुर एवं अन्य रियासतों में भी सादर आमंत्रित होकर बहुत समय तक रहे और विशेष यश, ख्याति प्राप्त कर पुनः काशी लौट आए।

जिस प्रकार आप चारों पट की गायकी में पूर्ण पटु एवं सुदक्ष विद्वान गायक थे उसी प्रकार आपकी नायकी प्रतिभा भी विलक्षण थी। अपने आराध्य बाबा विश्वनाथ का ध्यान करते हुए सरल से सरल पदों से लेकर अनेक रागों व तालों में उत्कृष्ट, विद्वतापूर्ण, चमत्कारिक रचनाँए भी बनाई, जो संगीत जगत की अमूल्य निधि है। आप ध्रुपद, धमार, ख्याल, टपख्याल, सादरा, चतुरंग, तिरवट, तराना से लेकर टप्पा, ठुमरी, गजल, चैती, भजन, होली, कजली, दादरा, बिरहा तक गाकर जनसामान्य को भी अपना घोर प्रशंसक बना लेने वाले काशी के अनुपम लोकप्रिय गायक थे। सूलफाक, सवारी, फरोदस्त, लीलाविलास, रूद्र, मत्त, लक्ष्मी, गणेश आदि कठिन अप्रचिलत तालों में सामान्य, प्रचलित, लोकप्रिय तालों की भाँति घंटों सहजतापूर्ण गायकी से श्रोताओं के मानस पटल पर अपनी अमिट छाप छोड़ने वाले साधक एवं गायक थे। गायक, सारंगीवादक, सितारवादक, शहनाईवादक, वायलिनवादक, तबलावादक आदि सभी श्रेणी के अनेक सुप्रसिद्ध शिष्यों ने आप द्वारा प्रदत्त संगीत शिक्षा एव साधना से संगीतजगत में काशी का गौरव बढ़ाकर विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। आपकी सुदूर शिष्य श्रृंखला में आपके उत्तराधिकारी भतीजे हरिशंकर मिश्र, श्री गणेश प्रसाद मिश्र (भद्‌दू जी), श्री राम सेवक मिश्र (सजीले जी), श्री महादेव प्रसाद मिश्र, बद्री प्रसाद मिश्र, श्री प्रचंण्ड देव **'चाँप'**, रामू मिश्र (गया), गणेश प्रसाद मिश्र, जालपा प्रसाद मिश्र,अमरनाथ–पशुपतिनाथ **'मिश्र बन्धु'**, श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी, शहनाईवादक नन्दलाल जी, हनुमान प्रसाद मिश्र,

प्रसिद्ध सन्तूरवादक शिव कुमार शर्मा के पिता श्री उमादत्त शर्मा (जम्मू), रामू शास्त्री, राजन–साजन मिश्र आदि देशव्यापी ख्याति प्राप्त कलाकारों के अतिरिक्त सैकड़ों शिष्य–प्रशिष्य देश के कोने–कोने में संगीत जगत की सेवा करते रहे है।

'संगीतभूषण', 'संगीतोपाध्याय', 'संगीताचार्य', 'गायनाचार्य', 'संगीत कलानिधि' आदि अनेक सम्मानित उपाधियों से अलंकृत, विभूषित, देश के मूर्धन्य, अनमोल संगीतरत्न एवं काशी के गौरव, नायक–गायक सन्त संगीतज्ञ श्री पं० बड़े रामदास मिश्र 83 वर्ष की अवरथा गें 11 जनवरी रान् 1960 ई० गें काशी गें रवर्गवारा को प्राप्त हुए। आज भी आपके शिष्यो की विशाल संख्या देश के एक छोर से दूसरे छोर तक नेपाल आदि देशों में संगीत जगत की सेवा में महतीय भूमिका निभा रहे हैं।

काशी की गायन परंपरा के अन्य विविध घराने

(1) श्री धन्नू जी सँवरू जी मिश्र :

बेतिया ध्रुपद परंपरा के निष्णात विद्वान श्री धन्नू जी सँवरू जी, मूलतः बेतिया निवासी थे। कालांतर मे किन्हीं कारणों से काशी आए और कबीर चौरा मुहल्ले के समीप 'औघड़नाथ तकिया' के रामीप रथाई रूपसे निवास स्थान बनाकर रहने लगे। काशी के अपने युग के अद्‌भुत टप्पा गायक छोटे रामदास मिश्र को ध्रुपद गायकी की शिक्षा आप लोगों से ही मिली। जीवन के अन्तिम समय तक आप लोग काशी में रहकर यही दिवंगत हुए। आप लोग अनुमानतः जयकरन जी आदि के समकालीन संगीत विद्वान थे।

(2) श्री बख्तावर मिश्र :

ध्रुपद गायन शैली के प्राचीन गढ़ के रूप में रीवां एवं बेतिया दोनों ही रियासतें अत्यंत प्रसिद्ध थीं, श्री बख्तावर मिश्र मूलतः बेतिया निवासी एवं राजघराने के दरबारी गायक थे। काशी नरेश ईश्वरीनारायण सिंह के विशेष आग्रह पर आप राजदरबारी गायक के रूप में काशी आये जहाँ दरबार में जाफर खाँ, प्यार खाँ, बासत खाँ आदि

कलावन्त पहले से ही प्रतिष्ठित थे। बेतिया घराना, रीवां, काशी आदि अनेक नरेशों के आदरणीय, अत्यंत प्रिय बख्तावर मिश्र बेतिया ध्रुपद शैली के पूर्ण पटु, सुदक्ष गायक होने के साथ–साथ जलतरंग के उत्कृष्ट वादक थे।

श्री दरगाही मिश्र घराना

गायकी, नायकी, तंत्रवादन, तबला, नृत्य आदि अनेक विषयों के मूर्धन्य विद्वान श्री दरगाही मिश्र अपने समय में काशी के उत्कृष्ट विद्वानों में गिने जाते थे। मूलतः आपके पूर्वज रामगढ़–हरहिया, जिला आजमगढ़ के मूल निवासी थे। आपके पूर्वज श्री रामशरण मिश्र बनारस तबला घराना के प्रवर्तक पं० रामसहाय जी के शिष्य थे। आप रामनगर में आ बसे और कालान्तर में दरगाही मिश्र काशी के कबीरचौरा मुहल्ले में आ बसे। आप काशी नरेश दरबार के विद्वान कलावन्त थे जहाँ आपके समकालीन श्री रामगोपाल जी, रामसेवक जी, शिवदास प्रयाग मिश्र, बड़कू मियाँ आदि दिग्गज विद्वान काशीराज दरबार की शोभा बढ़ा रहे थे। आपको संगीत की शिक्षा पियरी घराने के उत्कृष्ट विद्वान श्री शिवसहाय मिश्र से मिली और तबला की शिक्षा विरासत में मिली। श्री शिवदास–प्रयाग मिश्र एवं लयभास्कर विद्वान श्री ननकूलाल मिश्र आदि के सामीप्य ने आपको बीन, सितार, सारंगी आदि की ओर उन्मुख किया और आप इन वाद्यों के भी मान्य विद्वान की प्रतिष्ठा से विभूषित हुए। काशी के संगीत समाज में समय–समय पर अनेक विषयों में पारंगत विद्वानों ने देशव्यापी ख्याति अर्जित कर इस घराने की प्रतिष्ठा बढाई है। श्री दरगाही जी काशी में ही स्वर्गवासी हुए।

श्री ठाकुर प्रसाद मिश्र :

आपका जन्म काशी में सन् 1848 ई० के आस–पास हुआ था। आपकी संगीत शिक्षा पियरी घराने के मूर्धन्य वंशज प्रसिद्धू मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र श्री शिवसहाय मिश्र जी के कुशल मार्गनिर्देशन में हुई। गायन शैली के विलक्षण विद्वान ठाकुर प्रसाद मिश्र वीणा एवं सारंगी में भी मान्य विद्वान एवं सिद्धहस्त कलाकार थे। आपने गायन में अपने नाती

पं० छोटे रामदास मिश्र, हुस्नाबाइ, सारंगी में पं० बैजनाथ प्रसाद मिश्र जैसे शिष्यों को शिक्षा प्रदान की। आपके घराने की संगीत परंपरा के सुयोग्य उत्तराधिकारी श्री छोटे रामदास मिश्र ने अपनी विलक्षण ख्याल एवं टप्पा गायकी से संगीतजगत में विशेष स्थान बनाया एवं अनेक शिष्यों को शिक्षा प्रदान की। श्री ठाकुर प्रसाद मिश्र का देहावसान लगभग 95 वर्ष की आयु में सन् 1944–45 ई० में काशी में हुआ।

श्री मथुरा जी मिश्र :

आपके पूर्वज मूलतः मझौली राज, देवरिया, उत्तर–प्रदेश के मूल निवासी थे, जो 'पयासी के मिसिर' नाम से प्रसिद्ध थे। आपके पिता का नाम दरगाही मिश्र एवं दादा का नाम पुद्दन मिश्र व तमाखू मिश्र था। ऐसे घराने की वंश परंपरा में जन्में श्री मथुरा जी मिश्र मझौली राजदरवार के दरबारी गायक थे, कालांतर में काशी आ गये और यहाँ विजयानगरम् राजदरबार के दरबारी कलावन्त नियुक्त हुए। आप ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी सभी शैलियों के सिद्धहस्त कलाकार थे। आपके पुत्र श्री मनमोहन जी मिश्र कुशल गायक एवं सारंगीवादक थे। मनमोहन जी के एकमात्र पुत्र रामप्रसाद मिश्र (रामू जी) अपने समय के सुप्रसिद्ध टप्पा, ठुमरी गायक के रूप में प्रसिद्ध हुए जिन्हें संगीत की प्रारंभिक शिक्षा अपने दादा श्री मथुरा जी मिश्र से प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। श्री मथुरा मिश्र छः भाई थे, जिनमें सिद्धू–प्रसिद्धू, सन्तू–महन्तू चार भाई मझौली में ही बसे और दो भाई मथुरा मिश्र, गोकुल मिश्र काशी आ बसे। गोकुल जी ने पं० रामसहाय के अनुज श्री जानकीसहाय जी से तबले की शिक्षा ग्रहण कर तबलावादन क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बनाया। इस प्रकार मथुरा मिश्र की वंश परंपरा में गायन, सारंगी, तबला सभी के मूर्धन्य कलाकार हुए जिन्होंने अपने वंश की मर्यादा को समय–समय पर गौरवान्वित कर संगीतजगत में अपना विशेष स्थान बनाया।

तेलियानाला घराना

सेनिया घराने के यशस्वी नायक धून्दू से जुडी वंश परंपरा के सुप्रसिद्ध कलावंत उस्ताद सादिक अली, वारिस अली (बीनकार), अकबर अली (टप्पा गायक), निसार अली (ध्रुपद गायक) आदि सभी एक ही घराने के अनूठे रत्न एवं मुग़ल सल्तनत के शाही दरबार से जुड़े विशिष्ट संगीतज्ञ थे। सादिक अली का परिवार रंगून के लिये नाव द्वारा भेजे जा रहे बहादुरशाह ज़फ़र के शाही काफिले के साथ–साथ बनारस आया। बनारस की सरज़मीन ने उन्हें ऐसा प्रभावित किया कि यह परिवार यहीं का होकर रह गया। गुणग्राही काशी नरेश ने इन विद्वानों को समुचित आदर प्रदान करते हुए अपने दरबार का कलावन्त नियुक्त किया। काशी के तेलियानाला (वर्तमान शिवाला मुहल्ला) मुहल्ले में आ बसा। यह घराना अपनी उत्कृष्ट कला साधना से इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस घराने में उस्ताद आशिक आली खाँ तक ध्रुपद, ख्याल, टप्पा गायकी एवं बीनदवादन की ही प्रमुखता थी, जो उस्ताद मुश्ताक अली खाँ के साथ मौलिक वंश परंपरा की निजी शैली के साथ सितारवादन की विशिष्ट शैली में परिवर्तित हुई। कलाकार में मुश्ताक अली खाँ के अन्य भाईयों ने सारंगीवादन के क्षेत्र में अपना स्थान बनाया। उस्ताद सादिक अली खाँ से बीन की शिक्षा मिठाईलाल मिश्र ने ग्रहण की। मुश्ताक अली खाँ के शिष्यों में निखिल बनर्जी, देवदत्त चौधरी, राम चक्रवर्ती एवं घराने के वंशजों ने अपने–अपने क्षेत्र में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की। इस प्रकार यह घराना भी अपनी निजी मौलिक शैली के लिए संगीतजगत में अपना विशेष महत्व रखता है।

काशी के उपर्युक्त प्रमुख एवं विशिष्ट घरानों में से आज अनेक घराने लुप्तप्राय से हो चुके है और अनेक घराने आज भी वंशजों, शिष्यों, प्रशिष्यों की अविच्छिन्न संगीत साधना से इस नगर की घरानेदार गायन परंपरा को संगीत में गौरवान्वित कर रहे है। उपर्युक्त सभी घरानों से अर्थात् बनारस के विविध घरानों से सम्बद्ध वंशजों, प्रख्यात शिष्यों, प्रशिष्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है जिन्होंने अपने घराने की मौलिक

विशेषताओं के साथ न केवल घराने को विकसित किया है अपितु प्राचीन निजता के साथ नवीन परिकल्पनाओं का अद्‌भुत समन्यवय स्थापित कर अपने–अपने घरानो की वैशिष्ट्य वृद्धि भी की हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

बनारस के विभिन्न घरानों के प्रख्यात समकालीन संगीतज्ञ

पं० छोटे रामदास मिश्र :

आपका जन्म काशी में सन् 1889–90 ई० में सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ घराने में हुआ था। आपके पूर्वज मूलतः ग्राम हरिहरपुर जिला आजमगढ़ के निवासी थे। आपके पिता श्री कन्हैया जी मिश्र महाराज गांडा श्री रामप्रताप सिंह के दरबारी कलारत्न थे। आपको संगीत की गायन, बीन, सारंगी, हारमोनियम, जलतरंग, वायलिन एवं पैर से बजने वाले ऑर्गन की भरपूर शिक्षा अपने नाना मूर्धन्य विद्वान प० ठाकुर प्रसाद मिश्र से, पियरी घराने की तालीम रागसेवक मिश्र से, दिलवहार, सितार, बीन की शिक्षा पं० लक्ष्मीदास मिश्र से, बेतिया ध्रुपद घराने की शिक्षा श्री धन्नू जी, सँवरू मिश्र से तथा गायन, तबला आदि की शिक्षा अपने चाचा विश्वनाथ जी से मिली, कर्नाटक संगीत शैली की शिक्षा ठाकुर प्रसाद मिश्र ने देकर इन्हें कर्नाटक गायन में भी पूर्ण पटु बनाया। इस प्रकार विविध पक्षों, शैलियों के विलक्षण विद्वान के रूप में आपकी ख्याति नेपाल, जम्मू, कश्मीर, पटियाला, अलवर, रायपुर, रामपुर आदि में फैल गई। कलकत्ता प्रवास काल में सन् 1985 में Central avenue (सेन्ट्रल एवेन्यू) में आपने **श्री कृष्ण संगीत विद्यालय** की स्थापना की, जहाँ आपके सानिध्य में मन्मत्तो घोष, तारापद चक्रवर्ती, आर०सी० बोराल, पं० रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि महान साधक व कलाप्रेमी आपकी संगीत ज्ञान गंगा से परिचित हुए। सन् 1935–36 ई० में इलाहाबाद में आयोजित अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में आपने लगभग 2 घंटे अप्रचलित व कठिन राग **'हिजाज'** गाकर बी०आर० देवधर सरीखे संगीत साधकों को अपना मुरीद बना लिया तथा सुप्रसिद्ध गायिका

केसरबाई केरकर ने आपसे भैरवी की बन्दिश–'जगत कहाँ हो अकेली, तोहे जाने ना दूँगी' तथा प्रसिद्ध चैती "सैंया भइले जोगिया हो रामा" सीखकर H.M.V. में रिकॉर्ड कराया है। गायन एवं वादन के सुदक्ष गायक पं० छोटे रामदास जी टप्पा गायकी के अद्वितीय गायक के रूप में विलक्षण विभूति थे। आपके अनेक शिष्यों में उपेन्द्रनाथ डे, सोहनी, बड़ी राजेश्वरी, ताराहुस्नाबाई, दामोदर मिश्र, अनुज गोपाल मिश्र, पटियाला के निगहबन्धु आदि गायन में, यूसुफ (सितार), ओमी चक्रवर्ती (गायन, वायलिन) तथा पं० शिवकुमार शास्त्री उनके शिष्यों में प्रमुख है। आपकी मृत्यु काशी में 1961 ई० में अपने कबीरचौरा स्थित पैतृक आवास में हुई।

श्री गणेश प्रसाद मिश्र :

आपका जन्म काशी में सन् 1900 ई० में हुआ था। आपके पूर्वज 'बैजू जी' विद्वान तबला वादक एवं 'फर्द' के अविष्कर्ता थे, जिनके दो पुत्रों में से आप बड़कू मिश्र के सुपुत्र थे। आपको संगीत की प्रारंभिक शिक्षा अपने परिवार से ही मिली। कुछ वर्षों के उपरान्त तबले की ओर विशेष झुकाव देखकर पिता ने पं० रामसहाय जी की वंश परंपरा के तबला वादक **'वाद्यरस राज'** पं० बलदेव सहाय जी का शिष्य बना दिया। गायनाचार्य बडे रामदास जी आपके निकट संबधी थे जिनकी सत्संगति ने आपको गायन की ओर उन्मुख किया और उनसे विधिवत् गायन की शिक्षा प्राप्त करके शीघ्र ही विद्वान गायक के रूप में प्रसिद्ध हो गये। पं० बड़े रामदास की प्रतिमूर्ति के रूप में आप विभिन्नि कठिन तालों में ध्रुपद, धमार, होरी, टप्पा, ख्याल से लेकर होली, ठुमरी, दादरा, चैती, कजली, भजन, ग़ज़ल तक गाकर श्रोताओं को मुग्ध करने वाले काशी के लोकप्रिय कलाकार थे। आप बड़े रामदास के प्रमुख शिष्य के साथ–साथ उनके अत्यंत प्रिय तबलावादक भी थे। श्री गणेश प्रसाद मिश्र सन् 1967 ई० में बनारस में दिवंगत हुए।

श्री रामसेवक मिश्र (सजीलेजी) :

आपका जन्म अगस्त 1892 ई० में काशिराज के अर्न्तगत रामनगर स्टेट के एक संगीत परिवार में हुआ था। आपके पूर्वज मूलतः कोइरीपुर ग्राम, जिला जौनपुर के निवासी थे। आपको संगीत की प्रारम्भिक शिक्षा पियरी निवासी विश्वनाथ मिश्र से मिली, ध्रुपद गायकी की शिक्षा बेतिया घराने के प्रमुख विद्वान श्री जयकरन मिश्र से प्राप्त की एवं संगीत की चतुर्मुखी प्रतिभा को विकसित करने में काशी के गायनाचार्य पं० बड़े रामदास मिश्र का विशेष एवं प्रमुख योगदान रहा है। आप संगीत के क्रियापक्ष व शास्त्रपक्ष दोनों के जानकार थे। आपकी रचनाओं में ध्रुपद, धमार, ख्याल, होरी, ठुमरी, टप्पा, दादरा, चैती, कजली, खेमटा, कहरवा, ग़ज़ल, सवैया, धनाक्षरी, बरवै आदि का अद्‌भुत सन्निवेश है। **'सजीले-सुधा'** आपकी संगीतमय काव्य प्रतिभा का एक आदर्श ग्रंथ है। काशी के मूर्धन्य संगीतज्ञों में शीर्षस्थ पं० बड़े रामदास जी, छोटे रामदास मिश्र, पं० कंठे महाराज, शुकदेव महाराज, ननकूलाल जी आदि समस्त छोटे–बड़े संगीतकार आपके अनन्य प्रशंसक थे। जिनके बीच आप अतिशय लोकप्रिय मानस वक्ता थे। आपका निधन 5 सितम्बर सन् 1969 ई० में रामनगर स्टेट वाराणसी में हुआ।

श्री राम प्रसाद मिश्र (रामूजी) :

अपने युग के मौजुद्दीन खाँ के नाम से विख्यात तथा ठुमरी के अनुपम लोकप्रिय गायक श्री रामू जी काशी के घरानेदार संगीतज्ञ परिवार के रत्न थे। आपका जन्म 1901 ई० में मझौली में हुआ था। आपके पितामह मथुरा जी मिश्र मझौली स्टेट के दरबारी गायक थे एवं पिता श्री मनमोहन मिश्र कुशल गायक एवं सारंगीवादक थे। काशी में बडे रामदास की निकटता एवं कुशल मार्गनिर्देशन में आपने गायन की विभिन्न शैलियों की उत्कृष्ट शिक्षा प्राप्त की। कालान्तर में आपका विशेष झुकाव टप्पा एवं ठुमरी की चमत्कारिक, मनमोहन गायकी की ओर स्वतः हुआ एवं अपनी नैसर्गिक प्रतिभा, दैनिक साधना एवं लगन से इस क्षुद्र समझी जाने लगी उपशास्त्रीय शैली को जीवन्तता प्रदान की। टप्पा गायकी विशिष्टता में लगने वाले वक्र डेढ़ दाना, ढाई दाना की तानों

की चमत्कारपूर्ण हृदयग्राही प्रस्तुति से विद्वानों से साधारण संगीत प्रेमियों तक को मंत्रमुग्ध कर लेने वाले आप विलक्षण गायक थे। ठुमरी की प्रस्तुति में आपको वन्दिश की ठुमरी, बोलबनाव की ठुमरी, बोलबाँट की ठुमरी सभी शैलियों पर समान अधिकार था।

श्री दाऊ जी मिश्र :

काशी के प्रतिष्ठित सारंगीवादक घरानों में रामापुरा मुहल्ले के प्रसिद्ध सारगीवादक श्री वंशी जी मिश्र के पुत्र श्री दाऊ जी मिश्र का जन्म सन् 1906 ई० में काशी में हुआ। बचपन से ही पिता जी की कडी देख–रेख में आपकी संगीत शिक्षा प्रारंभ हुई जो निरंतर कठिन अभ्यास व साधना से क्रमशः निखरती गई। तत्पश्चात् श्री मिठाईलाल मिश्र एवं गायनाचार्य बड़े रामदास जी की शिष्यता ग्रहण किया। विकट लयदार गायक के रूप में दाऊ जी मिश्र की गायकी में ध्रुपद–धमार की गंभीर ओजपूर्ण गायकी से लेकर बनारसी पैनेपन की अनूठी खूबी परिलक्षित होती थी। आप चारों पट की गायकी के पूर्ण पटु गायक के रूप में बनारस ही नहीं वरन् अमृतसर, पठानकोट, लाहौर तक के धुरन्धर संगीत विद्वानों व प्रमियों के प्रशंसा के पात्र थे। आपकी असामयिक मृत्यु काशी में सन् 1948 ई० को हुई। आपके एक मात्र पुत्र ईश्वर लाल मिश्र सुप्रसिद्ध तबलावादक श्री अनोखेलाल मिश्र के सुयोग्य शिष्य के रूप में वर्तमान सयम में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संगीत विभाग में कार्यरत रहकर संगीत जगत की सेवा कर रहे हैं।

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र :

काशी के के सुप्रसिद्ध सारंगीवादक श्री सरजूप्रसाद मिश्र **'सारंगीसागर'** के पुत्र श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का जन्म सन् 1906 ई० को बनारस में हुआ था। आपके ज्येष्ठ दादा श्री भवानी भीख सारंगी के अगाध विद्वान थे, जिनकी देख–रेख में विश्वनाथ जी की प्रारम्भिक संगीत शिक्षा ने ठोस आकार ग्रहण किया और नित्य प्रति के अभ्यास ने शीघ्र ही आपको काशी कें गुणी, सुरीले, पेंचदार, फिरत गले के सफल गायक के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। आपकी ज्ञानपिपासु प्रवृत्ति ने आपको अनेक गायन शैलियों की बारीकियों का विज्ञ गायक बना दिया और ख्याल, टप्पा, ठुमरी,

होली, कजली, चैती, दादरा, भजन, ग़ज़ल आदि के रसीले, सुरीले गायक के रूप में आपने अच्छी लोकप्रियता हासिल की। आपका देहान्त कबीर चौरा मुहल्ले के पैतृक आवास पर सन् 1970 ई० को हुआ।

श्री महादेव प्रसाद मिश्र :

काशी के लोकप्रिय, विद्वान गायक श्री महादेव प्रसाद मिश्र का जन्म उनके ननिहाल इलाहाबाद स्थित शिवकोटि महादेव मंदिर के प्रांगण में सन् 1906 ई० में हुआ था। आपके पूर्वज मूलतः अयोध्या के रहने वाले थे, जो कालांतर में काशी आ बसे। 7 वर्ष तक आपको रांगीत की शिक्षा नाना रागेश्वर प्रसाद मिश्र से मिली। बाल्यावस्था से ही संगीत के प्रति झुकाव देखकर पिता ने काशी के विद्वान तबला वादक श्री भैरव जी मिश्र (रामापुरा) का शिष्य बना दिया और 1617 वर्ष की अवस्था तक आप अपनी लगन, साधना, से भैरव जी के प्रमुख शिष्यों में गणमान्य हुए। शनैः शनैः आपकी मनः स्थिति में एकाएक परिवर्तन आने लगा और आप गायन की ओर उन्मुख हुए और गायनाचार्य पं० बड़े रामदास मिश्र की चतुर्मुखी गायकी से प्रभावित होकर विधिवत् उनका शिष्यत्व ग्रहण करके रांगीत शिक्षा ग्रहण करने लगे। चतुर्मुखी प्रतिभाशाली श्री महादेव प्रसाद मिश्र युवावस्था से प्रौढ़ावस्था तक ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, चैती, कजली, भजन, दादरा तक की प्रस्तुति में पूर्ण सक्षम थे किन्तु उस समय आपको वह देशव्यापी ख्याति न मिल सकी, जो वृद्धावस्था में प्राप्त हुई।

आपकी रांगीत सेवाओं से **उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी** लखनऊ ने सन् 1977-78 ई० में, आई०टी०सी० संगीत अकादमी कलकत्ता आदि ने श्रेष्ठ कलाकार की मानद उपाधि रो महादेव प्रसाद मिश्र का सम्मान किया। आपके शिष्यों में गायन क्षेत्र में भतीजे अमरनाथ–पशुपतिनाथ मिश्र (**मिश्र बन्धु**), श्रीमती पूर्णिमा चौधरी, ममता सेन गुप्ता, शहनाई एवं बाँसुरी वादन क्षेत्र में– श्याम लाल, दुर्गालाल, विष्णु प्रसन्न, अनन्तलाल, भोलानाथ, रघुनाथ प्रसन्ना आदि तबलावादन में आनंदगोपाल बनर्जी, मार्कण्डेय प्रसाद, ईश्वरलाल, शिवनाथ, बटुकनाथ आदि सितार के क्षेत्र में उल्लेखनीय है। आपका देहावसन 13 दिसम्बर 1995 ई० को हुआ।

पं० श्री चन्द मिश्र :

गायकी–नायकी की अद्‌भुत प्रतिभा के साथ ही तंत्रवाद्य की अनेक शैलियों के परिपक्व शिक्षक पं० दरगाही मिश्र के घराने की संगीत विद्वता की जीवन्त प्रतिलिपि पं० श्रीचन्द्र मिश्र का जन्म काशी में सन 1914 ई० में हुआ था। आपके पूर्वज रामगढ़ हरहिया, जिला आजमगढ के मूल निवासी थे। आपको संगीत शिक्षा पितामह दरगाही मिश्र पिता सुरजू मिश्र तथा चाचा के अतिरिक्त काशी के अद्वितीय गायक पं० मिठाईलाल मिश्र से भी प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। पितामह श्री दरगाही मिश्र पियरी घराने के पं० शिवसहाय मिश्र के प्रिय एवं उत्कृष्ट शिष्य थे जिसके फलस्वरूप पं० श्रीचन्द्र मिश्र की विलक्षण गायकी में पियरी घराना तथा शिवदास–प्रयाग मिश्र के घराने का मणिकांचन योग का समावेश था।

पं० श्रीचन्द्र मिश्र एक ओर जहाँ संगीत के शास्त्रीय पक्ष–राग, थाट, मूर्च्छना, गमक, स्वर, लय, ताल सभी के अधिकार प्राप्त विद्वान गायक थे। वहीं दूसरी ओर वीणा, सितार, सरोद, वायलिन आदि वाद्यों की वादन शैली के भी पारंगत विद्वान थे। प्राचीन प्रचलित, अप्रचलित राग–रागिनियों को शास्त्रीय मर्यादा से गाने के अतिरिक्त विशिष्ट बन्दिशो की रचना प्रतिभा आप में विशेष रूप से विद्यमान रही जिससे आप द्वारा रचित अनेक बन्दिशें संगीत जगत की अमूल्य निधि है। वंश परंपरा में सुरेन्द्र मोहन मिश्र (सितार), पन्नालाल मिश्र (गायन, सरोद), दामाद अमरनाथ मिश्र (सितार), पुत्र सत्यनारायण मिश्र (गायन) के अतिरिक्त काशी की अनेक गायिकाओं ने आपसे शिक्षा प्राप्त की।

श्री हरिशंकर मिश्र :

पं० हरिशंकर मिश्र का जन्म बनारस में सन् 1917 ई० में हुआ था। आपके पिता श्याम सुन्दर मिश्र, चाचा एवं वड़े पिता सभी संगीत के गुणी विद्वान थे। 18-20 वर्ष की आयु में आप बड़े पिता, बड़े रामदास मिश्र के साथ देश के विभिन्न नगरों एवं रियासतों के संगीत कार्यक्रमों में भाग लेकर आपने अपनी विशिष्ट अलग पहचान बनाकर लोकप्रियता हासिल किया। कठिन तालों में प्रचलित–अप्रचिलत रागों की विशिष्ट

बन्दिशों को सहजतापूर्वक गाने में आपको विशेष महारत हासिल थी। धीर गंभीर, खुली आवाज़ आदि विशेषतायुक्त ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा से लेकर साधारण लोकगीतों को भी आकर्षण शैली में प्रस्तुत करने वाले हरिशंकर मिश्र काशी के एवं बाहर के प्रिय कलाकार रहे। आप विभिन्न गायन शैलियों को गाते समय लय, ताल, स्वर, सरगम, मींड, गमक, गूढ, मिश्र, कूट, खण्डमेरू की लयकारी युक्त तानों की झडी लगाकर अपनी चमत्कारिक गायकी से श्रोताओं को चकित कर देने वाले पूर्ण पटु गायक थे।

आपकी सराहनीय संगीत सेवा एवं विद्वता से प्रभावित होकर **'उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी'**, **'संगीत विद्यापीठ कानपुर,'** **'गोपाल मिश्र संगीत अकादमी'** वाराणसी **'रिम्पा संगीत संस्था'** वाराणसी आदि ने आपको सम्मानित कर अपने को गौरवान्वित किया।

श्री दामोदर मिश्र :

काशी के सुप्रतिष्ठित संगीतज्ञ परिवार में श्री दामोदर मिश्र का जन्म सन् 1920 ई० में हुआ था। आपके पिता प्रसिद्ध तबला वादक श्री बूँदी मिश्र की देखरेख में दामोदर मिश्र की प्रारम्भिक संगीत शिक्षा का श्री गणेश हुआ। प्रथम संगीत शिक्षा के पश्चात् आपको गुरू के रूप में काशी के मूर्धन्य टप्पा गायक श्री छोटे रामदास मिश्र का सानिध्य मिला जिनके कुशल मार्ग निर्देशन एवं अपनी निरंतर संगीत साधना से आप शीघ्र ही काशी के कुशल गायकों में गिने जाने लगे। पिता एवं परिवार के कलकत्ता बस जाने के कारण आपको काशी छोड़ना पड़ा तथा बंगाल के संगीत सुधी श्रोताओं के बीच अपनी सुमधुर गायकी, विनम्रता, सद्व्यवहार एवं विद्वता से आपने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। आपका निधन सन् 1985 को कलकत्ता में हुआ।

श्री कमल मिश्र :

काशी की संगीत परंपरा के कीर्ति स्तम्भ शिवदास–प्रयाग मिश्र के घराने की उत्कृष्ट गायकी से संगीत–जगत सुपरिचित है। इसी घराने के कुशल गायक एवं सारंगीवादक जगन्नाथ मिश्र के एक मात्र पुत्र कमल मिश्र हुए, जिनका जन्म काशी में सन् 1922-23 ई० के आस–पास हुआ। बाल्यकाल से ही घर के संगीतमय वातावरण ने

आपको भी प्रभावित किया तथा उसी वातावरण में आपकी प्रारम्भिक संगीत शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। अनुकूल वातावरण, उचित मार्गदर्शन, सतत् संगीत साधना, कठोर अनुशासन ने शीघ्र ही अपना चमत्कार दिखाया और अपनी वंश परंपरा की मौलिक शैली के प्रतिनिधि गायक के रूप में श्री कमल मिश्र ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। कुशल संगीत शिक्षक, गायक, हारमोनियम वादक, सितारवादक के रूप में आप देश के मूर्धन्य गायकों, नर्तकों के बीच अत्यधिक लोकप्रिय हुए। आपका देहांत 10 जनवरी 1986 को बंबई में हुआ।

श्री जालपा प्रसाद मिश्र :

श्री जालपा प्रसाद मिश्र का जन्म श्री शिवदास–प्रयाग मिश्र की वंश–परंपरा में श्री शिवदास मिश्र के सुपुत्र बैजनाथ मिश्र (बग्गड़ जी) के पुत्र के रूप में सन् 1934 ई० को काशी में हुये। श्री बड़े रामदास आपके नाना थे। आपको बचपन से लेकर नाना जी की मृत्यु के पूर्व तक उनसे संगीत शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपकी गायकी में गायनाचार्य जी की अभिनव शैली एवं विद्वता की स्पष्ट पहचान विशेष रूप से परिलक्षित होती है। कठिन, प्रचलित, अप्रचलित तालों में सहजतापूर्वक विचरण करने वाले, सभी शैलियों में पूर्ण पटु जालपा मिश्र ने अपने नाना गायनाचार्य बड़े रामदास मिश्र से ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, दादरा, होली, चैती, कजली, भजन, ग़ज़ल सभी की उत्कृष्ट शिक्षा प्राप्त की। इस प्रकार आपको सभी गायन शैलियों पर समान अधिकार प्राप्त हैं। आकाशवाणी इलाहाबाद–वाराणसी केन्द्र के कलाकार श्री जालपा प्रसाद गिश्र एक कुशल संगीत शिक्षक के पद पर वर्षों तक बी०टी०एस० कॉलेज कमच्छा से जुड़े रहे और वर्तमान में **संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,** वाराणसी के संगीत विभागाध्यक्ष के पद पर सुशोभित हैं।

श्री गणेश प्रसाद मिश्र :

आपके पूर्वज मूलतः ग्राग हरिहरपुर, जिला आजमगढ़ के निवासी हैं। बनारस तबला घराने के प्रवर्तक पं० रामसहाय जी की शिष्य परंपरा में प्रसिद्ध तबलावादक रघुनन्दन जी गुणी, गणेश प्रसाद मिश्र के पितामह थे। गायनाचार्य बड़े रामदास जी

रिश्ते में आपके दादा लगते थे। स्नातक स्तर की शिक्षा काशी के डी०ए०वी० महाविद्यालय में ग्रहण करने के साथ ही गायनाचार्य के सानिध्य में संगीत शिक्षा का क्रम गायनाचार्य की मृत्यु पूर्व तक अबाध गति से चलता रहा। प्रचलित, अप्रचलित रागों की अनूठी बंदिशों की मोहक ख्याल गायकी का आपका अपना निराला अंदाज लोगों के मानस पटल पर अंकित हो उठता है। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के अखिल भारतीय संगीत कार्यक्रम में भाग लेकर आपने अखिल भारतीय ख्याति अर्जित की है। आपने वर्षों तक काशी के संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कंठ संगीत के विभागाध्यक्ष के पद को सुशोभित किया और अनेक वर्षों तक देश की सुप्रसिद्ध संगीत संस्था **भातखंडे संगीत महाविद्यालय, लखनऊ** के कंठ संगीत के वरिष्ठ विभागाध्यक्ष पद पर आसीन रहकर संगीत जगत की महनीय सेवा की। आपने प्रयाग संगीत समिति इलाहाबाद से एम० म्यूज (संगीत प्रवीण) की परीक्षा विशेष सम्मान के साथ उत्तीर्ण कर काशी का गौरव बढ़ाया है।

आपके दो पुत्रों में ज्येष्ठ विद्याधर मिश्र आपके कुशल मार्ग निर्देशन में संगीत शिक्षा प्राप्त करके वर्तमान में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में संगीत प्रवक्ता के पद पर कार्यरत हैं, और छोटे पुत्र गिरधर मिश्र अपने मामा श्री युमना मिश्र से तबला वादन की शिक्षा प्राप्त कर भातखंडे संगीत महाविद्यालय लखनऊ में तबला संगतकार के रूप में कार्यरत है।

श्री अमरनाथ मिश्र–पशुपति नाथ मिश्र (मिश्र बन्धु) :

जिस समय पूरे देश के विशिष्ट संगीत समारोहों में डागर–बंधु, नजाकत अली–सलामत अली, अमानत अली–फतेह अली जैसे लोकप्रिय कलाकारों की युगलबंदी कार्यक्रमों ने समस्त संगीत प्रेमियों के मन–मस्तिष्क में अपनी गायकी की अमिट छवि अंकित कर रखी थी वैसी प्रतिस्पर्धात्मक, संघर्षकालीन, प्रतिकूल परिस्थितियों ने काशी के इस युवा–युगल जोड़ी में काशी की प्रतिभाशाली गायकी की विजय पताका पूरे देश में फैलाई। श्री अमरनाथ मिश्र का जन्म सन् 1938-39 ई० एवं पशुपतिनाथ मिश्र का जन्म सन् 1940-41 ई० के आस–पास काशी में रामापुरा मुहल्ले के संगीतज्ञ परिवार में हुआ था। बाल्यकाल से ही दोनों भाईयों को संगीत की शिक्षा कुशल संगीत विद्वान

चाचा महादेव मिश्र से मिलने लगी। दोनों भाईयों की कुशाग्र बुद्धि एवं प्रतिदिन के आठ–दस घटों के दैनिक अभ्यास क्रम ने शीघ्र ही इन्हें काशी की संगीत प्रेमी जनता के बीच स्थापित कर दिया। बाद में पं. महादेव मिश्र की इच्छा एवं आज्ञा शिरोधार्य कर इन्होंने गायनाचार्य प० बड़े रामदास मिश्र का शिष्यत्व ग्रहण किया। काशी के अतिरिक्त जन्मू, जालंधर, बंबई, पूना, लखनऊ, दरभंगा, इलाहाबाद आदि विभिन्न नगरों के प्रमुख संगीत समारोहों में भाग लेकर देश के शीर्षस्थ कलाकारों के बीच विशेष स्थान बनाया। इन युगल बन्धुओं की गायकी में स्वर, लय, तान, पल्टा, गमक, चमत्कारिक उपज आदि सभी सांगीतिक अवयवों के साथ साधिकार प्रभाशाली प्रस्तुति आप लोगों की गायकी की मुख्य विशेषता रही हैं। इस प्रकार युगल जोड़ी के रूप में प्रसिद्ध **'मिश्रबन्धु'** काशी में रहते हुए संगीत सेवा में सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं।

श्री छन्नूलाल मिश्र :

मूलतः आपका पैतृक निवास ग्राम हरिहरपुर, जिला आजमगढ़ है। इन्हें सगीतकला विरासत में मिली किन्तु अन्य घरानों के उस्तादों से भी आपने शिक्षा ग्रहण करने में कोई सकोच नहीं किया और अपने स्वविवेक से उचित परिमार्जन, परिशोधन करते हुए आपनी गायकी को परिष्कृत कर मोहक स्वरूप प्रदान किया। गायन शैलियों की प्रस्तुति करते समय उनकी व्याख्यात्मक विवरणिका सहज ही श्रोताओं को आकर्षित करती है। ख्याल, टप्पा, ठुमरी, दादरा, होली, चैती, कजली, भजन, ग़ज़ल सभी के अत्यंत कुशल गायक छन्नूलाल मिश्र अपनी सुरीली, चपल कंठ माधुरी से अलग पहचाने जाते हैं। बंबई की सुप्रसिद्ध संस्था **'सुरसिंगार संसद'** ने आपको **'सुरमणि'** उपाधि प्रदान किया है। काशी में रहते हुए श्री छन्नू ताल मिश्र अनेक शिष्य–शिष्याओं को संगीत शिक्षा प्रदान कर रहे हैं।

श्री राजेश्वर प्रसाद मिश्र :

संगीताचार्य श्री बड़े रामदास जी के दामाद कुशल सारंगी वादक श्री गंगा प्रसाद के कनिष्ठ पुत्र राजेश्वर प्रसाद मिश्र का जन्म कबीर चौरा मुहल्ले में सन् 1947-48 ई० के आस–पास हुआ। गायनाचार्य जी के आवास पर ही बाल्यकाल से आपकी संगीत

शिक्षा का क्रम शुरू हो गया। दैनिक अभ्यासक्रम में पं० हरिशंकर मिश्र, गणेश प्रसाद आदि का कुशल मार्गदर्शन सहज रूप से मिलता रहा और ख्याल, टप्पा, ठुमरी, दादरा, होली, चैती, कजली, आदि विभिन्न शैलियों के प्रदर्शन में पटुता मिलती गई। विगत् अनेक वर्षो से बसन्त कालेज, राजघाट में संगीत शिक्षक के पद पर कार्यरत है। आपका संगीत–भविष्य अत्यन्त उज्जवल है।

श्री रामेश्वर प्रसाद मिश्र :

काशी के सुप्रतिष्ठित सारंगी घराने में उत्पन्न श्री रामेश्वर मिश्र का जन्म सन् 1945 ई० में हुआ था। संगीत की प्रारंभिक शिक्षा परिवार में दादा एवं पिता श्री भवानी प्रसाद मिश्र से मिली। सारंगीवादन की शिक्षा विरासत में मिली, कुछ वर्षों के उपरान्त आप गायन की ओर उन्मुख हुए और बड़े रामदास मिश्र का शिष्यत्व ग्रहण किया। क्रमशः दैनिक अभ्यास में प्रगति करते हुए आपने प्रयाग संगीत समिति से **'संगीत प्रभाकर'** एवं बंबई **'सुरसिंगार संसद'** से **'सुरमणि'** उपाधि प्राप्त हुई है। आप वर्तमान में भातखंडे संगीत महाविद्यालय में संगीत शिक्षक के पद पर कार्य करते हुए सभी लागों मे समान रूप से लोकप्रिय है। आपका संगीत भविष्य अत्यंत उज्जवल है।

श्री धर्मनाथ मिश्र :

आपका जन्म सन् 1949 ई० में काशी के विशिष्ट सारंगी घराना, पं० शंभूनाथ मिश्र के घराने में हुआ था। बड़े पिता श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एवं भैरोप्रसाद मिश्र के मार्गदर्शन में संगीत–शिक्षा का श्री गणेश हुआ। कुछ वर्षों पश्चात आप पं० बड़े रामदास जी के शिष्य बने और शिक्षाकाल में गायनाचार्य जी के साथ–साथ पं० हरिशंकर मिश्र, गणेशप्रसाद मिश्र आदि का भी मार्गदर्शन मिला। सभी गायन शैलियों की विधिवत् शिक्षा के साथ अपने स्वयं के झुकाव से उपशास्त्रीय संगीत की ओर इनकी रूचि उन्मुख होती गई और एक प्रतिभावान ठुमरी गायक के रूप में युवावर्ग में काशी में इनकी विशेष पहचान बनती गई और देश के अनेक संगीत समारोहों में कार्यक्रम प्रस्तुत करते हुए अपार लोकप्रियता प्राप्त की और वर्तमान में भातखंडे संगीत महाविद्यालय लखनऊ में 14-15 वर्षों से ठुमरी प्रवक्ता पद पर कार्य कर रहे हैं। सन् 1975 ई० में भारत

सांस्कृतिक शिष्ट मंडल के सदस्य के रूप में बर्लिन, रूमानिया, बुल्गारिया आदि की विशेष यात्रा में सफल कार्यक्रम प्रस्तुत कर काशी का नाम उज्जवल किया। आपका संगीत भविष्य अत्यंत उज्जवल है।

श्री राजन मिश्र– श्री साजन मिश्र :

वर्तमान समय में सर्वाधिक लोकप्रिय गायक युगल जोडी के नाम से जिन सहोदर भ्रातद्वय की छवि देश के संगीत प्रेमियों के मानस पटल पर अपने आप अंकित हो उठती है, निःसन्देह वे काशी के प्रतिष्ठित सारंगीकुल में उत्पन्न युवागायक बंधु राजन–साजन गिश्र है। काशी के प्रसिद्ध सारंगीवादक श्री हनुमान प्रसाद मिश्र के ज्येष्ठ राजन मिश्र एवं कनिष्ठ पुत्र साजन मिश्र का जन्म काशी में क्रमशः 1951 ई० एवं सन् 1956 ई० में हुआ था। बचपन में ही सारंगी के बजाय दोनों भाईयों की विशेष रूचि गायन की ओर उन्मुख होने के कारण पिता जी ने अपने मार्ग निर्देशन में गायन की शिक्षा देना आरंभ किया कुछ वर्षों के पश्चात् पं० बड़े रामदास मिश्र का शिष्यत्व ग्रहण किया। बाल्यकाल से ही कुशल संगीत शिक्षा, पारिवारिक वातावरण एवं ख्याल व टप्पा अंग की गायकी की नियमित साधना ने आप दोनों का सांगीतिक मार्ग प्रशस्त किया और क्रमशः काशी के संगीत प्रेमियों के बीच चर्चित होते गये। प्रसिद्ध सारंगीवादक गोपाल मिश्र (चाचा) का दिल्ली प्रवासकाल दोनों भाईयों के संगीतमय सुखद भविष्य के लिये वरदान साबित हुआ और आप दोनों भी दिल्ली में बस गये। दिल्ली प्रवासकाल में श्री पं० गोपाल मिश्र के कुशल मार्गनिर्देशन में आप लोगों की गायनशैली क्रमशः निखरती गई और शनै–शनैः इस युवा युगल जोड़ी की प्रभावशाली गायकी की सुरभि से सारा देश महक उठ। और काशी नगरी भी इनकी लोकप्रियता से हर्षित हुई।

दिल्ली में रहते हुए देश के शीर्षस्थ कलाकारों को नजदीक से सुनने के असंख्य अवसरों ने आपके मानस पटल को भी झंकृत किया और अल्पकाल में ही काशी के इन युवा, उदीयमान युगल गायक बंधुओं को देश के परिपक्व सुप्रसिद्ध ख्याल गायकों की सूची की श्रेणी में ला खड़ा कर दिया। काशी का होकर भी ठुमरी न गाकर केवल प्रभावशाली ख्याल, टप्पा, भजन की लुभावनी प्रस्तुति से घंटों श्रोताओं को संगीत

सुधारसपान कराते रहने का विलक्षण गुण इनकी विवेकपूर्ण साधना, बुद्धिमत्ता, मंच चतुरता का जीवन्त प्रतीक है। देश के अतिरिक्त विदेशों में यथा श्रीलंका, नेपाल, अमेरिका, सोवियत रूस, इंग्लैण्ड आदि में अपने कार्यक्रम की सफल प्रस्तुति कर बनारस के राजन–साजन मिश्र ने जो ख्याति, यश प्राप्त किया है उस पर बनारस ही नहीं वरन् पूरे उत्तर प्रदेश को गर्व है।

श्री गोवर्धन मिश्र :

काशी के प्रमुख टप्पा गायक श्री रामशंकर मिश्र के पुत्र श्री गोवर्धन मिश्र को लोकप्रिय विद्वान टप्पा–ठुमरी गायक श्री रामू जी मिश्र ने अपना दत्तक पुत्र बनाकर टप्पा, ठुमरी गायकी की अपनी अनूठी शैली की विशिष्ट शिक्षा प्रदान की। रामू जी मिश्र ने अपने मार्ग निर्देशन में टप्पा गायकी में डेढ दाना, ढाई दानों की तानों की किलष्टता, स्पष्टता, सफाई, तैयारी, सफाई का अनूठा अन्दाज इन सारी विशिष्टताओं की शिक्षा एवं ठुमरी की शिक्षा बाल्यकाल से ही गोवर्धन मिश्र को देनी शुरू की और कठोर साधना से क्रमशः गोवर्धन मिश्र प्रगति पथ पर अग्रसर होते हुए वर्तमान में पूरब अंग की ठुमरी–टप्पा की विशेष गायकी के प्रतिनिधि है। संगीत क्षेत्र में विशेष रूप से पूरब अंग की ठुमरी एवं टप्पा शैली की बनारस की खास अदायगी के लिए मध्य प्रदेश की सुप्रसिद्ध संगीत संस्था खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय ने आपकी संगीत सेवाएँ प्राप्त की हैं। वर्तमान में गया में रहते हुए तथा संगीत शिक्षण का कार्य करते हुए आप संगीत जगत की सेवा में सक्रिय योगदान दे रहे हैं।

श्री सत्यनारायण मिश्र :

बनारस के विद्वान गायक पं० श्रीचन्द्र मिश्र के ज्येष्ठ पुत्र सत्यनारायण मिश्र का जन्म सन् 1961 को काशी में हुआ था। परिवार के संगीतमय वातावरण में विद्वान पिता की देखरेख में संगीत शिक्षा प्रारम्भ हुआ, जो कठिनता से तीन–चार वर्षों तक ही चली होगी कि पिता पं० श्रीचन्द्र मिश्र की असामयिक मृत्यु हो गई। बाद में पं० श्रीचन्द्र मिश्र की सुयोग्य शिष्या एवं देश की सुप्रसिद्ध गायिका गिरिजा देवी ने विद्यालयी शिक्षा दिलाने के साथ-साथ संगीत शिक्षा, अभ्यास आदि सभी अपने मार्ग निर्देशन में कराना

शुरू किया। पं० श्रीचन्द्र मिश्र से उन्हें जो संगीत शिक्षा मिली, उसे वह सत्यनारायण को पुनः सौंप कर एक गुणी गायक के रूप में प्रतिष्ठापित करने में पूर्णतया प्रयासरत रही हैं। सत्यनारायण मिश्र से संगीत जगत को विशेष आशा है कि वह अपनी निष्ठा लगन, साधना से अपने पिता पं० श्रीचन्द्र की अनूठी गायकी के सशक्त हस्ताक्षर बन कर भविष्य मे अपने वंश परम्परा की गरिमा बढ़ाने में विशेष योगदान देंगे।

सुप्रसिद्ध गायिकाएँ

सदियों से बनारस को संगीत जगत में जो आदर व प्रतिष्ठा प्राप्त है उसके परिप्रेक्ष्य में काशी के घरानेदार, वंशानुगत संगीत परंपरा की अविच्छिन्न श्रृंखला के साथ–साथ उनकी शिष्य परंपरा में दीक्षित उत्कृष्ट गायकों के साथ–साथ उत्कृष्ट गायिकाओं की पीढ़ी का भी विशेष योगदान रहा है, जिसे किसी भी हालत में विस्मृत नहीं किया जा सकता। काशी के प्राचीन इतिहास के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि संगीत परपरा को निरंतर गतिमान बनाए रखने में यहाँ की गायिकाओं की अटूट श्रृंखला की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। बौद्धकालीन नगर वधुओं के रूप में श्यामा, चित्रलेखा आदि के नृत्य, संगीत का उल्लेख मिलता है जो अपने नृत्य–संगीत के माध्यम से नगरवासियों का उत्कृष्ट मनोरंजन करती थी। अतः काशी की संगीत परंपरा का मर्यादित स्वरूप भी इस वर्ग द्वारा विकसित होता रहा। प्रतिकूल परिस्थितियों में इस वर्ग को सामाजिक, मानसिक तथा आर्थिक संत्रास भी सहन करने पड़े किन्तु इस वर्ग विशेष को संगीत की उत्कृष्ट शिक्षा देकर उन्हें सुदक्ष कलाकार बनाने में काशी के घरानेदार संगीतज्ञों को एक प्रकार से सामाजिक सम्मान भी खोना पड़ा जिसकी परवाह न करते हुए इन संगीतज्ञों ने इन गायिकाओं को उत्कृष्ट शिक्षा से परिपक्व कर जब एक मँझे तथा सुलझे हुए कलाकार के रूप में समाज के समक्ष प्रस्तुत किया तो काशी ही नहीं समस्त संगीत प्रेमी समाज उनकी कला साधना से न केवल प्रभावित हुआ, अपितु उन्हें विशिष्ट मानने को भी बाध्य हुआ तथा इन गायिकाओं ने अपने विद्वान गुरूओं की गरिमा बढ़ाते हुए काशी की कीर्ति पताका पूरे उत्तर प्रदेश ही नहीं देश–विदेश में भी लहराकर अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। निःसन्देह काशी की संगीत

परंपरा का इतिहास बिना इनके उल्लेख के अधूरा ही रहेगा। काशी की कुछ सुप्रसिद्ध गायिकाओं का संक्षिप्त जीवन–चरित्र इस प्रकार है–

शिवकुँअर बाई :

काशी की प्राचीन गायिकाओं में शिवकुँअर बाई अपनी कलासाधना में शीर्षस्थ थी। आपने संगीत की शिक्षा काशी के विद्वान सारंगीवादक एवं सभी गायन शैलियों के ज्ञाता श्री बचाऊ मिश्र से प्राप्त की। शिवकुँअर ने अपनी लगन, निष्ठा से शीघ्र ही प्रसिद्धि प्राप्त करते हुए ख्याल, टप्पा, ठुमरी की पूर्ण पटु गायिका के रूप में देश की लगभग सभी रियासतों में अपनी सुमधुर गायकी से काशी का नाम उज्जवल किया। अपने युग में ख्याल गायकी क्षेत्र में आपका विशेष स्थान था। आप 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में काशी में दिवंगत हुई।

बड़ी मैना :

अपनी समकालीन गायिकाओं में उत्कृष्ठ गायिका के रूप में बड़ी मैना को विशेष सम्मान प्राप्त था। काशीनरेश महाराज ईश्वरी नारायण सिंह एवं प्रभुनारायण सिंह के शासनकाल में उन्हें विशेष सम्मान एवं राजाश्रय प्राप्त था। काशी के संगीत रसिकों की अद्भुत परिकल्पना **'बुढ़वामंगल संगीतमेला'** की शोभा को अपने सुरीले, दमदार, टीपदार कंठमाधुर्य से अनुपम बनाने में बड़ी मैना का विशेष योगदान रहा है।

विद्याधरी बाई :

आपको संगीत की प्रारंभिक शिक्षा आपकी माता, जो स्वयं एक कुशल गायिका थी, से प्राप्त हुई उसके बाद प्रख्यात सारंगी वादक रामसुमेर मिश्र, उस्ताद नशीर खाँ–बशीर खाँ (दरभंगा) एवं मूर्धन्य विद्वान दरगाही मिश्र (काशी) से मिली। आपने ख्याल, टप्पा, ठुमरी, तराना, सरगम आदि अनेक शैलियों पर कुशलता प्राप्त की और अपनी समकालीन गायिकाओं गौहर जान (कलकत्ता), नन्हुआ–अच्छनबाई (लखनऊ) आदि के बीच अपनी गायकी की धाक जमाकर विशेष प्रतिष्ठा अर्जित की।

हुस्नाबाई :

संगीत की सर्वप्रथम शिक्षा आपको काशी के वरिष्ठ विद्वान श्री ठाकुर प्रसाद मिश्र से मिली। उनकी मृत्यु के पश्चात् आपने काशी के कुशल सारंगी वादक श्री शंभूनाथ मिश्र से तत्पश्चात् श्री छोटे रामदास मिश्र से विशेषतः टप्पा गायकी की उत्कृष्ट शिक्षा प्राप्त की और अपने युग की उत्कृष्ट टप्पा गायिका के रूप में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की। साथ ही ठुमरी, ख्याल गायन में भी आप उतनी ही सुदृढ़ एवं निपुण थीं।

जद्दन बाई :

विद्याधरी वाई की समकालीन गायिकाओं में जद्दनबाई ने अपनी मनमोहक, सुरीली, रसीली गायकी से संगीत प्रेमियों के मानस–पटल पर अपनी विशेष छाप अंकित की। आपको संगीत शिक्षा बनारस के श्री दरगाही मिश्र एवं उनके सुयोग्य सारंगीवादक पुत्र श्री गोवर्धन मिश्र से मिली। जद्दनबाई के गायन के ग्रामोफोन रिकॉर्ड भी बने। ख्याल गायकी से लेकर ग़ज़ल गायकी तक में विशिष्ट गायिका के रूप में आपने आपनी पहचान कायम की।

टामी बाई :

काशी में जयशंकर 'प्रसाद' कालीन गायिकाओं में टामीबाई की गणना थी। आपको काशी के किन्नर समा ा के विद्वान संगीतज्ञ काशीराम किन्नर से संगीत शिक्षा मिली। जिन्होंने आपको ख्याल, टप्पा, ठुमरी, तराना सभी शैलियों की शिक्षा देकर कुशल गायिका बनाया। बाद में पारिवारिक सदस्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए आपने महफिलों में भाग लेना एकदम बन्द कर दिया, किन्तु आत्म संतुष्टि के लिए सायंकाल राधा कृष्ण मंदिर जाती और घंटों भजन–कीर्तन गातीं। 60-65 वर्ष की आयु में आप वाराणसी में दिवंगत हुई।

राजेश्वरी बाई :

आपकी पूर्व वंश–परंपरा में रतीबाई और मैनाबाई थी। राजेश्वरी बाई ने विद्वान संगीतज्ञ श्री ठाकुर प्रसाद मिश्र एवं कुशल सारंगीवादक सरजू प्रसाद मिश्र से संगीत–शिक्षा प्राप्त कर अपनी लगन, साधना से ख्याल, टप्पा, ठुमरी, तराना, होली, चैती, कजली आदि सभी शैलियों पर समान अधिकार प्राप्त कर काशी की प्रतिष्ठित गायिका के रूप में अपनी पहचान बनाई। आपके बाद वंश परंपरा में पुत्री कमलेश्वरी, तारा तथा भतीजी सिद्धेश्वरी देवी ने भी परंपरा को अक्षुण्ण बनाए रखा।

बड़ी मोती बाई :

आपके दादा श्री विदेशी राय मूलतः गोरखपुर की ओर के निवासी थे जो बाद में दरभंगा में जाकर बस गये थे। आप विदेशी राय की सबसे छोटी पौत्री थीं। मात्र बड़ी मोती ने ही संगीत की विशिष्ट शिक्षा प्राप्त कर देश की सुप्रसिद्ध गायिका होने का सम्मान अर्जित किया। आप मात्र 4-5 वर्ष की आयु में दरभंगा से काशी आकर यहाँ के रससिद्ध गायक श्री मिठाई लाल मिश्र से ख्याल, टप्पा, तराना तथा ठुमरी की शिक्षा अप्रतिम ठुमरी गायक उस्ताद मौजुद्दीन खाँ से प्राप्त की। आपकी गायकी उस्ताद मौजुद्दीन खाँ की शैली की जीवन्त मिसाल थी। आकाशवाणी की विशिष्ट कलाकार के रूप में आपने अखिल भारतीय कार्यक्रम के माध्यम से भी अपना संगीत कार्यक्रम प्रस्तुत किया और सन् 1970-72 ई० में काशी में दिवंगत हुई।

काशी बाई :

ठुमरी, चैती, कजली आदि शैलियों की रससिद्ध गायिका के रूप में काशी बाई, सिद्धेश्वरी बाई की समकालीन एवं नगर की लोकप्रिय गायिका थी। आपको सुदक्ष सारंगी वादक श्री सिया जी मिश्र से सभी गायन शैलियों की शिक्षा मिली किन्तु अपनी व्यक्तिगत अभिरूचि से आपने ठुमरी गायकी को विशेष प्रधानता दी और काशी में अपने

युग की विशिष्ट ठुमरी गायकी की प्रतिष्ठा प्राप्त की। आपकी आवाज अत्यंत खुली, प्रभावशाली, दर्दीली एवं असरदार थी। जब तार सप्तक में अपनी टीपदार खुली आवाज से सुर लगाती तो संगीत रसिक श्रोता झूम जाते थे।

सिद्धेश्वरी देवी :

आपके पूर्वजों में सौ–सवा सौ वर्ष पूर्व रतीबाई ने अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त की, जिसकी पुत्री मैनाबाई अपने युग की अत्यंत लोकप्रिय गायिका हुई। मैना की दो पुत्रियों में राजेश्वरी बड़ी और चंदाबाई छोटी थी। सिद्धेश्वरी इन्हीं चन्दाबाई की सन्तान थीं। सिद्धेश्वरी को बाल्यकाल से ही संगीतमय वातारण मिला और जन्मजात नैसर्गिक प्रतिभा विद्यमान थी जिसे देश के प्रतिष्ठित सारंगीवादक व सिया जी मिश्र जैसे कुशल शिल्पकार ने तराशकर विशिष्ट आकार प्रदान किया। सिद्धेश्वरी ने अपनी गायकी को चतुर्मुखी स्वरूप में परिपक्व करने में देवास के सुप्रसिद्ध गायक उस्ताद रज्जबअली खाँ, लाहौर के उस्ताद इनायत खाँ एवं काशी के गायनाचार्य पं० बड़े रामदास मिश्र से भी शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त किया।

उपर्युक्त मूर्धन्य विद्वान द्वारा प्रदत्त शिक्षा ने आपको चारों पट की गायकी की निपुणता प्रदान की एवं ध्रुपद, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, होली, चैती, कजली, निर्गुण, भजन तक की गायन शैली की पूर्ण पारंगत गायिका के रूप में आपने संपूर्ण देश में अपनी एक विशेष एवं अलग पहचान बनाई। बनारस अंग की ठुमरी, टप्पा, दादरा, चैती, होली, कजली, गायन शैली की अनूठी, सशक्त हस्ताक्षर सिद्धेश्वरी देवी पूरे देश की सुप्रतिष्ठित संगीत प्रेमी रियासतों से लेकर आकाशवाणी केन्द्रों तथा जनमानस के बीच अतिशय लोकप्रिय रहीं। काशी की मौलिक ठुमरी, टप्पा को जैसी जीवन्तता आपने अपनी साधना से प्रदान की यह अनूठी एवं प्रशंसनीय है। संगीतजगत के कीर्तिस्तम्भ कलाकार भी आपकी गायकी के घोर प्रशंसक है। आपकी प्रभावशाली गायकी, दीर्घ अवधि की संगीत सेवा को देखते हुए भारत सरकार ने सिद्धेश्वरी देवी को **'पदमश्री'** एवं राष्ट्रपति द्वारा **'संगीत नाटक अकादमी'** पुरस्कार प्रदान किया। सिद्धेश्वरी देवी 18

मार्च सन् 1976 ई० को दिल्ली में दिवंगत हुई। आपके निधन से काशी नगरी की जो अपूरणीय क्षति हुई है उसे निकट भविष्य में शायद ही भरा जा सके।

रसूलन बाई :

बनारसी ठुमरी, दादरा, होली, चैती तथा कजली की रसीली, लुभावनी, गायकी से अपनी विशिष्ट पहचान बनाने में रसूलनबाई काशी की सुप्रतिष्ठित गायिका एवं सिद्धेश्वरी देवी की समकालीन थी। आपको संगीत की शिक्षा काशी के शम्भू खाँ साहब से मिली। तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री वी० वी० केसकर आपकी गायकी के अत्यंत प्रशंसक थे, जिनके सहयोग से आपको विशेष लाभ मिला और आप आकाशवणी की विशिष्ट कलाकार भी रहीं। आपके शिष्यों में नैना देवी (दिल्ली) ने देशव्यापी ख्याति अर्जित की हैं।

शाहजहाँ बेग़म :

काशी के सुप्रसिद्ध उस्ताद आशिक खाँ साहब की सुयोग्य शिष्या शाहजहाँ अपने समय में चर्चित एवं हरदिल अज़ीज़ गायिका थी। ख्याल, टप्पा, ठुमरी से लेकर ग़ज़ल गायकी में प्रवीण शाहजहाँ बेग़म को श्रोताओं की रूचि के अनुसार गायकी प्रस्तुत कर प्रशंसा पाने में विशेष दक्षता प्राप्त थी। लगभग 25-30 वर्षों से संगीत महफिलों को एक दम छोड़ चुकी विवाहिता शाहजहाँ बेग़म, अपने परिवार के साथ लगभग 90-92 वर्ष की अवस्था तक जीवित रहीं।

अनवरी बेग़म :

बनारस के अत्यंत सामान्य संगीत प्रेमियों तक में सबसे चहेती, लोकप्रिय, चर्चित गायिका के रूप में अनवरी बेग़म का नाम शीर्ष पर था। अनवरी को संगीत शिक्षा शम्भू खाँ साहब से प्राप्त हुई। अनेक शैलियों की शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद आपने ठुमरी, दादरा एवं ग़ज़ल गायकी में विशेष महारत हासिल की। आपके द्वारा गाया गया दादरा **'मार डाला-मार डाला-मार डाला'** उस युग में अत्यंत लोकप्रिय हुआ जिसके माध्यम से

आपको अपार लोकप्रियता मिली और जिससे प्रभावित होकर एच०एम०वी० ने इस दादरे का ग्रामोफोन रिकॉर्ड भी तैयार किया।

दुर्गेशनन्दिनी :

बनारस की सुप्रसिद्ध गायिका दुर्गेशनन्दिनी को सांगीतिक शिक्षा सर्वप्रथम काशीराम किन्नर से बाद में काशी के संगीतज्ञ समाज के विद्वान सारंगीवादक श्री मुंशीराम मिश्र जी से मिली जिन्होंने ख्याल, टप्पा, ठुमरी सभी शैलियों में दुर्गेश को परिपक्व किया। टप्पा, ठुमरी की मान्य गायिका के रूप में दुर्गेशनन्दिनी ने अनेक रियासतों की महफिलों में काशी का कुशल प्रतिनिधित्व करके विशेष सम्मान अर्जित किया।

कमलेश्वरी एवं ताराबाई :

सुप्रसिद्ध गायिका श्रीमती राजेश्वरी बाई की अनेक सन्तानों में संगीत क्षेत्र में उपर्युक्त दोनों बहनों ने ही विशेष रूचि ली। कमलेश्वरी बड़ी एवं तारा छोटी थी। कमलेश्वरी को संगीत शिक्षा प्रथमतः श्री सियाजी मिश्र एवं बाद श्री सरजू प्रसाद मिश्र के सानिध्य में प्राप्त हुई और तारा ने उपर्युक्त संगीत विद्वानों के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध टप्पा गायक श्री छोटे रामदास मिश्र एवं विद्वान गायक श्री हरिशंकर मिश्र से भी सीखने का सौभाग्य प्राप्त किया। दोनों ही बहनों ने बनारस की चर्चित गायिका की प्रतिष्ठा अर्जित की। राजेश्वरी पाई की वंश–परंपरा में ये दोनों बहनें ही अन्तिम कड़ी थी।

मलकाबाई :

बनारसी अंग की ख्याल, टप्पा, ठुमरी की पेंचदार गायकी की कुशल गायिका मलकाबाई काशी की चर्चित गायिकाओं में गिनी जाती थी। आपने संगीत की विधिवत् शिक्षा बनारस के विद्वान सारंगीवादक पं० सरजू प्रसाद मिश्र बाद में अनेक वर्षों तक उने बड़े पुत्र विश्वनाथ प्रसाद मिश्र से प्राप्त की। देश की विभिन्न रियासतों एवं अनेक नगरों में अपनी गायकी से अच्छी ख्याति आपने अर्जित की।

कमला, राधा :

बनारस के सुविख्यात सारंगीवादक पं० सरजू प्रसाद मिश्र की सुयोग्य शिष्या, इन दोनों बहनों ने प्रतिभासम्पन्न, पेंचदार गायकी की कुशल मंचचतुर, बनारस शैली की ख्याल, टप्पा, ठुमरी, दादरा आदि की गायकी में पूर्ण दक्ष गायिका के रूप में अच्छी ख्याति अर्जित की। मलका, छोटी मोती, तारा, जूही, पन्ना आदि गायिकाएं कमला–राधा की समकालीन बनारस की सुप्रसिद्ध लोकप्रिय गायिकाएं रहीं।

छोटी मोती बाई :

बनारस की सुप्रसिद्ध गायिकाओं में छोटी मोतीबाई ने भी अच्छी प्रतिष्ठा अर्जित की। आपने संगीत की शिक्षा काशी के रामापुरा मुहल्ले के निवासी विद्वान सारंगीवादक श्री कसेरू मिश्र से प्राप्त की और बनारसी शैली की टप्पा, ठुमरी की गायकी में विशेष दक्षता प्राप्त की। अनेक वर्षों पूर्व ही आपने संगीत–महफिलों में कार्यक्रम प्रस्तुत करना एकदम बन्द कर दिया। आपकी भतीजी पद्मा खन्ना चलचित्र जगत में प्रसिद्ध है।

पन्ना, जूही, रत्ना :

काशी की कुशल गायिकाओं की श्रेणी में इन तीनों बहनों ने भी अपनी समकालीन गायिकाओं के बीच प्रभावशाली गायकी से अपना विशेष स्थान बनाया। इन तीनों बहनों को संगीत की शिक्षा पं० सरजू प्रसाद मिश्र एवं उस्ताद आशिक खाँ से मिली।

श्रीमती गिरिजा देवी :

देश की सांस्कृतिक हृदयस्थली काशी नगरी में समय–समय पर विभिन्न क्षेत्रों में एवं संगीतक्षेत्र में ऐसे कलाकार उत्पन्न हुए हैं जिन्हें सहज ही देश ने 'कलागौरव' की श्रेणी प्रदान की है। इसमें एक नाम विगत 4-5 दशकों से शास्त्रीय संगीत क्षितिज की दैदीप्यमान नक्षत्र, देश की सर्वाधिक लोकप्रिय सुप्रतिष्ठित गायिका काशी की श्रीमती गिरिजा देवी का है, जिनके कंठमाधुरी से संपूर्ण देश की नहीं, अपितु विदेश के लाखों

संगीत प्रेमी भी सुपरिचित हो चुके हैं। संगीत कला के अनन्य प्रेमी श्री रामदास जी की पुत्री के रूप में जन्मजात नैसर्गिक प्रतिभासम्पन्न बालिका गिरिजा ने 8 मई, सन् 1929 ई० में जन्म लिया। जिसकी संगीत की प्रारंभिक शिक्षा काशी के विद्वान सारंगीवादक **'सारंगी सागर'** पं० सरजू प्रसाद मिश्र के द्वारा आरंभ हुई। 10 वर्षों की निष्ठापूर्ण अनवरत् संगीत साधना ने गिरिजा देवी को युवावस्था आते–आते ख्याल, टप्पा, ठुमरी, दादरा आदि विभिन्न गायन शैलियों में कुशलता प्रदान करने के साथ–साथ संगीतकला क्षेत्र में पटुता प्राप्त करने की ललक व उत्साह के लिए ठोस आधार शिला प्रदान की। पं० सरजू प्रसाद मिश्र की मृत्यु के पश्चात् काशी के विद्वान गायक पं० श्री चन्द्र मिश्र ने उत्कृष्ट चतुर्मुखी गायकी की शिक्षा देकर गिरिजा देवी के संगीत सौन्दर्य में श्री वृद्धि की। देश के लगभग सभी आकाशवाणी केन्द्रों से आपके प्रसारित कार्यक्रमों ने काशी की गरिमा बढ़ाने में बहुमूल्य योगदान दिया।

आपकी बहुमूल्य संगीतसाधना, अपार लोकप्रियता से प्रभावित होकर भारत सरकार ने आपको **'पदम् श्री'** एवं सन् 1989 ई० में **'पदम् भूषण'** के राष्ट्रीय अलंकरण से विभूषित किया। संगीत नाटक अकादमी (उत्तर प्रदेश), संगीत विद्यापीठ (कानपुर), प्रयाग संगीत समिति (इलाहाबाद), सुरसिंगार संसद (बंबई), संगीत श्यामला (कलकत्ता), प्राचीन कला केन्द्र (चण्डीगढ़), मध्य प्रदेश सरकार द्वारा प्रतिष्ठापरक **'तानसेन पुरस्कार'**, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा **'यशभारती'** सम्मान इत्यादि के अतिरिक्त अनेक संस्थाओं ने गिरिजा देवी को सम्मानित कर विशेष धनराशि, प्रशस्तिपत्र, स्वर कोकिला, गान सरस्वती, उत्तर प्रदेश कोकिला आदि मानद उपाधियों से अलंकृत किया है। भारत सरकार के सांस्कृतिक शिष्टमंडल एवं अन्य विशिष्ट संस्थाओं की प्रमुख सदस्या के रूप में आपने समय–समय पर विदेश की अनेक सफल यात्राएं की। विगत 12 वर्षों तक आप आई०टी०सी उद्योग समूह द्वारा कलकत्ता में स्थापित 'म्यूजिक रिसर्च अकादमी' के आग्रह पर **'बनारस सेनिया घराना'** की प्रतिनिधि कलाकार के रूप में छात्र, छात्राओं को बनारस घराने की उत्कृष्ठ गायकी की शिक्षा प्रदान कर उन्हें सुदृढ़ कलाकार बनाने में संलग्न रहीं।

संगीत क्षेत्र में आपकी अनेक शिष्याओं में स्व० श्रीमती वीणापाणि मिश्र, श्रीमती डालमिया राउत तथा श्रीमती मन्जू सुन्दरम् ने विशेष नाम कमाया है। श्रीमती गिरिजा देवी ने ओजपूर्ण, सुमधुर प्रभावशाली गायकी से पूरे देश में लोकप्रियता अर्जित कर काशी का गौरव बढ़ाने में महनीय तथा सक्रिय योगदान दिया है।

वाराणसी के संगीत सम्मेलनों की महत्वपूर्ण भूमिका :

इन सबके अतिरिक्त बनारस में होने वाले संगीत–सम्मेलनों ने भी यहाँ की संगीत परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए जीवन्तता प्रदान करने में सक्रिय योगदान दिया है। सन् 1906 ई० में **'काशी संगीत समाज'** की स्थापना के साथ ही काशी में इस संस्था द्वारा सार्वजनिक संगीत प्रदर्शन का शुभारम्भ हुआ और काशी में वृहद् संगीत सम्मेलन सन् 1919 ई० में 19 दिसम्बर से 22 दिसंबर तक विश्वेश्वर थियेटर में आयोजित हुआ था, जिसमें उस समय के सुप्रसिद्ध कलाकारों ने भाग लिया था।

सन् 1935 ई० में नगर की सुप्रसिद्ध साहित्यिक संस्था **'नागरी प्रचारिणी सभा'** के प्रांगण में त्रिदिवसीय संगीत समारोह आयोजित हुआ जिसमें देश के उच्चकोटि के संगीतज्ञों का जमघट हुआ। यह समारोह इस दृष्टि से भी उत्कृष्ट रहा कि प्रातः कालीन एवं रात्रिकालीन संगीत सभाओं में जहाँ उत्कृष्ट संगीतज्ञों के विशिष्ट संगीत प्रदर्शन से श्रोतावर्ग चमत्कृत हुआ वहीं इस समारोह के मध्यान्ह कालीन गोष्ठी में संगीत परिचर्चा आयोजित की गई, जिसमें संगीत विषयक अनेक गुत्थियों को विद्वानों के बीच रखकर विचार–विमर्श द्वारा सुलझाने की चेष्टा की गई।

सन् 1945 ई० में स्थानीय क्वींस कालेज के तत्कालीन उप प्रधानाचार्य श्री कौल के संयोजकत्व में एक दिवसीय संगीत समारोह आयोजित किया गया जिसमें देश के स्वनामधन्य उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ, सुप्रसिद्ध सरोदवादक उस्ताद अलाउद्दीन खाँ आदि कलाकारों ने भाग लेकर उत्कृष्ट कला प्रदर्शन से काशीवासियों के हृदय पटल पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। पं० विष्णु दिगंबर पलुस्कर के सुयोग्य शिष्य एवं गायक श्री विनायक राव पटवर्धन से प्रेरणा प्राप्त करके श्री राजाभाऊ देव ने सन् 1948 ई० में

'भातखण्डे ऐसोसिऐशन' की स्थापना की और 'थियोसोफिकल सोसाइटी' के प्रांगण में द्विदिवसीय संगीत समारोह का आयोजन किया गया जिसमें कई संगीत गुणियों के प्रभावशाली कार्यक्रम सम्पन्न हुए थे। इसके अतिरिक्त काशी के नागरिकों में शास्त्रीय संगीत के प्रति अभिरूचि उत्पन्न करने एवं उनकी श्रवण परिपक्वता को क्रमशः प्रगाढ़ करने में **'संगीत परिषद'** एवं **'ललित संस्था'** ने अपना सक्रिय योगदान दिया है।

बनारस ध्रुपद मेला :

प्राचीन काल से ही बनारस, गायन की विविध शैलियों के साथ–साथ प्राचीन गान विद्या **'ध्रुपद'** शैली के गढ़ के रूप में जाना जाता रहा है। ध्रुपद शैली को जीवन्त बनाये रखने तथा उसे प्रोत्साहन देने हेतु बनारस के संगीत सम्मेलनों की परंपरा में आधुनिक काल में वृहद् स्तर पर आयोजित **'बनारस ध्रुपद मेला'** का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसको आरंभ करने में मूर्धन्य विद्वानों ने सक्रिय योगदान दिया, जिनमें प्रमुख है– पं० ओंकारनाथ ठाकुर, पं० लालमणि मिश्र, श्री राजेश्वर आचार्य आदि। इस ध्रुपद मेले में प्रतिवर्ष देश के विशिष्ट ध्रुपद गायकों को गायन के लिये आमंत्रित कर उन्हें प्रशस्ति–पत्र, स्मृति–चिन्ह आदि प्रदान कर सम्मानित किया जाता है।

इस प्रकार बनारस में समय–समय पर अनेक संगीत समारोहों का आयोजन होता रहा है। सारांश यह है कि काशी की शताब्दियों पूर्व की अजस्त्र सांस्कृतिक धारा को निरन्तर गतिमान बनाए रखने में काशी नरेश, विविध क्षेत्रों के विद्वानों, न्यासों, देवस्थानों, मन्दिरों, संगीत विद्यालयों, सांस्कृतिक संस्थाओं, धार्मिक उल्लास पर्वों, शिक्षण संस्थाओं, वंश परंपरा के कलाकारों, गैर पेशेवर संगीत साधकों एवं समाज के हर वर्ग का सहज संगीत अनुराग, आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक वातावरण एवं काशीवासियों की सहज, सौम्य ढंग से जीवन जीने की शैली ने सामूहिक रूप से अपना–अपना सक्रिय एवं उदारतापूर्वक अपूर्व योगदान देकर गौरव प्रदान किया है।

रामपुर की सांगीतिक पंरपरा

किसी कला का सम्बन्ध परंपरा अथवा संप्रदाय से बहुत गहरा होता है क्योंकि 'संप्रदाय' का अर्थ है 'सम्'– भलीभाँति, प्र–प्रकर्षपूर्ण और 'दाय'–पूर्वजों की संपत्ति। जो कला पूर्वजों द्वारा परिश्रम से विधिवत् शिक्षा द्वारा प्राप्त होती है उसको ही हम **'संप्रदाय'** अथवा **परंपरा** कहते है। आजकल संगीत के क्षेत्र में घरानों का नाम लेने का प्रचलन बहुत हो गया है। किंतु 'घराने' का क्षेत्र सीमित हो जाता है, उसका वैयक्तिक और स्थानीय महत्व है।

उत्तर भारतीय संगीत में घरानों का प्रचलन कुछ सदियों पूर्व ही हुआ है। मुग़ल दरबारों के शासक सदैव से कलाकारों के आश्रयदाता बने रहे किंतु जब मगुल साम्राज्य का पतन प्रारंभ हुआ उस समय केन्द्रीय शक्ति क्षत–विक्षत् हो गई और विभिन्न रियासतों का जन्म हो गया। विद्वानों और कलाकारों ने इन रियासतों में जाकर शरण ली, अधिकांश रियासत के शासकों ने इन कलाकारों को सम्मान दिया। कला का विकास और प्रोत्साहन इन्हीं कलाप्रेमी शासकों के द्वारा मिलता रहा। धीरे–धीरे इन रियासतों में परंपराओं का पोषण होने लगा। 13 वीं शताब्दी में अमीर खुसरो ने अपनी परंपरा का प्रचलन किया जो आगे चलकर तानसेन द्वारा विकसित हुई। उस समय संपूर्ण भारत में संगीत परंपरा एक ही थी। 18 वीं शताब्दी में सदारंग परंपरा का प्रारंभ हुआ जिसने पूरे देश को प्रभावित किया। इस परंपरा को प्रारंभ हुए अभी ढाई–तीन सौ वर्ष ही हुए है किन्तु इसकी लोकप्रियता अभी तक संगीत जगत में है। सदारंग परंपरा के अधिकांश कलाकार दिल्ली केन्द्र की अस्थिरता के कारण अवध और रामपुर रियासतों में जाकर बस गये जहाँ उन्हें आश्रय प्राप्त हुआ। अवध के नवाब वाजिद अलीशाह ने भी अपना संपूर्ण जीवन मुग़ल सम्राट मुहम्मद शाह रंगीले की तरह संगीत कला के उत्थान के लिए लगा दिया। जब अवध में भी राजनैतिक अशांति प्रारंभ हो गई तब वहाँ के कलाकारों को भी इधर–उधर आश्रय ढूँढ़ना पड़ा, जिसमें रामपुर दरबार ही ऐसा था जिसने सभी कलाकारों

का स्वागत किया। अतः संगीत के इतिहास में रामपुर दरबार के शासकों का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए जिन्होंने दृढ संकल्प होकर संगीत की अमूल्य परंपरा की रक्षा करके उसे जीवित रखा। आज उसी का परिणाम है कि देश के मूर्धन्य कलाकार जैसे स्व० अलाउद्दीन खाँ, स्व० हाफिज अली खाँ, स्व० मुश्ताक़ हुसैन खाँ, स्व० आचार्य बृहस्पति जैसे रत्नपारखी लोगों ने रामपुर में विकसित इस परंपरा का लाभ उठाया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि मुग़ल साम्राज्य के पतन के पश्चात् 18 वीं शताब्दी के प्रारंभ में विद्वानों तथा कलाकारों को स्वयं को अरक्षित अनुभव करके दिल्ली का परित्याग करना पड़ा। इस समय उत्तर प्रदेश की स्थिति सबसे विकट थी। संगीत के इतिहास से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उत्तर प्रदेश की रामपुर रियासत का संबंध दिल्ली दरबार से अधिकाधिक रहा है। अतः रामपुर भी दिल्ली के समान कला का केन्द्र बन गया। रामपुर रियासत की स्थापना सदारंग युग में ही हो चुकी थी। इस कारण रामपुर दरबार के कलाकारों का संपर्क दिल्ली दरबार के संगीतज्ञों से होता रहा है।

रामपुर के नवाब अपनी गुण ग्राहकता के लिए प्रसिद्ध थे। यही कारण है कि देश के हर कोने से अनेक गुणीजन यहाँ आते रहे और रामपुर दरबार का आश्रय ग्रहण करते रहे। रामपुर की परंपरा जिसको **'सेनिया घराना'** भी कहते है– सदारंग से संबंधित है। इस परंपरा की मुख्य विशेषताएँ है कि इस शैली में स्वर और ताल की शिक्षा का विशेष महत्व है। किस विधि से आवाज़ तैयार करवाना चाहिए, गायकी के विभिन्न कायदे, स्वरों की लाग–डाट, पलटे आदि किस प्रकार गले में उतारे जाये, इस पर विशेष विचार हुआ है। लय और ताल की शिक्षा के साथ–साथ भाषा, भाव और साहित्य के ज्ञान की आवश्यकता भी समझी गई है। रोहलखंड में पठानों की स्थापित की हुई रियासत रामपुर थी। आरंभकाल से वहाँ के नवाबों को संगीत से सच्चा प्रेम रहा है। रामपुर के नवाब कल्बे अली खाँ ने अपने दरबार में सुविख्यात बहादुर हुसैन खाँ और उनके साथ अमीर खाँ को नियुक्त किया। रामपुर परंपरा को सुदृढ़ बनाने में इन दो व्यक्तियों का सर्वाधिक योगदान रहा है, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

बहादुर हुसैन खाँ :

रामपुर दरबार में आने से पूर्व ये वाजिद अली शाह के परम प्रिय थे और उन्हें **'जियाउद्दौला'** की उपाधि से विभूषित किया गया था। ये प्यारे खाँ के भांजे थे जिन्होंने इनको गोद लिया था। प्यारे खाँ ने बहुत प्यार से इनको पाला और सुरसिंगार की शिक्षा दी। बहादुर हुसैन खाँ मियां मनरंग के परपोते और सदारंग के सरपोते थे। इससे यह स्पष्ट हुआ कि सदारंग के वंशज दिल्ली से आकर रामपुर में ही आकर बस गये थे। बहादुर हुसैन खाँ द्वारा रचित बहुत सी बंदिशें, तराने व सरगमें प्रसिद्ध है। इनकी चीजों में सुर व लय का आनंद प्राप्त होता है। यहाँ तक कि सनदप्रिया की जो ठुमरियां प्रचलित है वो बहादुर हुसैन की ही रचनाओं पर आधारित है। इन ठुमरियों में सुर, लय वैचित्र्य का अनोखापन है।

बहादुर हुसैन खाँ के प्रमुख शिष्यों में नवाब हैदर अली खाँ थे। वे विद्वान, लेखक, शायर, गायक तथा सुरसिंगार वादक थे। रामपुर के नवाबों ने अपने दरबार में हमेशा हिन्दू ब्राह्मणों को प्रतिष्ठा दी है। आचार्य बृहस्पति के प्रपितामह महापंडित दत्तराम जी बहादुर हुसैन खाँ के घनिष्ठ मित्र थे जिनको नवाब युसुफ अली खाँ ने अपने दरबार में राजपण्डित का सम्मान प्रदान किया। दरबार के **'दाग'** और **'अमीर'** जैसे शायर भी बहादुर हुसैन खाँ के मित्र थे। महाकवि ग्वाल भी इस समय रामपुर में थे जो पं० दत्तराम जी के गुरूभाई थे।

अमीर खाँ बीनकर और ध्रुपद गायक :

अमीर खाँ उमराव खाँ के सुपुत्र और बहादुर हुसैन खाँ के दामाद थे। इनका जन्म स्थान बांदा था किंतु आपने 1857 के बाद रामपुर दरबार में शरण ली। आपके इकलौते पुत्र वजीर खाँ हुए जो दरबार के प्रसिद्ध कलाकार हुए। बाल्यकाल में ही ये अनाथ हो गये किंतु नवाब हैदर अली खाँ ने वजीर खाँ को संगीत की शिक्षा दी। अमीर खाँ के अन्य शिष्य मुहम्मद करम हमाम थे। जिन्होंने **'मअदन्-उल्-मूसिकी'** नामक पुस्तक लिखी है।

रामपुर दरबार के आश्रित अन्य कलाकार :

रामपुर दरबार में आश्रय लेने के लिये अनेक संगीतज्ञ आये, जिनका संक्षिप्त उल्लेख करना उपयुक्त होगा–

बाकर अली खाँ : क़व्वाल बच्चे दिल्ली निवासी थे। आप रामपुर दरबार में 1868 में आये। आप ख्याल शैली में निपुण थे।

हैदर बख़्श : ये कुशल सांरगीवादक थे जो पंजाब के रहने वाले थे। आपके सबसे योग्य शिष्य मीर बुनियाद हुसैन बहुत गुणी सांरगीवादक हुए।

मौधू खाँ : ये कुशल तबलावादक थे जो फ़र्रूख़ाबाद निवासी थी। आप नवाब कल्बे अली खाँ के दरबार में थे।

अमानी जान : कानपुर निवासी अमानी जान ठुमरी तथा ख्याल सुन्दर ढंग से गाती थी।

झूमन गायिका व मम्मी गायिका: ये भी रामपुर में रहती थी। इनके कण्ठ अत्यंत मधुर थे और ये ख्याल, टप्पा शैलियों का गायन सुन्दर ढंग से करती थी।

नवाब अली खाँ : आपकी माता एक गायिका थी, आपका जन्म 1846 ई० में हुआ था। आप बहुत ज्ञानी थे, कई भाषाओ का आपको अच्छा ज्ञान था। आप अच्छे शायर व लेखक भी थे किंतु आपकी सबसे श्रेष्ठ बात यह थी कि आप एक कुशल सुरसिंगार वादक भी थे। आपकी संगीत शिक्षा बासत खाँ, सादिक अली खाँ और बहादुर हुसैन खाँ के द्वारा हुई है। आपने ही वजीर खाँ को वीणावादन की विधिवत् पूर्ण शिक्षा दी थी। आपके दूसरे प्रमुख शिष्य आपके अपने ही पुत्र साहबजादा सआदत अली खां **'छम्मन साहब'** थे। हैदर अली खाँ को संगीत की शिक्षा बहुत कष्टों को सहने के बाद प्राप्त हुई। आपकी यह इच्छा थी कि भावी पीढ़ियों के लिये संगीत शिक्षा का मार्ग सरल हो जाय, इसी के फलस्वरूप पं० भातखण्डे जी को तथा स्व० अलाउद्दीन खाँ जो अन्य प्रांतों के रहने वाले थे, रामपुर परंपरा का रहस्य प्राप्त हुआ।

बाद ही मुश्ताक हुसैन का नाम चमका। उनको भी **'उस्ताद'** की उपाधि मिल गई और अच्छे ख्याल गायकों में उनकी भी गिनती होने लगी। परिश्रम और अनुभव ने उनको अच्छा ख्याल गायक बना दिया। मुश्ताक़ हुसैन ने बहुतों से सीखा था और वज़ीर खाँ तो उनके आखिरी गुरू थे। इनके पिता का नाम कल्लन खाँ था और वह सहसवान और बदायूँ के रहने वाले थे। अतरौली से भी उनका संबंध था। अतरौली के महबूब खाँ और पुत्तन खाँ से भी, जो उनके मामू लगते थे, संगीत की अच्छी शिक्षा पाई थी। उनके संगीत की बुनियाद इन्हीं गायकों ने डाली थी। इनके अतिरिक्त ये सहसवान के इनायत हुसैन खाँ के भी शिष्य बने और बाद में उनके दामाद भी बन गये। इनायत हुसैन खाँ ने, जो ग्वालियर घराने के शिष्य थे ग्वालियर गायकी का ही अभ्यास किया था। मुश्ताक़ हुसैन इनके शिष्य अवश्य थे परंतु उनके गले में ग्वालियर गायकी के कोई खास प्रभावशाली लक्षण नहीं थे। इस प्रकार मुश्ताक़ हुसैन, अतरौली के महबूब खाँ पुत्तन ख़ाँ से संगीत सीखकर ही सहसवान के ख्याल गायक इनायत हुसैन खाँ के शिष्य हुये थे। बाद में संगीत विद्या की तलाश में नवाब रामपुर के हुक्म से वह उस्ताद वज़ीर खाँ बीनकार के भी शागिर्द बन गये थे। नवाब रामपुर के गुरू का शागिर्द बन जाना रियासत के एक गायक के लिये एक गर्व की बात थी। मुश्ताक़ हुसैन खाँ बड़े ईमानदार और परिश्रमी गायक थे। शिक्षा पाकर और मेहनत करके जिस गायकी को उन्होंने मांजा था, उस पर कई गायकों के प्रभाव पड़े थे। परंतु स्वाभाविक रूप से वह उस्ताद इनायत हुसैन की गायकी से सबसे अधिक प्रभावित और प्रोत्साहित हुये थे। अपनी आवाज़ के हिसाब से उन्होंने इस गायकी को साधकर रियाज़ किया था। ताल में रचना के शब्दों को ठीक तरह से राग के स्वरों में कहना ही इस गायकी का मूल सिद्धान्त था। यही ख्याल गायकी का आधार है। जहाँ तक गायकी के सैद्धान्तिक रूपरेखा का संबंध था मुश्ताक़ हुसैन के गाने में राग के सिद्धान्तों का पूरा पालन होता था। वह इस बात में पारंगत थे कि स्थाई और अन्तरे को राग और ताल में सही–सही कैसे गाया जाय? स्थाई और अंतरे का भराव वह खूब जानते थे। ताल का उनको

अच्छा ज्ञान था। उनका सम ठीक जगह और नपा–तुला आता था। वैसे तो उनके पास रागों और चीजों का अच्छा खासा खज़ाना था परंतु प्रायः वह लोकप्रिय प्रचलित राग ही गाते थे। अपने **'राग सागर'** में तो वह बहुत से रागों का गुलदस्ता पेश करते थे परंतु अपने ख्याल गायन में आमतौर से प्रचलित रागों का ही प्रयोग करते थे इन्हीं में वह अपनी कला–चातुर्य दिखाते थे। उन्होंने अपने घराने में अपनी सन्तान को भी संगीत शिक्षा दी। अपने बड़े पुत्र इश्तियाक हुसैन को उन्होंने तैयार किया। **'राग रंग'** की संरक्षक श्रीमती नैना देवी जो ठुमरी गायिका है, इनकी परम शिष्य मानी जाती है। वह ख्याल न नहीं गाती है पर अपने को मुश्ताक़ हुसैन का शिष्य मानती हैं मुश्ताक हुसैन खाँ की दूसरी शिष्या श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी है। रामपुर रियासत के अन्त हो जाने पर जब उत्तर प्रदेश में जमींदारी ख़त्म हुई तो मुश्ताक़ हुसैन खाँ देहली के **'भारतीय कला केन्द्र'** में नियुक्त हो गये और कुछ समय बाद देहली में इनका देहान्त हो गया। आज जब व्यवहारिक संगीत के क्षेत्र में इतनी अव्यवस्था और अराजकता दिखाई देती है तो मुश्ताक हुसैन ऐसे प्रौढ़ और अनुभवी गायक को याद करके हमको एक प्रकार का प्रोत्साहन मिलता है। वह संगीत की मर्यादा और अनुशासन के प्रतीक थे।

जहाँ तक घरानेदार गायकी का संबंध है, वह उसके विशेषज्ञ थे। उनकी सीधी उतार चढ़ाव की तानें और उनकी आवाज़ का तार सप्तक तक पहुँचने का प्रयत्न, उनका व्यक्तिगत संबोधन, उनका व्यक्तित्व, उनके गायन की विशेषताएँ थी जो अन्य गायकों में दिखाई नहीं देती, जिससे उनके अपने व्यक्तित्व का पता चलता था। उन्हें अपनी उपाधि **"फ़क्रे मूसीकी"** पर बड़ा गर्व था। रामपुर को और उत्तर प्रदेश को भी इस बात का गर्व था कि मुश्ताक़ हुसैन खाँ ऐसे गायक इस प्रांत के थे। इसी नाते वह हिन्दुस्तान के प्रमुख ख्याल गायकों में भी थे। रामपुर की सांगीतिक परंपरा इतनी समृद्ध तथा विस्तृत रही है कि इस परंपरा के गुणियों का भारत के विभिन्न क्षेत्रों से संबंध रहा है। विभिन्न महत्वपूर्ण सांगीतिक केन्द्र रामपुर की परंपरा से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवश्य संबंधित रहे हैं यथा–

ग्वालियर घराना और रामपुर

ग्वालियर की भूमि ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है क्योंकि 15 वीं शताब्दी से इसका नाम ध्रुपद गायन के विकास के लिये प्रसिद्ध रहा है। चार–पाँच सौ वर्षों के अन्तर्गत अनेक उथल–पुथल हुए। किन्तु जब से घरानों की प्रथा चली है तब से ग्वालियर की गायकी का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। ग्वालियर के उत्तर प्रदेश से बिल्कुल सटा होने से दिल्ली और रामपुर के कलाकर हमेशा यहाँ के दरबार में आते रहे हैं। रामपुर परंपरा का प्रभाव यहाँ की गायकी पर भी अवश्य पड़ा। इस घराने के सर्वप्रथम गायक अब्दुल्ला खाँ और कादिर बख्श दोनों भाई हुए है। कादिर बख्श के दो पुत्र नत्थन खाँ और पीरबख्श थे। नत्थन खाँ के पुत्र हद्दू खाँ और नत्थू खाँ थे जिन्होंने ख्याल गायकी में नया मोड़ दिया। हद्दू खाँ के प्रमुख शिष्यों में बाल कृष्ण बुवा इचलकरंजीकर और शंकर राव पंडित थे।

भैया गनपत राव :

ये ग्वालियर राजघराने के थे। आपका जन्म प्रसिद्ध गायिका चन्द्रभागा के गर्भ से हुआ था। रामपुर के छम्मन साहब आपके मौसेरे भाई थे। आवाज़ की खराबी के कारण आपने हारमोनियम पर अभ्यास किया। वर्षों तक आप रामपुर में रहे। नवाब हामिद अली आपका बहुत आदर करते थे। भैया साहब की दृष्टि बहुत पैनी थी। षड़ज चालन क्रिया द्वारा आप नये–नये रास्ते निकालते थे जिसे सुनकर श्रोतागण चमत्कृत हो जाते थे।

हाफिज अली खाँ :

इनके पूर्वजों ने ध्रुपद, होरी, बीन की शिक्षा प्राप्त की तत्पश्चात् ग्वालियर दरबार में आश्रय लिया। हाफिज अली खाँ की प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता नन्हें खाँ के पास हुई। उसके बाद मथुरा के गणेशी लाल चौबे से आपने होरी और ध्रुपद सीखा। उसके बाद वे रामपुर दरबार में रहे। यहाँ छम्मन साहब और वजीर खाँ के सत्संग का आपको

लाभ प्राप्त हुआ जिससे परंपरागत रागों का मर्म ज्ञात हुआ। आप अपने युग के सर्वश्रेष्ठ सरोद वादक थे। देश की स्वतन्त्रता के बाद आप भारतीय कला केन्द्र दिल्ली में शिक्षक रहे। आपके पुत्रों में अमजद अली खाँ प्रतिभाशाली सरोद वादक है।

मैहर और रामपुर

रामपुर परंपरा में दीक्षित स्व० अलाउद्दीन खाँ का जन्म स्थान त्रिपुरा में था। बाद में आप कलकत्ता के हाबू दत्त के पास सीखने आए जो रामपुर के वज़ीर खाँ के शिष्य थे। तत्पश्चात् 1911 ई० में आप मुक्तागाछा के जमींदार जगतकिशोर आचार्य के पास गए जहाँ रामपुर के अहमद अली खाँ का सरोद सुना। अलाउद्दीन ने इनसे ही सरोद सीखना प्रारंभ कर दिया। बाद में आप रामपुर आए और अहमद अली खाँ के पिता आबिद अली खाँ से शिक्षा प्राप्त की। रामपुर बैण्ड में आपने नौकरी भी कर ली थी। चार वर्षों बाद आप मैहर चले आए और मैहर बैंड की स्थापना की। 1935 ई० में उदयशंकर के दल के साथ आप विदेश गये। स्व० अलाउद्दीन खाँ के प्रमुख शिष्यों में पण्डित रविशंकर, सुपुत्र अली अकबर खाँ, पुत्री अन्नपूर्णा है जिन्होंने संगीत जगत में चार चाँद लगा दिये।

आगरा घराना और रामपुर

आगरा घराना भी परोक्ष रूप से रामपुर से सम्बद्ध रहा है। आगरा घराने का उद्गम क़व्वाली गायकी से हुआ है क्योंकि सदारंग के युग में ध्रुपद गायकी और कव्वाली दोनों ही प्रचलित हो गई थी। इस युग का समाज कविता, ख्याल और क़व्वाली पसंद करता था। श्रोताओं के सुर, लय और भाव पर भी दृष्टि थी। अतः दोनों प्रकार की शैलियों को सीखने की रूचि कुछ कलाकारों में थी। आगरा घराने में ख्याल गायकी का प्रारंभ घघ्घे खुदाबख़्श ने किया जिन्होंने सदारंग के पूर्वजों से शिक्षा प्राप्त की। रामपुर के नवाब कल्बे अली खाँ आपके गाने से प्रसन्न हुए थे। इनके पुत्र गुलाम अब्बास खाँ भी आपके साथ रामपुर गये थे जो कि आगरा घराने के सुप्रसिद्ध गायक फ़ैयाज़ खाँ के नाना थे। फ़ैयाज़ खाँ की गायन शैली सरस और भावपूर्ण होती थी।

ब्रजभाषा आगरा और वृन्दावन की मातृभाषा है। अतः यहाँ के गायकों की बदिशें भाषा की दृष्टि से शुद्ध होती है।

कलकत्ता में बसे रामपुर के गुणी

20 वीं शताब्दी में कलकत्ता, मुंबई और दिल्ली संगीत कला के केन्द्र बन गये जहाँ पर कलापारखी श्रोताओं की भरमार है और साथ ही गुण हासिल करने की चाह भी। रामपुर के बहुत से गुणी लोग यहाँ आकर बस गये। उस्ताद अहमद अली खाँ उस्ताद अलाउद्दीन खाँ को अपने साथ बंगाल लाये। संगीत विद्या का प्रचार करने की प्रेरणा आपको रामपुर से ही मिली।

दबीर खाँ :

'उस्ताद वजीर खाँ' के पौत्र उस्ताद दबीर खाँ बहुत दिनों से कलकत्ता में बस गए। उन्हें **एकेडमी पुरस्कार** से सम्मानित किया गया। उनके पास उनकी परंपरा के आनुवांशिक रहस्य लिपिबद्ध रूप में थे। "बंगाल में रामपुर परंपरा अत्यंत सम्मानित रही हैं। कलकत्ता की कई निजी गोष्ठियों में **'एमनी बसंत'** और **'रामातोड़ी'** रामपुर परंपरा की गायिका श्रीमती सुलोचना बृहस्पति यजुर्वेदी ने विस्तारपूर्वक प्रस्तुत की।"[1]

"राग तत्व के मर्मज्ञ एवं अधिकारी व्यक्तियों के द्वारा नवीन रागों के निर्माण को रामपुर–परंपरा ने सदैव सम्मान दिया है। बंगाल में इस प्रवृत्ति का सम्मान विशुद्ध रामपुरीय प्रभाव है।"[2]

महाराष्ट्र के संगीतकार और रामपुर

एक ओर उत्तर भारत से बहुत से संगीतज्ञ कला का प्रचार करने के लिए दक्षिण के क्षेत्रों में गए जहाँ उनको अपनी जीविका कमाने का साधन भी प्राप्त हुआ। दूसरी ओर महाराष्ट्र के संगीत प्रेमी लोग उत्तर भारत के उन उक्त स्थानों में संगीत सीखने आये जहाँ पर विद्या के कई केन्द्र थे जैसे– रामपुर, ग्वालियर, मथुरा, लखनऊ आदि।

---

1. संगीत चिन्तामणि, संशोधित, पृष्ठ 364
2. संगीत चिन्तामणि, पृष्ठ 95

पं० विष्णु नारायण भातखण्डे :

आपका जन्म महाराष्ट्र में 10 अगस्त, 1860 ई० में हुआ था। आपने वीणावादन की शिक्षा रामपुर के बहादुर हुसैन खाँ के शिष्य मुहम्मद हुसैन खाँ से प्राप्त की थी। तात्पर्य यह है कि भातखंडे जी की प्रारंभिक शिक्षा रामपुर से ही शुरू हुई। आपने बी०ए० डिग्री के साथ कानून की परीक्षा भी पास की थी। तीस वर्ष की आयु में आपने संगीत के विभिन्न ग्रंथों का अध्ययन करना आरंभ किया।

रामपुर के तत्कालीन नवाब हामिद अली खाँ (1889–1930 ई०) से आपका घनिष्ठ परिचय था। नवाब साहब प्रतिवर्ष बंबई आते थे। उनके साथ रामपुर के कवि, संगीतज्ञ और पंडित भी आते थे। वजीर खाँ बंबई में हमेशा नवाब साहब के साथ जाया करते थे। भातखंडे जी ने वज़ीर खाँ से बहुत से राग प्राप्त किये जैसे 'मियां की सारंग'। "1908 ई० में काले नजीर खाँ बंबई पहुँच चुके थे। ये ध्रुपद, सादरा, ख्याल–सभी कुछ अच्छा गाते थे। ये भातखंडे जी के घनिष्ठ मित्र थे, **'लक्ष्य संगीत'** की रचना इस घनिष्ठता का ही परिणाम है।"[1] इसके बाद भातखंडे जी का परिचय रामपुर के ठाकुर नवाब अली खाँ से हुआ और बंबई में दोनों की मुलाक़ात हुई तथा पत्र व्यवहार भी हुए। ठाकुर साहब ने ही भातखंडे जी का परिचय छम्मन साहब से करवाया। रामपुर के इतने गुणियों से संपर्क होने के कारण ही भातखण्डे जी को रामपुर परंपरा के वजीर खाँ का शिष्य होना पड़ा। क्रमिक पुस्तक मालिका के विभिन्न भागों में रामपुर से प्राप्त बंदिशों का संग्रह है। रामपुर परंपरा को भातखंडे जी पर गर्व है कि उन्होंने इस परंपरा की अच्छी चीजें सुरक्षित रखी और आम जनता को उपलब्ध कराई। देश का कोई भी संगीत विद्यालय ऐसा नहीं होगा जहाँ पर भातखंडे साहित्य से शिक्षा न दी जाती होगी। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि रामपुर परंपरा का प्रचार देशव्यापी हो रहा है।

---

1 खुसरो, तानसेन तथा अन्य कालाकार, पृष्ठ 195

पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर :

आपका जन्म महाराष्ट्र के कोल्हापुर ज़िले में हुआ। बाल्यकाल से ही आपको संगीत के प्रति आकर्षण था और मिरज दरबार के राजगायक पं० बालकृष्ण बुआ इचलकरंजीकर के पास आप संगीत की शिक्षा लेने लगे। आपके गुरु ने ग्वालियर में हद्दू खाँ से शिक्षा प्राप्त की थी। ग्वालियर व रामपुर का सम्बन्ध पहले बताया जा चुका है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उनका रामपुर परंपरा से सम्बन्ध कहा जा सकता है। 1895 ई० में आप भी संगीत प्रचार हेतु उत्तर भारत में आए। सबसे पहले आपने सन् 1901 ई० में लाहौर में **गान्धर्व महाविद्यालय** की स्थापना की। फिर भारत के अन्य बड़े–बड़े शहरों में भी विद्यालय स्थापित किये।

महाराष्ट्र के दोनों **'विष्णुद्वय'** उत्तर भारत में संगीत के रहस्यों की जानकारी के लिए आए क्योंकि उस समय उत्तर भारत की रियासतों में संगीत के उच्च कलाकार रहते थे और जिन्हें **सदारंग परंपरा** के ागों का रहस्य ज्ञात था। ये कलाकार रामपुर, अवध, ग्वालियर में रहते थे। भातखंडे जी और पलुस्कर जी दोनों ने संगीत का प्रचार सभ्य समाज में तो कर दिया किन्तु उन कलाकारों को सभ्य समाज से अवगत नहीं कराया जिन्होंने उन्हें सदारंग परंपरा का ज्ञान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग तानसेन, सदारंग का गुणगान तो करते हैं किन्तु उनके गुणों का रहस्य क्या था इससे अनभिज्ञ हैं।

श्री कृष्ण रातनजंकर:

आपका जन्म दिसम्बर 1900 ई० में बंबई में हुआ था। आप भातखण्डे जी के प्रमुख शिष्यों में थे जिन्होंने उनके विद्यालय **'मैरिस कॉलेज लखनऊ'** की ३२ वर्षों तक सेवा की। आपने भातखंडे जी के विचारों को और रामपुर परंपरा से प्राप्त उनके संग्रह को वर्षों तक प्रकाशित करके प्रचार किया।

अवध के कलाकार और रामपुर

मुगल साम्राज्य के अवनति के बाद संगीत कला का केन्द्र अवध भी था। यह क्षेत्र उत्तर प्रदेश के पूर्व में है, जिसमें लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, बांदा, जौनपुर आदि प्रमुख स्थान है। संगीत इतिहास के प्रसिद्ध लेखक मुहम्म करम इमाम ने 1855 में अपनी पुस्तक **'मअद्न-उल-मूसिकी'** में अपने समय के सभी प्रसिद्ध कलाकारों और विद्वानों का वर्णन किया है। आपके पूर्वज अकबर के राज्य में ही अवध में एक परगने के चौधरी नियुक्त थे। इनके पिता का नाम मुहम्मद दिलावर अली खाँ था। मुहम्मद करम इमाम को अनेक कलाकारों का सत्संग प्राप्त था और उन्हें संगीत सुनने का मौका मिला। अवध के नवाबों की रुचि ठुमरी, चैती और कजरी सुनने के लिए हो गई थी, अतः दरबार में ये शैलियाँ प्रतिष्ठित हुई। "सदारंग की सन्तानों में प्यार खाँ के पौत्र एवं जाफ़र खाँ के पुत्र सादिक़ अली खाँ 'राहतुद्दौला' ने ठुमरी को **'षड़ज चालन'** के द्वारा एक उत्तम कला बना दिया। रामपुर के साहबजादा हैदर अली खाँ इनके भी शिष्य थे।"[1]

मुहम्मद करम इमाम ने ठुमरी और ग़ज़ल गाने वाली गायिकाओं का भी जिक्र किया है जिसमें लखनऊ की धूमनबाई और हुसेनीमाई और फ़रुख़ाबाद की लज़्ज़त बख्श जो रामपुर के नवाब कल्बे अली खाँ के दरबार में थी। अवध के नवाब वाजिद अली शाह गुणी थे और गुणग्राहक भी। इनके समकालीन रामपुर के नवाब अहमद अली खाँ भी विद्या का आदर करते थे। अतः अवध के कलाकारों का सम्पर्क रामपुर दरबार के कलाकारों से अवश्य होता रहा होगा। करम इमाम ने मियाँ जानी और गुलाम रसूल की बहुत प्रशंसा की है जो रामपुर के ही निवासी थे। रामपुर के वजीर खाँ और युसुफ खाँ के नाना लखनऊ के निवासी मियाँ शंकर थे और मुहम्मद खाँ मामा थे।

---

1. नगमातुल हिन्द , 3

पं० भोलानाथ भट्ट :

आपके पिता मोतीलाल थे, यह दरभंगा जाकर बसे थे और इलाहाबाद में गंगा तट पर अपना जीवन बिताया। आपको आनुवांशिक संगीत शिक्षा तो प्राप्त थी, किन्तु आपको घूमने का बहुत शौक था। अतः आपने देश के अनेक स्थानों में घूम–घूम कर अच्छी–अच्छी बंदिशों का संग्रह किया। रामपुर के वज़ीर खाँ के पास और भैया गनपतराव के पास भी आप सदा जाते रहे। आपने बहुत से शिष्यों को तैयार किया जिसमें बंबई की श्रीमती माणिक वर्मा, प्रयाग की सरयू कालेकर, सुलोचना कालेकर, पं० रामश्रय झा आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त जिन्होंने रामपुर परम्परा का अपनी गायन कला में भली–भाँति निर्वाह किया, उनमें से प्रमुख कलाकार निम्नलिखित हैं :

आचार्य कैलाश चन्द बृहस्पति :

रामपुर दरबार ने अनेक महान् कलाकारों, संगीतज्ञों और संगीत शास्त्रियों को जन्म दिया है। इस दरबार से संबंध रखने वाले इन विद्वानों में आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति अंतिम संगीत शास्त्री थे। वर्तमान युग के किसी भी संगीत प्रेमी के लिए आचार्य बृहस्पति का नाम अज्ञात नहीं है। इस महान् व्यक्ति ने अपना संपूर्ण जीवन ही भारतीय संगीत को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए उत्सर्ग कर दिया। बचपन से ही इस त्यागमूर्ति ने अपना जीवन संगीत सेवा एवं अध्ययन में लगा दिया। आचार्य बृहस्पति का जन्म रामपुर में 20 जनवरी, सन् 1918 ई० में हुआ। आपकी चार पीढ़ियाँ रामपुर में ही रह चुकी है। वे प्रकांड विद्वान, ज्योतिष शास्त्र व गणित के ज्ञाता, कवि और संगीतज्ञ भी थे। वे रामपुर नरेश नवाब कल्बे अली खाँ के दरबार में राजसभा के रत्न थे।

पुरातन और आधुनिक प्रशिक्षण पद्धति के समन्वित रूप ने आचार्य जी के बहुमुखी व्यक्तित्व का निर्माण किया है। उन्होंने बाल्यकाल से ही सद्‌गुरुओं के चरणों में बैठकर विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया तथा काव्यकला एवं संगीतकला की साधना की। आचार्य जी का जीवन बचपन से ही बहुत संघर्षमय रहा। दस वर्ष की आयु में ही

इन्हें पिता की मृत्यु को सहना पड़ा। अतः माता ने ही बड़े साहस व धैर्य के साथ इनका लालन–पालन किया। माता ने पुत्र के हृदय में ऐसे संस्कार डाल दिये जो कि भविष्य में इतने दृढ़ हो गये कि बालक कैलाश धीरे–धीरे एक चमत्कारिक व्यक्ति बनता गया। 14 वर्ष की आयु में सुन्दर काव्य रचना कर डाली। 1936 ई० में इन्हें लाहौर से शास्त्री की उपाधि प्राप्त हुई। आचार्य जी प्रारंभिक शिक्षा पिता जी के चरणों में हुई माता भी बहुत धार्मिक व ज्ञानवती थी। माता का नाम नर्मदा देवी था जिन्होंने अपने होनहार बालक को हर प्रकार की शिक्षा दी।

"अलंकार शास्त्र की शिक्षा आचार्य जी ने महामहोपाध्याय पं० परमेश्वरानंद शास्त्री से, न्याय की शिक्षा स्व० पं० हरिशंकर से, व्याकरण की शिक्षा पं० छेदी झा से तथा प्रारंभिक शिक्षा पं० कन्हैया लाल गुप्त से, राजपंडित रामचन्द्र शास्त्री तथा अपने पितृ चरणों से प्राप्त हुई। कंठ संगीत में आप रामपुर दरबार के स्व० मिर्ज़ा नवाब हुसैन तथा ताल व्यवहार में इसी दरबार के मार्दङ्गिक स्व० पं० अयोध्या प्रसाद के शिष्य थे। मृदंग तबले के साथ–साथ प्रौढ़ स्वरज्ञान भी बृहस्पति जी पर दुर्लभ गुरूकृपा का परिणाम है।"[1] शिक्षा प्राप्त करने के बाद इनका विवाह यथासमय साधनादेवी से 1942 में हुआ था। लाहौर में विद्याध्ययन करके लौटने पर रामपुर में ही उन्हें एक अध्यापक का पद प्राप्त हो गया जिस पर कुछ समय तक कार्य करते रहे। सन् 1949 में वे कानपुर के विक्रमाजीत सिंह सनातन धर्म कॉलेज में धर्माचार्य के पद पर नियुक्त हुए। वस्तुतः आचार्य जी के जीवन का स्वर्णकाल यहीं से आरंभ होता है। इसी कॉलेज में रहते हुए उन्होंने विश्वविद्यालय पद्धति से बी०ए०,एम०ए० तथा पी०एच०डी० की उपाधियाँ सम्मानपूर्वक प्राप्त की।

संगीत के क्षेत्र में एक बड़ी विडम्बनापूर्ण स्थिति रही है और वह यह कि संगीत के गायक और प्रत्यक्ष अभ्यासी उसकी शास्त्रीय आधार भूमि के ज्ञान से विमुख रहे हैं। संगीत के क्षेत्र में भारतवर्ष के प्राचीन महर्षियों और मनीषियों ने जो कुछ भी कार्य

---

1. हमारे संगीत रत्न, पृष्ठ–23

किया है वह संस्कृत भाषा में निबद्ध है। न तो किसी गायक ने संस्कृत सीखने का प्रयत्न किया और न कभी शास्त्रीय विवेचना की पद्धति को जाना–समझा ही है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि संगीत के **'भारतीय शास्त्र प्रबंध'** अज्ञान के गहर में धूमिल होने लगे। पुराने सिद्धांत कुछ परंपरागत घिसी–पिटी रुढ़ियों के रूप में तथाकथित घरानों में ही रह गये। भारतवर्ष में अंग्रेजों के आगमन के बाद जिस तथाकथित पुनर्जागरण का आरंभ हुआ उसके फलस्वरूप अध्ययन की नई पाश्चात्य दिशाएं सामने आयी, आलोचना और अनुसंधान की नई पद्धति का विकास हुआ। संगीत के क्षेत्र मे इस प्रकार के आलोचक एवं शास्त्रोद्धारक प्रकट हुए। जिसमें आचार्य जी की भी गणना होती है।

आचार्य जी को अनुसंधान की प्रेरणा देने वालों में रामपुर दरबार के गायक स्व० मिर्ज़ा नवाब हुसैन सैयद तथा रामपुर राज्य के अनुपम ग्रन्थागार के विद्वान एवं यशस्वी प्रबंधक मौलाना इम्तियाज अली खाँ अर्शी हैं जो बृहस्पति को अपना अंतरंग मित्र व सखा समझते थे। आचार्य जी अद्भुत प्रतिभा और मेधा के जीव थे। संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी आदि अनेक भाषाओं के असम ज्ञाता थे। **'अनंगरंग'** उपनाम से उन्होंने संगीत के गेयपदों की अमिट रचना की है। जिनमें लोक काव्य के लालित्य के साथ काव्य की अभिजात उत्तमताओं का समावेश भावात्मक सौरस्य के साथ हुआ है।

बीसवीं सदी के मूर्धन्य विद्वान आचार्य बृहस्पति ने जिनको संगीत के दोनों पक्षों (क्रियात्मक व शास्त्र) का ज्ञान था और लगाव भी, जीवन पर्यन्त संगीत के मूल प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन किया। जिन लोगों ने महर्षि भरत और पं० शारंगदेव जैसे विद्वानों के वाक्यों को नहीं समझा उनके लिये इन ग्रंथों का कोई मूल्य और महत्व नहीं है। यह बात आचार्य बृहस्पति को सहन नहीं हुई और उन्होंने इन ऋषि मुनियों के तर्पण हेतु उनके ग्रन्थों को लोक के लिए स्पष्ट करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। इन ग्रन्थों के एक–एक शब्द एक–एक वाक्य का मनन किया। इस प्रकार सैकड़ों वर्षों से पड़ी हुई

इन ग्रन्थों की धूमिल को स्वच्छ करने का पवित्र कार्य आचार्य जी ने ही किया। उनकी स्वरचित पुस्तकें और अनेक महत्वपूर्ण लेख इस बात का प्रमाण है। स्व० भातखंडे जी ने जो कार्य अधूरा छोड़ा उनका कार्य तर्क सम्मत प्रश्नोत्तरों द्वारा आचार्य महोदय ने पूर्ण किया। सन् 1955 में आचार्य बृहस्पति ने **'संगीत रत्नाकर'** की स्वरविधि को स्पष्ट कर लिया था जिससे उसमें वर्णित जातियों और रागों को गाकर और बजाकर स्पष्ट करना संभव हो सका। 1957 ई० में आपने कुछ वाद्यों का निर्माण किया। अपने द्वारा बनाये **'श्रुति दर्पण'** और **'बृहस्पति वीणा'** वाद्यों पर भरत पद्धति से स्वरों की स्थापना करके दोनों ग्रामों और 22 श्रुतियों का सप्रयोग प्रदर्शन बंबई की एक सभा में किया। उसी वर्ष आचार्य महोदय ने **'षाड्जी जाति'** के विभिन्न रूपों का प्रदर्शन प्रयोगात्मक रूप में किया और यह जाति गायन आज भी संगीत नाटक अकादमी की लाइब्रेरी में सुरक्षित है और सन् 1950-59 में भारतवर्ष के प्रमुख संगीत क्षेत्रों में आचार्य जी के इस अनुसंधान की भूरि–भूरि प्रशंसा हुई। आचार्य बृहस्पति ने प्राचीन सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष प्रयोग में लाकर दिखा दिया। इसी समय 1959 ई० में उनका प्रसिद्ध ग्रंथ **'भरत का संगीत सिद्धांत'** प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक की भूमिका विद्यापारखी ठाकुर जयदेव सिंह द्वारा लिखी हुई है।

आचार्य बृहस्पति बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति थे। वे शोधकर्ता के साथ ही साथ गंभीर विचारक और आलोचक भी थे। ठाकुर जयदेव सिंह ने 30 अप्रैल 1857 ई० की एक सभा में कहा था–"भरत जैसे आप्त सूत्रकार के विषय में भ्रान्त धारणा के प्रचार से आचार्य बृहस्पति के हृदय को कष्ट पहुँचा और उन्होंने मौन रहकर अपने जीवन का प्रमुख भाग संगीत के भारतीय आचार्यो को समझने में दिया। **'भरत नाट्यशास्त्र'** की कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थियों को आचार्य बृहस्पति ने विद्वतापूर्ण ढंग से सुलझाया है। महर्षि भरत के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण एक राष्ट्रीय प्रश्न है।"[1] आचार्य जी का दूसरा ग्रन्थ **'संगीत चिन्तामणि'** सन् 1966 ई० में प्रकशित हुआ था। यह ग्रंथ विविध निबन्धों का

---

1. संगीत, जून 1957, पृष्ठ 54

सकलन है जो कई पक्षों को लेकर लि । गये हैं। आचार्य महोदय ने बहुत अनुसन्धान के बाद इन निबंधों को लिखा है जि ामें ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक पक्ष और रामपुर परम्परा तथा स्व० भातखंडे जी की रच ओं पर इस परंपरा के प्रभाव पर विचार किया गया है। उनके अपने लेखों में श्रुतियों व मूल्य, 'ग्राम' और 'ग्रामणी' स्वरों की व्याख्या, ध्वनि संवाद के प्रकार, द्वादश स्वर मूच्छ ना का स्पष्टीकरण, अंश स्वर का स्पष्टीकरण, ग्रामराग, रागभाषाओं का रूप, जातियो का पुनरुद्धार, मुक्त तंत्री तथा सारिकायुक्त वीणा का स्पष्टीकरण आदि के बारे में ब ाया गया है।

उन्होंने इतिहासपरक अनुसन्धान ो किया। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संगीत पर विदेशी प्रभाव के विषय में दो परस्प विरोधी मत प्रचलित रहे हैं। आचार्य बृहस्पति ने ठोस प्रमाणों के आधार पर इन दो का ही खंडन किया है। एक मतानुसार तो कर्नाटकी संगीत पद्धति विदेशी प्रभाव र सर्वथा अछूती रही है और हिन्दुस्तानी संगीत पर विदेशी प्रभाव काफी पड़ा है। इस त के प्रचारक थे स्व० पं० भारतखडे जी और दूसरे मतानुसार हिन्दुस्तानी पद्धति वि शी प्रभाव से सर्वथा मुक्त है– इस मत के प्रतिपादक पं० ओंकार नाथ ठाकुर थे। थम मत का खंडन करते हुए आचार्य जी ने सिद्ध किया कि दक्षिण में निष्पन्न मेल द्धति विदेशी प्रभाव का ही प्रमाण है। मेल या ठाठ पद्धति का हिन्दुस्तानी संगीत में जि ाना भी प्रभाव है उससे विदेशी प्रभाव प्रमाणित होता है। इस मत का प्रतिपादन आच ार्य बृहस्पति ने किया। (राग रहस्य) आचार्य बृहस्पति को संगीत जगत् एक **'म्यूजिक लॉजिस्ट'** के रूप में जानता है। किन्तु संगीत के क्रियात्मक पक्ष पर भी उनका पूर्ण धिकार था। इस बात से लोग अपरिचित थे। प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन वे हमेशा दो ष्टिकोणों से किया करते थे। एक ओर शास्त्र पक्ष का गहराई से मनन करना तो दूस ओर प्रयोगात्मक ढंग पर विचार करना। यही कारण है कि आचार्य शारंगदेव कृत **'सं ीत रत्नाकर'** जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ को समझने वाला विद्वान 20 वीं शताब्दी में हुआ है। जिसने संगीत जगत् के सामने दुरुह समझे जाने वाले इस ग्रन्थ को दर्पण की भाँति खोलकर रख दिया।

आचार्य बृहस्पति का संकल्प था कि स्व० भातखंडे जी द्वारा किये हुए कार्य को आगे बढाना, दोषों का निराकरण, अभावों की पूर्ति करना, इस आशय से आपने **'राग चिंतन'** शीर्षक से हाथरस से मासिक पत्रिका में 1975 ई० से लिखना आरंभ कर दिया और अप्रैल 1976 तक बारह रागों का रागरूप, तानप्रस्तार तथा बन्दिशें प्रकाशित कर दी। ये बारह राग कौशी कान्हणा, मारू बिहाग, भैरवी, आसावरी, तोड़ी, शिवमत भैरव, शुद्ध कल्याण (आडुव), एमनी बसंत, प्रभात रंजिनी, भटियार, पूर्वी, आहिर भैरव और गौडसारंग है।

आचार्य बृहस्पति ने **'राग चिन्तन'** नामक लेखमाला में उन सभी रागों का चिन्तन किया है जो रामपुर में गाये–बजाये जाते रहे हैं। चूँकि रामपुर का संबंध दिल्ली से रहा है और यहाँ के गायन–वादन की परंपरा सदारंग युग से प्रभावित रही है। आचार्य बृहस्पति को रामपुर के गुणियों के बीच उठने–बैठने का सौभाग्य प्राप्त रहा अतः प्रत्येक राग को उन्होंने उसी दृष्टिकोण से लिखा है जैसा रामपुर में गाया, बजाया जाता था। भारत की हर दिशा में संगीतज्ञ रामपुर अवश्य आते रहे क्योंकि यह रियासत पिछली कई शताब्दियों से **सदारंग परंपरा** से संपृक्त रही है। इस परंपरा ने उस्ताद बहादुर हुसैन खाँ, उस्ताद वज़ीर खाँ, छम्मन साहब, ठाकुर नवाब अली, उस्ताद अलाउद्दीन खाँ, उस्ताद हाफिज अली खाँ और भातखंडे जी जैसे व्यक्तियों का निर्माण किया। जिन्होंने रामपुर के संगीत प्रेमी नवाबों के सहयोग से संगीत जगत का उद्धार किया।

'मुसलमान और भारतीय संगीत' **'खुसरो, तानसेन एवं अन्य कलाकार'**, **'संगीत चिन्तामणि'** आचार्य जी की प्रमुख शोध–कृतियां है। संगीत का एक प्राचीन ग्रंथ **'संगीत समयसार'** का संपादन और टीका भी आचार्य जी ने किया हैं। **'नाट्यशास्त्र'** के 28 वें अध्याय पर संस्कृत में **'संजीवन-भाष्य'** और हिन्दी में **'साधना टीका'** की रचना की है। उन्होंने बहुत से नये रागों का निर्माण वैज्ञानिक ढ़ंग से किया है। आचार्य महोदय ने स्वर, लय, ताल तथा बन्दिश की शिक्षा को नियमानुसार वैज्ञानिक ढंग से समझाया है। आचार्य बृहस्पति द्वारा **'रागरहस्य'** ग्रंथ कई खण्ड में लिखी गई है जिसमें

अनेक रागो के क्रमबद्ध आलाप जो स्वस्थान नियमों के आधार पर हैं, लयबद्ध पल्टे अथवा तानें विलंबित, मध्य तथा द्रुत लय की बंदिशें, उनका साहित्य, अर्थ सहित दिये गये हैं अर्थात **'राग रहस्य'** में सदारंग परंपरा की शिक्षा का सार प्राप्त होता है, जो अत्यंत महत्वपूर्ण है।

आचार्य बृहस्पति की प्रमुख शिष्या तथा पत्नी श्रीमती सुलोचना बृहस्पति है जिनको रागों के सम्पूर्ण रहस्य अपने विद्वान पति द्वारा प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त सरयू कालेकर भी लगातार 12 वर्षों तक आचार्य जी के शिष्यत्व से सिंचित होती रही, जिन्होंने **'रामपुर की सदारंग परंपरा और प्रतिनिधि आचार्य बृहस्पति'** जैसी महत्वपूर्ण पुरतक लिखी है।

इस प्रकार आचार्य जी ने तत्कालीन संगीत मनीषियों के समक्ष भारतीय संगीत के सनातन सिद्धान्तों का दिग्दर्शन एवं आर्ष मनीषियों को सुस्पष्ट कर दिखाया। संगीत के प्रायः सभी अंगों पर आचार्य जी का कार्य बेजोड़ और अभूतपूर्व कहा जा सकता है। इतने गुणों से सम्पन्न आचार्य बृहस्पति 61 वर्ष की आयु में 30 जुलाई 1979 को दिवंगत हो गये। उन्होंने यथार्थतः देश–विदेश में संगीत की ऐसी गंगा प्रवाहित की है, जिसमें अवगाहन कर वर्तमान संगीत कलाकार संगीत जिज्ञासु और संगीत प्रेमी धन्य होंगे।

संगीत के शास्त्रात्मक पक्ष के संबंध में रामपुर परंपरा की देन

संगीत का क्रियात्मक पक्ष की नहीं वरन् शास्त्रात्मक पक्ष भी रामपुर की सांगीतिक परंपरा में पल्लवित हुआ। **'मुआरिफुन्नगमात'** तथा **'लक्ष्य संगीत'** नामक ग्रंथ पर रामपुर परंपरा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार रामपुर के नवाबों को संगीत कला से प्रेम था उसी प्रकार रामपुर की प्रत्येक रियासत के ताल्लुकेदारों और रईसों को भी संगीत से लगाव था। ज़िला सीतापुर के अकबरपुर के रईस राजा मुहम्मद नवाब अली खाँ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आप ठाकुर नवाब अली खाँ के नाम से

प्रसिद्ध हुए। रामपुर के उस्ताद मुहम्म अली खाँ से आपने सैकड़ों बंदिशें सीखी और सभी चीजों को अपनी पुस्तक **'मुआि कुन्नगमात'** में प्रकाशित करवा दिया। अतः इस पुस्तक का महत्व संगीत क्षेत्र में स दा बना रहेगा—कारण बड़े—बड़े उस्तादों और कलाकारों द्वारा गाई हुई बन्दिशों का संकलन इसमें प्राप्त होता है। प्रत्येक बंदिश के ऊपर ठाकुर साहब ने यह स्पष्ट लिखा है कि इस चीज को उन्होंने किससे प्राप्त किया है जिससे वे चीजें प्रामाणिक सिद्ध हो ा है। इन चीजों का राग रूप शास्त्रीय स्तर पर प्रामाणिक व ठीक है। संगीत की वर्त ान पीढ़ी के लिए इस ग्रंथ का बहुत महत्व है क्योंकि रामपुर सदारंग परंपरा में गाई जाने वाली चीजों का संकलन निश्चित रूप से सगीत के लिए अमूल्य धन है।

इसी प्रकार **'लक्ष्य संगीत'** नाम ग्रंथ पर रामपुर परंपरा की छाप दिखाई पड़ती है। **'ठाठ-भेद'** सिद्धान्त एक रहस्य ा है, जो केवल 'सेनियों' के वंश में सन्तति परंपरा से चला आया था। **'स्वर-भेद** नामक सिद्धान्त के जानने वाले गायक साज बजाने वालों को इसके आधार पर ाखा देते हैं। **'रामपुर परंपरा'** इस रहस्य से परिचित थी और जानी साहब ने इसव स्पष्टीकरण किया है। इस परंपरा में कल्याण, बिलावल, खमाज, काफी, आसावरी, भै वी, मारवा, पूर्वी, भैरव, और तोड़ी ये दस ठाठ माने गये हैं। यही दस ठाठ भातखंडे व राग वर्गीकरण का आधार है। अतः इसका अर्थ भी यही है कि **'लक्ष्य संगीत'** की रचन से पूर्व भातखंडे जी रामपुर परंपरा से पूर्णतया प्रभावित हो चुके थे।

अतः हम कह सकते हैं कि तत्क लीन समय में उत्तर प्रदेश में रामपुर के संगीत की सर्वश्रेष्ठ स्थिति थी। हम 'सदारंग' जैसे महान गुणी के ऋणी हैं जिन्होंने संगीत कला को जीवित रखा। रामपुर की सं ोत परंपरा उन्हीं के चरण चिन्हों पर आधारित है। रामपुर के संगीत प्रेमी राजाओं व वाबों के हम आभारी हैं जिन्होंने रामपुर परंपरा के संगीत विद्वानों व कलाकारों को आ ाय व सम्मान दिया। इस कला की रक्षा करना हम सवका परम कर्त्तव्य तथा धर्म है।

हवेली संगीत : उत्तर प्रदेश की एक पुष्ट संगीत परंपरा

उत्तर की संगीत परंपरा के लिये एक ही आधार है और वह है हवेली संगीत। उत्तर प्रदेश की पवित्र भूमि पर **'हवेली संगीत'** के रूप में मंदिरों की संगीत परंपरा का निर्वाह प्राचीन काल से ही अविरल रूप से होता आ रहा है। ठाकुर जयदेव सिंह इन मन्दिरों की संगीत परंपरा के बारे में प्रकाश डालते हुये लिखते हैं– "हमारी संस्कृति का दूसरा केन्द्र मन्दिर रहा है। मन्दिरों में प्रतिष्ठित देव–देवियों के सम्मुख नित्य प्रति, गान और नृत्य होते चले आये हैं।.......काशी में शिव, अयोध्या में राम, मथुरा, वृन्दावन, नाथद्वारा और कांकरौली में कृष्ण के अधिक मन्दिर बने। दक्षिण में भी शिव और विष्णु के अधिक मन्दिर बने। इन सब मन्दिरों में नित्य गान और नृत्य होता था किन्तु विशेषकर मथुरा, वृन्दावन, नाथद्वारा और कांकरौली के वैष्णव मन्दिर गीत और नृत्य के केन्द्र बने।" ठाकुर साहब के उपर्युक्त कथन में मथुरा, वृन्दावन, नाथद्वारा और कांकरौली के मंदिरों को संगीत की दृष्टि से अधिक समृद्ध माना है। ये सभी केन्द्र पुष्टिमार्गीय संगीत प्रणाली के प्रमुख केन्द्र है। निःसन्देह रूप से पुष्टिमार्गीय संगीत की अपनी पुष्ट परंपरा है और इस पर विश्वास करते हुए मैं इस परंपरा द्वारा भारतीय संगीत को दिये गये अतुलनीय योगदान के बारे में प्रकाश डालने का प्रयास करूँगी।

15 वीं शताब्दी के बीच इस देश में जो व्यापक रूप से भक्ति आंदोलन हुआ उसका स्थाई प्रभाव आज तक हमारे जीवन का आधार बना हुआ है। स्वामी हरदिास जी, तानसेन, सूरदास जी, गोविन्द स्वामी जी उस समय के संगीत के आचार्य थे, गायक थे और स्वयं सरस पद के रचयिता कवि थे। जगद्गुरू वल्लभाचार्य जी द्वारा प्रतिपादित पुष्टिभक्ति के अनुसार श्री कृष्ण की बालभाव से सेवा का प्रवाह जो तत्कालीन सामाजिक लोक कुण्ठा को दूर करने एवं नवीन अनुराग मार्ग द्वारा सर्वात्मना स्वकीय अपने जीवन को श्रीकृष्ण भक्ति में रसमग्न कर देने में समर्थ हुआ उसके अनेक

कारणों एवं साधनों में से वह एक कीर्तन पद्धति थी जिसका उनकी अष्टयाम सेवा में पूर्ण प्रयोग हुआ और ऐसी क्रमबद्ध योजना में उसका सदुपयोग हुआ कि सदियों पश्चात् आज भी उसको इसी मर्यादा में पाते हैं जिसकी मर्यादा उन्होंने समय में बाँधी थी। इस अक्षुण्ण परंपरा के अवशिष्ट रूप आज भी हमें देखने को मिलते हैं।

पुष्टिमार्गीय कीर्तन पद्धति जिसे हम कभी–कभी भक्ति संगीत या हवेली[1] संगीत के नाम से आकाशवाणी के कुछ केन्द्रों पर भी सुनते हैं, संगीत के अनेक रूपों–प्रकारों में से एक महत्वपूर्ण सम्मानित पद्धति है जिसमें कुछ प्राचीन, कुछ आर्वाचीन, कुछ केन्द्रीय व कुछ क्षेत्रीय प्रभावों का दर्शन होता है। ब्रजभाषा का श्रीकृष्ण–लीलावर्णन साहित्य उसका पद साहित्य है तथा ध्रुपद–धमार गायन पद्धति है। वर्तमान संगीत के सर्वांग अध्ययन एवं विकल्पों के क्रमिक विकास और तुलनात्मक समीक्षा के प्रसंग में पुष्टिमार्गीय मन्दिरों की इस कीर्तन पद्धति और पद साहित्य की गेय सुलभता का अध्ययन करना सर्वतोन्मुखी ऐतिहासिक अध्ययन है। अतः इस संप्रदाय के मंदिरों में संगीत का विशेष महत्व है। संगीत की इस विशेष प्रणाली का लगभग 500 वर्ष अपना पुराना इतिहास है। जिसके स्वरूप को सँवारने में अनेक गायकों, कवियों तथा कवि गायकों का महत्वपर्णू योग रहा है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में मुग़लकाल की अत्यन्त महत्वपूर्ण देन यह रही है कि इस काल में भारत की संगीत–सरिता दो प्रमुख धाराओं में विभाजित होकर बहने लगी। प्रथम थी मुग़ल बादशाहों के संरक्षण में होने वाले दरबारी संगीत के रूप में और दूसरी वैष्णव मंदिरों में होने वाले देवालय संगीत अर्थात् कीर्तन के रूप में प्रवाहित हो रही थी। संगीत के इन दोनों रूपों में अन्तर आ जाना निश्चित था क्योंकि दोनों रूपों के संगीतकारों का उद्‌देश्य सर्वथा भिन्न रहा। मुग़लकालीन दरबारी गायकों का उद्‌देश्य अपने संगीत से बादशाह सलामत को खुश करने का रहा जबकि वैष्णव मंदिर के संगीतज्ञों का उद्‌देश्य भिन्न–भिन्न भावनाओं से प्रेरित होकर अपने एकमात्र इष्टदेव

---

1. गुजरात में पुष्टि मार्ग के मन्दिरों को **हवेली** कहते है।

को रिझाने का रहा। फलतः दरबारी संगीत में धीरे–धीरे विलासिता व अश्लीलता आदि अनेक दुगुर्णों का समावेश हो गया जबकि देवालय संगीत उत्तरोत्तर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होता गया। देवालय संगीत में स्वरूप गांभीर्य बना रहा और आज भी इस प्रकार का लगभग समूचा संगीत भारतीय संगीत की प्राचीन विधा 'ध्रुपद–धमार' गायन शैली में ही निबद्ध होकर व्यवहार में आ रहा है। चाहे ब्रज हो या बंगाल, असम हो या गुजरात देश में उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सभी स्थानों पर देवालय संगीत की परंपरायें अपने आप में आज भी प्राचीनता को संजोये हुए हैं। दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते है कि यदि हमें भारतीय संगीत के प्राचीन स्वरूप का आभास लेना हो तो निःसन्देह देवालय अर्थात् मन्दिरों का संगीत ही हमारी तृप्ति कर सकता है।

पुष्टि का अर्थ :

पुष्टि का सांकेतिक अर्थ है पोषण। किन्तु उनका अर्थ यह नहीं है कि पुष्टि को मात्र शारीरिक पोषण समझ लिया जाय अपितु जिस प्रकार शास्त्रों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द अपना विशिष्ट अर्थ रखते हैं, उसी प्रकार यहाँ पर भी पुष्टि शब्द का एक विशेष अर्थ लिखा गया है। जिस प्रकार गीता में योगक्षेम का अर्थ 'अप्राप्त का लाभ और प्राप्त का संरक्षण' है उसी प्रकार पुष्टि शब्द का भी एक विशेष अर्थ है। यह विशिष्ट अर्थ श्रीमद्भागवत के **'पोषणं तदनुग्रह'**[1] सूत्र पर आधारित है जिसका अर्थ है कि भगवान का अनुग्रह ही पोषण या पुष्टि है। जीव का योगेक्षेम इस पोषण तदनुग्रहः के अभाव में असंभव है।

पुष्टि सम्प्रदाय का दार्शनिक दृष्टिकोण :

श्री वल्लभाचार्य ने **अणुभाष्य** में अपना मत स्पष्ट किया है। ब्रम्हा निर्गुण और निर्विशेष है। जीव अणु और सेवक है। जगत (प्रपंच) सत्य है। ब्रम्ह ही जगत के निमित्त और उपादान कारण है। गोलोकाधिपति श्री कृष्ण ही ब्रह्म हैं तथा जीव के सेव्य

---

1. श्रीमद्भागवत– 2/10/1

है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही शुद्ध है। इसी से इस मत का नाम शुद्धाद्वैत है। श्रीमद्भागवत इस संप्रदाय का प्रमाण ग्रंथ है। जीव तीन प्रकार के माने गये है– 1 प्रवाह मार्गी 2 मर्यादा मार्गी 3 पुष्टिमार्गी। प्रवाह मार्गी जीव वह है जो संसारी है, मर्यादा मार्गी जीव माया से मुक्त रहकर वेदोक्त आचरण करते है तथा पुष्टिमार्गी जीव वे है जो माया रहित होकर अनन्य भाव से प्रभु को आत्म समर्पण करते हैं। पुष्टि भक्ति ही जीव के लिये परमफल प्राप्ति का एकमात्र साधन है तथा भगवान श्री कृष्ण का सायुज्य प्राप्त कर लेना ही उसके लिए परमफल है।

पुष्टिमार्गीय मंदिरों के संगीत का उद्‌गम व विकास

पुष्टिमार्गीय वैष्णव देवालय संगीत के स्रोत :

'श्रवणं कीर्तनम् विष्णु स्मरणम् पाद सेवनम्
अर्चन वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदकम्।।'[1]

श्रीमद् भागवत् के उपर्युक्त श्लोक के अनुसार समस्त वैष्णव मंदिरों में श्रवण एवं कीर्तन की योजना सदैव से रहती आई है। कहीं पर दर्शन खुलने से पहले, कहीं बाद में तो कहीं दोनों समय भगवान का स्मरण करते हुये कीर्तन–भजन गाये जाते हैं। श्री वल्लभाचार्य ने भी इसका अनुमोदन करते हुये अपने ग्रंथ 'निरोध लक्षण' में कहा है–

महतां कृपया यावद् भगवान दययिष्यति।
तावदां नेद संदोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि। ।४।।
महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखद सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्ध भोजन रूपवत् ।।५।।
गुण गाने सुषवाप्ति गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नेवात्मनि कुतोऽन्यतः ।।६।।
तस्मात्सर्व परित्यज्य निरद्धैः सर्वदा गुणाः
सदानंद पवैर्गेयाः सच्चिदानंदताः ततः ।।७।।

---

1. श्रीमदभावगत 75-23

अर्थात् जब तक भगवान अपनी महती कृपा भक्तों पर करें तब तक साधन दशा में ईश्वर के गुण, नाम के कीर्तन ही आनंद देने वाले होते हैं। ईश्वर के गुणगान में जो आनद है वह लौकिक पुरूषो के गुणगान में नहीं है तथा जैसा सुख भक्तों को भगवान के गुणगान में होता है वैसा सुख भगवान के स्वरूप ज्ञान की मोक्ष अवस्था में भी नहीं होता। इसलिये सदानंद ईश्वर में करने वाले भक्तों को सब लौकिक साधन छोड़कर भगवान के गुणों का गान करना चाहिये। ऐसा करने से भक्तों में ईश्वरीय गुण आ जायेंगे। इस भगवत गुणगान स्वरूप कीर्तन को और गहरा रंग प्रदान करने के लिये पुष्टि मार्ग में इसे सेवा का आवश्यक अंग ही मान लिया गया है और यहाँ इस लीला गान स्वरूप कीर्तन की योजना मंगला से शयन पर्यन्त अविरल स्वरूप में रहती हैं। दर्शन खुलने पर भी कीर्तनियाँ भगवान के सम्मुख कीर्तन करता रहता है। भगवान को कीर्तन से ही जगाया जाता है, कीर्तन से ही स्नान, कीर्तन से ही श्रृंगार, भोग, आरोगन, आरती ब्यारू व शयन अर्थात् सभी क्रियाओं का संचालन कीर्तन से ही होता है।

संगीत का यह स्वरूप पुष्टि मार्ग में कहाँ से आया? इसका स्रोत क्या है? सम्प्रदायान्तर्गत मान्यता के अनुसार यह सब आचार्य श्री वल्लभ की मौलिक देन है। वे सर्वगुण सम्पन्न स्वयं परमात्मा स्वरूप थे। अतः उनको कौन सिखाता अथवा वे कहाँ सीखते आदि–आदि बातें सम्प्रदाय में प्रचलित है। लेकिन हमारे विचार से श्री वल्लभचार्य जी प्रकाण्ड विद्वान होने के साथ–साथ एक कुशल धर्मोपदेशक भी थे। उन्होंने जब यह देखा होगा कि ईसा की 7 वीं व 8 वीं सदी में दक्षिण में शिव और विष्णु की भक्ति का प्रचार किया गया तब उस प्रचार कार्य का सबसे प्रभावशाली माध्यम अलवार भक्तों के वे तमिल गीत ही थे जिन्होंने लोक भाषा का सहारा लेकर लोक जीवन को अपनी ओर सुगमता से आकृष्ट कर लिया था तो वे भी ब्रज को अपने कार्य क्षेत्र का केन्द्र चुनने पर वहाँ की लोक भाषा ब्रज भाषा का लोभ संवरण न कर सके होंगे और उस भाषा के पदों को उन्होनें संस्कृत के श्लोकों से भी ऊँचा पद देकर वहाँ के लोक जीवन के वे सहज ही में नायक बन गये होंगे।

हवेली संगीत – पुष्टिमार्गीय संगीत का दूसरा नाम :

हवेली शब्द फ़ारसी भाषा का है जिसका अर्थ है– भव्य एवं सुख सुविधा की दृष्टि से बना हुआ सुन्दर निवास स्थान। यह शब्द इसी अर्थ में सब जगह प्रयोग में आता है। किसी भी सुन्दर व आरामदेह भवन को जिसमें स्थान पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो, हवेली कहते हैं। ब्रज में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। बड़े–बड़े व मीलों लम्बे भव्य राज प्रासाद (महल) तथा एक सामान्य निवास गृह के बीच का रूप हवेली नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन पुष्टिमार्ग में इस संप्रदाय क मंन्दिरों को गुजरात में हवेली कहते हैं। जब इस संप्रदाय के मंदिरों को गुजरात में हवेली कहा जाने लगा तो उनमें होने वाले संगीत को क्या कहा जाय? यह समस्या स्व० श्री एन०एन० शुक्ल, चीफ प्रोड्यूसर (संगीत) आकाशवाणी दिल्ली के समक्ष थी। इन्होंने डॉ० डी० जी० व्यास व पुष्टि संप्रदाय संगीत के सर्वाधिक प्रसिद्ध संगीतकार श्री लक्ष्मण प्रसाद चौबे (मथुरा) के परामर्श से इसका नाम **'हवेली संगीत'** रखा। यह घटना 40 वर्ष से पुरानी नहीं है। तभी से आकाशवाणी के विविध केन्द्रों से पुष्टिमार्गीय मन्दिरों का यह संगीत **'हवेली संगीत'** के नाम से प्रचार में आने लगा। अतः इसका 'हवेली संगीत' नामकरण प्राचीन नहीं बल्कि अत्यधिक आधुनिक है।

गायन शैली :

'पुष्टिमार्गीय वैष्णव मन्दिरों का संगीत' जिसे हम सुविधा के लिये पुष्टिमार्गीय संगीत अथवा 'पुष्टिमार्गीय कीर्तन' कह सकते हैं, की गायन शैली सर्वथा ध्रुपद–धमार शैली थी क्योंकि ग्वालियर के राजा मानसिंह (संवत् 1543 वि०–1576 वि०)[1] को ध्रुपद का आविष्कारक माना जाता है जैसा कि फक़ीरूल्लाह जिसने राजा मानसिंह द्वारा रचित **'मानकुतूहल'** का फ़ारसी में अनुवाद किया था लिखा है। "राजा मानसिंह ग्वालियर का शासक था और उसका संगीतशास्त्र विषयक ज्ञान तथा कीर्ति अनुपम है।

---

1. मानसिंह और मानकुतूहल, हिन्दी अनुवाद, हरिहर निवास द्विवेदी, पृष्ठ – 11-12

कहते हैं कि सबसे पहले ध्रुपद का आविष्कार राजा मानसिंह ने किया था।"[1] उपरोक्त राजा मानसिंह के ही काल में पुष्टिमार्गीय संगीत का सूत्रपात हुआ था। ध्रुपद के अमर गायक स्वामी हरिदास जी वृन्दावन में ही रहते थे तथा तानसेन आगरे में। अतः कह सकते है कि ग्वालियर, आगरा, मथुरा, वृन्दावन का क्षेत्र विशेष रूप से ध्रुपद गान शैली से प्रभावित था। श्री वल्लभाचार्य जी, श्री हरिदास जी, राजा मानसिंह व कीर्तनकार कुंभनदास जी प्रायः समकालीन थे। यह समय ध्रुपदगायकी का था। अकबर के जितने गायक थे सब ध्रुपदिये थे कीर्तन की पुस्तकों में अनेक पदों की प्रथम तुक के पश्चात् ।। धृ० ।। अथवा ।।ध्रुव।। ऐसा लिखा गया है। इससे इसके ध्रुपद होने को तथा इस गायन शैली को ध्रुपद–धमार शैली होने को असंदिग्ध माना जा सकता हैं।

ध्रुपद और विष्णुपद :

पुष्टिमार्गीय कीर्तन की गायन शैली को प्रायः विष्णुपद कह कर टाल दिया जाता है। इसे ध्रुपद शैली न मानने की ऐसे लोगों के पास एक ही दलील है कि अकबरकालीन अबुल फ़ज़ल ने आईने अकबरी में लिखा है कि–'ध्रुपद' को गाने वालों को क्लावन्त कहते हैं[2] और कीर्तनियाँ तो विष्णुपद गाते हैं।[3] आचार्य के०डी० बृहस्पति भी इस बात का समर्थन करते हुये लिखते हैं–"अष्टछाप के महान गायकों में सभी अच्छे संगीत साधक थे परन्तु शिल्प की दृष्टि से उनकी रचनाएँ विष्णुपद की शैली में आती है और उनमें छन्द व ताल का समन्वय है। उनमें काव्य प्रधान है और संगीत आनुषंगिक। इसका कारण यह है कि मन्दिरों में प्रतिदिन गाये जाने वाले कीर्तनों की रचना अष्टयाम के अन्तर्गत विभिन्न प्रहरों में सीमित समय के अन्दर गाने के लिए हुई, संगीत–कौशल का प्रदर्शन लंबे काल तक करने के लिये नहीं।"[4]

किन्तु इसके प्रत्युत्तर में निम्नलिखित बिन्दु सामने आते हैं–

---

1. मानसिंह और मानकुतूहल, हिन्दी अनुवाद, हरिहर निवास द्विवेदी, पृष्ठ – 22
2. The Karawund (Kalawant) Chiefly sing the Dhroopad AIN GLAD
3. Those of mattra (Mathura) are called Bishenpad consisting of stanzas four or six lines and are in praise of kishan (Krishna)- AIN Glad, page- 130
4. ध्रुपद और हिन्दी साहित्य शोध प्रबन्ध – पृष्ठ 211

1. विषय–वस्तु की दृष्टि से अष्टछाप आदि कवियों की रचना को विष्णुपद के नाम से भले ही पुकारा गया हो लेकिन गायन शैली की दृष्टि से वह ध्रुपद शैली में ही निबद्ध होकर गाया जाता है क्योंकि ध्रुपद व विष्णुपद में मात्र विषय–वस्तु का ही अंतर बताया गया है।

2. यदि कृष्ण की स्तुति में रचे गये पद विष्णुपद तथा **'नेह प्रीत'** के पद ध्रुपद थे तो अष्टछाप के भक्त गायकों के अनेक पद 'नेह प्रीत' के पद कहे जा सकते है यह बात अलग है कि उन्होंने अपनी रचना के नायक के रूप में कृष्ण को ही माना है यथा–

मेरो भाई हरिनागर सों नेह।।

जबतें दृष्टि परे मनमोहन इन तवते बिसरायो गेह।।१।।

सरिता सिन्धु मिली परमानंद भयौ एक रस तेह।। २।।

ऐसे पदों की तो पुष्टिमार्गीय कीर्तनों में भरमार है। ऐसी स्थिति में इनको ध्रुपद न कहने का कोई कारण समझ मे नहीं आता। इसके विपरीत स्वामी हरिदास के सभी पद कृष्ण राधा के गुणगान है फिर उनको ध्रुपद क्यों कहा जाता है।

3. विष्णुपद, हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत एक छन्द विशेष का नाम है न कि कोई गायन शैली। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने ग्रंथ **'सूरमीमांसा'** में लिखा है–".........इस प्रकार विस्तार के क्रम से सूरदास के द्वारा प्रयुक्त छन्द इस प्रकार है– चन्द्र, भानु, कुंडल, सुखदा, राधिका, उपनाम, हीर, तोमर, शोभन, रूपमाला, गीतिका **"विष्णुपद"**, सरसी, हरिपद, सार, लावनी, वीर, समान–सवैया, मत्त–सवैया, हंसाल और हर प्रिया।[1]."

श्री एस०एम० टैगोर ने भी विष्णुपद को इसी अर्थ में लिया है।[2]

---

1. सूरमीमांसा, लेखक, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० – 234
2. Bishenpad- This is a species of Hindu hymns it was founded by soordas, a blind poet and musician and of a moral tendency

4. यदि पुष्टिमार्गीय संगीत में विष्णुपद ही गाये जाते हैं (यदि विष्णुपद को एक अलग से गायन शैली मान भी लें) तो स्वामी हरिदास जी, तानसेन, घौथी आदि के ध्रुपद क्यों गाये जाते हैं? अथवा उक्त संगीतज्ञों की रचनाएँ किसी और ढंग से तथा शेष रचनाएँ किसी और ढंग से गाई जाती है? इससे ज्ञात होता है कि गायन शैली की दृष्टि से विष्णुपद व ध्रुपद में काई अन्तर नहीं है।

5. ध्रुपद को विष्णुपद से अधिक गेय बताते हुये कहा जाता है कि विष्णुपद में तो छन्द का बंधन होता है जबकि ध्रुपद में कोई बन्धन नहीं होता है। यह एक विचित्र बात है कि जो रचना छन्द शास्त्र के नियमानुसार मात्रा व वज़न का ध्यान रखते हुए बनाई गई हो वह तो कम गेय हो और जिसमें छन्द गत कोई नहीं, कोई अनुशासन नहीं, वह अधिक गेय हो।

6. यद्यपि उस समय ख्याल टप्पा गाने का प्रचलन हो चला था लेकिन अष्टछाप के गायकों को वह गाना पसंद नहीं था। **चौरासी वैष्णवन की वार्ता** के अन्तर्गत कृष्णदास की वार्ता का यह प्रसंग देखिये।

"आगरे के बाजार में एक वैश्या नृत्य करत हुती, ख्याल टप्पा गावत हुती और भीर हुती...सौ कृष्णदास बाजार में तमासे में जाय ठाड़े भये..................वा वेश्या सो कह्यौ जो तेरौ गान हूँ आछौ और नृत्य हू आछौ पर हमारौ सेठ है सो तेरे ख्याल टप्पा ऊपर रीझेगो नाही तातै हौं कहो सो गाइयो तापाछे कृष्णदास ने एक पूरवी राग में पद करके सिखायों।

अतः हम कह सकते हैं क पुष्टिमार्गीय कीर्तनशुद्ध ध्रुपद–धमार शैली में ही अपने आदि रूप में गाया गया था तथा वह स्वरूप यथोचित रूप में आज भी हमारे समक्ष है। इस प्रसंग मे यह कह देना भी उपयुक्त होगा कि ध्रुपद गायन शैली की भाँति यदि 'विष्णुपद' नाम से कोई पृथक गायन शैली है तो ये अपने आप में एक शोध–विषय है।

संप्रदाय के सर्वप्रथम गायक–कुंभनदास :

पुष्टिमार्गीय संगीत का सूत्रपात संवत् 1556 वि० में जमुनामतौ गाँव के निवासी श्री कुंभनदास के हाथों हुआ। श्री कुंभनदास जी पुष्टिमार्गीय संगीत के सर्वप्रथम संगीतकार (कीर्तनकार) थे। वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि कुंभनदास जी एक सुविख्यात गायक थे और श्री वल्लभाचार्य ने सर्वप्रथम इन्हीं को कीर्तन की सेवा के लिये आज्ञा दी थी। यथा श्री गोवर्धन नाथ जी की वार्ता में लिखा है– "तब श्री आचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा में बंगाली ब्राह्मण हिते तिनको सेवा की रीत बिताई माधवेन्द्रपुरी कूँ मुखिया किये और उनके शिष्यन कूँ सेवा में राख दियो, कृष्णदास जी कूँ अधिकार की सेवा दिये, कुंभनदास कीर्तन की सेवा दिये और आचार्य जी महाप्रभून ने नित्य को राग बाध्यो............।"[1]

डॉ० उषा गुप्ता ने भी श्री कुंभनदास के विषय में लिखा है–

"कुंभनदास पुष्टिमार्गीय कवियों में सबसे वयोवृद्ध और माधुर्य भक्ति के सरस गायक थे। वे श्रीनाथ जी के सर्वप्रथम कीतनकार हुये थे।"[2] वार्ता साहित्य के साक्ष्य से ही ज्ञात होता है कि कुंभनदास जी गोवर्धन के पास जमुनावतौ गाँव के निवासी थे तथा खेती करते थे।

ब्रज प्रदेश की तत्कालीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के परिष्कृत रूप का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि एक सामान्य कृषक को भी संगीत का उत्कृष्ट ज्ञान होना संभव था। वैसे वार्ता साहित्य में श्री कुंभनदास जी के गायक रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने की बहुत ऊँची– ऊँची बातें मिलती हैं, लेकिन ये सब अन्तर्साक्ष ही है। अतः इतना ही मान लेना पर्याप्त होगा कि श्री कुंभनदास जी मधुर कंठ वाले भक्त कवि गायक थे तथा पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ही कुशल गायक के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। संगीत की शिक्षा इनको कहाँ से प्राप्त हुई इसका उल्लेख

---

1. श्री गोवर्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता - हरिराय जी कृत पृष्ठ--20
2. "हिन्दी के कृष्णभक्ति साहित्य में संगीत पृष्ठ– 31

कहीं नहीं मिलता। अनुमानतः उस समय का गोवर्धन एक महान व सम्पन्न सांस्कृतिक केन्द्र रहा होगा। उस समय समृद्ध वातावरण के ही परिणाम स्वरूप जन साधारण की रूचि भी अत्यन्त परिष्कृत रही होगी। निश्चय ही कुंभनदास जी जैसे प्रतिभाशाली पुरूषों के लिये इस प्रकार का वातावरण वरदा·न सिद्ध हुआ होगा। हवेली संगीत में श्री कुंभनदारा जी के पद विपुल गात्रा गें गाये जाते हैं। इनका सर्वाधिक गाया जाने वाला पद इस प्रकार है–

गिरिधरलाल रसभरे खेलत विमल बसंत राधिका संग।।

उड़त गुलाल अबीर अरगजा छिरकत भरत परस्पर रंग।।

बाजत ताल मृदंग अधोंटी बीना मुरली तान तरंग।।

कुंभनदास प्रभु यह विधि क्रीड़त जमुनापुलिन लजावत अनंग।। २।।

अन्य कीर्तनकार (कीर्तनियाँ)

कृष्णदास :

श्री कृष्णदास का जन्म गुजरात के चिलोतरा नामक स्थान पर संवत् 1553 वि० में हुआ था। आप संवत् 1568 वि में गोवर्धन में पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुये और तभी से श्री नाथ जी की रोवा गें रत रहे। तिरोधान संवत् 1636 वि० में पूंछरी में हुआ। वार्ता साहित्य के अनुसार सर्वप्रथम आपको श्रीनाथजी के मंदिर की व्यवस्था सेवा आज्ञा हुई। आपके द्वारा रचित पदों में रास के पद विशेष आकर्षण की वस्तु है। कृष्णदास जी को संगीत का ज्ञान कहाँ से हुआ इरा विषय में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। श्री हरिराय जी की वार्ता के अनुसार आप 13 वर्ष की आयु में ही पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुये थे और गुराजत से ब्रज में आये थे। ऐसा मालूम होता है कि सूरदास, परमानंददास, गोविन्द स्वामी आदि कुशल गायकों के संसर्ग में आकर सुन–सुन कर ही आपको कीर्तन करने का ज्ञान हुआ होगा। हवेली संगीत में आपके पद प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। रास के पदों में आपके पदों की संख्या सर्वाधिक है। आपका सबसे अधिक गाया जाने वाला पद इस प्रकार है–**गिडगिडतांताता घितांघितां मदिलरा बाजे आदि ।**

सूरदास :

यों तो अष्टछाप के आठों कीर्तनकार अच्छे कवि व गायक थे किन्तु इनमें सर्वश्रेष्ठ स्थान सूरदास का ही है। "आचार्यों की छाप लगी हुई जो आठ वीणायें श्रीकृष्ण–प्रेम की प्रेम–लीला कीर्तन करने उठी उनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झंकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।"[1]

सूरदास जी का जन्म संवत् 1535 वैशाख सुदी पंचमी और गोलोकवास लगभग संवत् 1638 वि० अथवा 1639 वि० है।[2] ये मथुरा व आगरा के मध्य स्थित गौघाट पर रहते थे। "सो गऊ घाट आगरे और मथुरा के बीचोबीच है...............सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हु तौ ।.................गान बहुत आछौ करते ताते बहुत लोग सूरदास जी के सेवक भयेहते.............. ।"[3]

पुष्टिमार्ग मे दीक्षित होने के के अनंतर सूरदास जी आचार्य महाप्रभु के साथ ब्रज में पधारे। वैसे तो इनके पद अनेक रागों में बद्ध है लेकिन इनके पद से जान पड़ता है कि छत्तीस राग मुख्यतः प्रिय थे। सूरदास के संगीत गुरू कौन थे तथा किस प्रकार इनको संगीत का इतना ज्ञान हुआ इसका उल्लेख किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। वार्ता साहित्य से यही ज्ञात होता है कि सूरदास पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से पहले ही कुशल संगीतज्ञ के रूप में प्रचुर ख्याति प्राप्त कर चुके थे तथा दीक्षित होने के अनन्तर उनको बादशाह अकबर ने भी पद श्रवण हेतु बुलाया था। हवेली संगीत में आपके पद सर्वाधिक संख्या में गाये जाते हैं। इनका "भरोसों दृढ़ इन चरनन के रो" पद इस परंपरा में सर्वाधिक महत्व का समझा जाता है तथा वर्ष पर्यन्त आसरे के पद के रूप में शयन की झाँकी के उपरान्त राग बिहाग में गाया जाता है। वह इस प्रकार है–

---

[1] भ्रमरगीत सार– आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रथम संस्करण, भूमिका, पृष्ठ–2

[2] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डॉ दीनदयाल गुप्त, भाग–1, पृ०–219

[3] चौरासी वैष्णवन की वार्ता

"भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।

श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माँहि अंधेरो।

साधन और नाहि या कलि में जासों होत निवेरो।

सूर कहा कहै द्विविध आँधरौ बिना मोल को चेरो।।

परामानन्द दास :

श्री परमानन्द दास जी कन्नौज निवासी थे। जन्म संवत् 1550 वि० से अगहन सुदी 7 के गोलोकवास संवत् 1641 वि० की भाद्रपद कृष्ण ६ को ब्रज में सुरभिकुंड पर हुआ। आप संवत 1577 में अडैल (प्रयाग) स्थान पर पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुये थे। **'भावप्रकाश'** में भी इन्हें अच्छा संगीतज्ञ कहा गया है और "परमानन्द दास ने अपने घर कीर्तन कौ समाज कियौ। सो गाम गाम में प्रसिद्ध भये। और परमानन्द दास गान विद्या में परम चतुर हते।"[1] परमानंद दास जी का संगीत गुरू कौन था? उसका पता नहीं चलता। केवल इतना सर्वविदित है कि उस समय कन्नौज सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न था। संभवतः इसी सम्पन्नता के परिणामस्वरूप ही आप अपनी गान विद्या के विकास में सफल रहे होंगे। 'वार्ता साहित्य' के वर्णन से यह सिद्ध होता है कि आप पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से पूर्व ही एक कुशल कीर्तनकार वे रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का कला प्रेम :

सम्प्रदाय का अन्तर्साक्ष गोस्वमी विट्ठनाथ जी को साक्षात् कृष्ण मानता है यथा–

(1) बहुरि कृष्ण श्री गोकुल प्रकटे श्री विट्ठल नाथ हमारे।।

द्वापर वसुधा भार हर्यौ हरि, कलियुग जीव उद्धारे।। १।।[2]

(2) ब्रज जन गावत गीत बधाए।

श्री विट्ठलनाथ प्रकट पुरूषोत्तम गोकुल गृह जब आये।।[3]

---

1. चौरासी वैष्णवन की वार्ता हरिराय (अष्ट समान की वार्ता) पृष्ठ– 34
2. कीर्तन संग्रह भाग–2 पृष्ठ– 83
3. कीर्तन संग्रह भाग–2 पृष्ठ– 83

ऐसे अनेक पद संप्रदाय में बड़ी अनन्य भावना से गाये जाते हैं। उनके बारे में कुछ बर्हिसाक्ष भी प्राप्त है जिनसे धारणा बनती है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का व्यक्तित्व अति प्रभावशाली था। वे विलक्षण प्रतिभा वाले व्यक्ति थे क्योंकि उन्होंने **'श्रीनाथ'** जी की सेवा का अभूतपूर्व विकास किया था। चित्रकला, संगीत व साहित्य ही नहीं अपितु अन्यान्य उपयोगी कलाओं जैसे पाक कला, पोशाक व आभूषण बनाने की कला आदि का उनको पूर्ण रूप से व्यवहारिक ज्ञान था। वास्तव में गोस्वामी विट्ठलनाथ श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। उन्होंने जयदेव के **गीत गोविन्द** से प्रेरणा लेकर अनेक अष्ट पदियों का निर्माण किया जिसमें से अब भी संप्रदाय में गायी जाती है यथा–

हरिरिह ब्रज युवती शत संगे।

विलस।ते करिणि गण वृत वारण वर इव रति पति भान भंगे।। ध्रुव।।

आदि–आदि–[1]

यह भी विट्ठलनाथ जी का संगीत प्रेम ही था कि उन्होंने श्रेष्ठ भक्त गायकों को एकत्रित किया और **अष्टछाप** के नाम से विख्यात किया। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने पुष्टिमार्ग के संगीत व साहित्य का विपुल मात्रा में सृजन किया तथा कराया।

अष्टछाप की स्थापना (संवत् 1602 वि०) :

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को श्रीनाथ जी की सेवा का विस्तार करना था। उनकी विचित्र प्रतिभा ने ऐसे कवि गायकों को ढूँढ़ निकाला। उन्होंने अष्टयाम की सेवा के लिये अष्ट साखाओं की मंडली बनाई जिसमें चार सेवक (श्री कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास, परमानंद दास) अपने पिता के लिये तथा चार सेवक (श्री गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी, श्री चतुर्भुजदास, श्री नंददास) अपने लिये। यही मंडली हिन्दी साहित्य जगत में **'अष्टछाप'** के नाम से प्रसिद्ध हुई तथा इन्हीं द्वारा प्रवर्तित संगीत की विधा पुष्टि मार्ग में आद्योपान्त आज भी सुनाई देती है। ये सभी सखा उच्चकोटि के संगीतज्ञ व कवि थे। 'अष्टछाप' के उपरोक्त चार भक्त गायकों के अतिरिक्त शेष चार भक्त गायकों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

---

1 कीर्तन संग्रह (बसंत कीर्तन) भाग–2 पृष्ठ– 1

गोविन्द स्वामी :

गोविन्द स्वामी का जन्म लगभग सं० 1562 वि० में आंतरी (भरतपुर राज्य) ग्राम में हुआ था कालांतर में वे ब्रज में महाबन में रहने लगे। यथा–'................गोविन्द स्वामी आंतरी ग्राम में रहते। तहाँ गोविन्द स्वामी कहावते...............एक समय गोविन्द स्वामी आंतरी ग्राम ते ब्रज को आये महाबन में आय के रहें।[1] गोविन्द दास अच्छे कवि थे। महाबन में कुछ दिन रहने के पश्चात् आपने विट्ठलनाथ जी से पुष्टिमार्ग की दीक्षा प्राप्त की। वार्ता साहित्य के साक्ष्य से विदित होता है कि आपको साक्षात् **'जुगल जोड़ी'** के दर्शन हुये थे और न केवल दर्शन ही वरन् उनका अलौकिक संगीत भी सुनने को प्राप्त हुआ था। इनके संगीत गुरू कौन थे इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन गान कला में आप तानसेन से भी अधिक कुशल थे। तानसेन स्वयं श्री गोविन्द स्वामी जी से गायन सीखने आये थे जिसका साक्ष्य वार्ता साहित्य में प्राप्य है।[2]

छीत स्वामी :

आप मथुरा के चौबे थे तथा जन्म संवत् 1571 पौष कृष्णपक्ष 10 में मथुरा में हुआ था। छीतस्वामी जी ने संगीत की शिक्षा कहाँ से प्राप्त की इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता है ऐसा प्रतीत होता है कि उनको प्रारंभ से ही संगीत में रूचि रही होगी तथा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के उपरान्त जब वे श्री गोविन्द स्वामी, सूरदास व परमानन्ददास जैसे गायकों के सम्पर्क में आये तब उन्होंने अपने संगीत ज्ञान में पर्याप्त वृद्धि की होगी। पुष्टिमार्ग में दीक्षित हो जाने के अनन्तर श्री छीत स्वामी आजीवन गोवर्धन (मथुरा) में रहते हुये अपने इष्टदेव श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा में लीन रहे। संवत् 1642 वि० में फाल्गुन कृष्ण ७ को गिरिराज की तलहटी में ही आपका गोलोकवास हुआ। पूंछरी पर 'स्यात तमाल' व 'अप्सरा कुण्ड' आपके स्मृतिस्थल है।

---

[1] दो सौ वावन की वैष्णवन की वार्ता। प्रसंग (अष्टछाप–धीरेन्द्र वर्मा पृष्ठ 119)

[2] दो सौ वावन वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ– 397-96

हवेली संगीत में आपके अनेक पद गाये जाते है। इस शैली में आपका जो पद सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ है वह इस प्रकार है–

अहौ विधना तो चै अंचारा पसारि मांगौ
जनम-जनम दीजै याही ब्रज वसिवों
अहीर की जाति समीपनन्द घर
घरी-घरी धनश्याम हेरि-हेरि हंसि वौ
दधि के दान भिस ब्रज की बीथिन में
झक झेरान अंग-अंग कौ परासवौ।
छीतस्वामी, गिरिधरन श्री विट्ठल
सरद रैगि रसरास को बिलसिबौ।।

चतुर्भुज दास :

श्री चतुर्भुजदास जी को संगीत का पैतृक ज्ञान अपने पिता श्री कुंभनदास जी से मिला था। अष्टछाप के ये ही एकमात्र ऐसे संगीतकार है जिनके बारे में हमें सप्रमाण ज्ञात होता है कि इन्होंने संगीत की शिक्षा कहाँ और किससे प्राप्त की। कविता रचने की व्यवहारिक शिक्षा आपने अपने पिता से प्राप्त तो की ही साथ ही आप प्रतिभा सम्पन्न भी थे।वार्ता में कई स्थलों पर चतुर्भुज दास के कीर्तन करने व गाने का उल्लेख किया गया है।[1] "चतुर्भुजदास के मन बहुत विरह भयौ, तब श्री गिरिराज के ऊपर बैठिके विरह के कीर्तन करन लागै" हवेली संगीत में श्री चतुर्भुजदास जी के पद प्रचुर मात्रा में गाये जाते है। आपका सर्वाधिक लोकप्रिय पद इस प्रकार है–

केदार राग (चौताल)

अद्भुत नट भेष धरै यमुना तट स्याम सुन्दर
गुण निधान गरिवरधर, रासरंग राचे।
युवति यूथ संग लिये, गावत केदारौ राग
अब घर बर वेणु मधुर, सप्तसुरत साचें।।

संवत् 1642 फाल्गुन कृष्ण 7 को रूद्रकुंड पर आपका गोलोकवास हुआ।[2]

नन्ददास :

आपका जन्म संवत्, 1590 वि० में सोरो क्षेत्र में रामपुर ग्राम में हुआ। कहते हैं कि आप गोस्वामी तुलसीदास जी (रामचरित मानस–प्रणेता) के भाई थे। नाभादास जी ने आपका वर्णन करते हुये कहा है–

लीला पद रसरीति ग्रन्थ रचना में नागर।

सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर।।[3]

इन पंक्तियों में 'भक्तिरस गान उजागर' से ज्ञात होता है कि श्री नंददास जी कवि होने के साथ–साथ कुशल गायक भी थे तथा इनका गायन भक्ति रस से परिपूर्ण रहता था। हवेली संगीत में आपके विरचित अनेक पद प्रचुर मात्रा में गाये जाते हैं। इस प्रणाली में आपका निम्नांकित पद सर्वाधिक मात्रा में गाया जाता है–

कृष्ण नाम जब ते श्रवण सुन्यौ ही आली।

भूली री भवन हो तो बाबरी भाई।।

भरि-भरि आये नैन, चित हून परै चैन।

मुखहू न आवै बैन, तनकी दसा कछु और रही ही।।

उक्त पद राग तोड़ी में गाया जाता है चार ताल व्यवहृत होती है स्थाई का समय कृष्णनाम के 'ना' पर होता है।

उपरोक्त कीर्तनकारों के अतिरिक्त अष्टछाप की परंपरानुसार कीर्तन साहित्य के अन्य भक्त गायक प्रणेताओं के रूप में श्री विष्णुदास, श्री राधोदास, श्री भट्ट, स्वामी श्री हरिदास, हित हरिवंश, श्री हरिराय जी, श्री पुरूषोत्तम दास जी, श्री कल्याण राय जी, श्री ब्रजपति, श्री ब्रज जीवन तथा श्री गोकुलपति आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हे, जिन्होनें पुष्टिमार्गीय संगीत परंपरा को परावैभव तक पहुँचाने में अमूल्य योगदान देकर उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को समृद्ध बनाया।

---

3. भक्तमाल, भक्तिरस बोधिनी, छप्पय संख्या 10, पृष्ठ–115-16

पुष्टिमार्गीय मंदिरों के संगीत की भारतीय संगीत को देन

पुष्टिमार्गीय वैष्णव देवालय संगीत में भारतीय संगीत परंपरा का प्राचीन गायन स्वरूप (प्रबन्ध व ध्रुपद) यथा संभव रूप में आज भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इसमें आधुनिक गायन प्रकारों (ख्याल व ठुमरी) के स्रोत भी देखे जा सकते हैं–

प्रबन्ध :

पुष्टिमार्गीय वैष्णव देवालय संगीत का उद्‌भव तब हुआ था जबकि भारतीय संगीत के इतिहास में प्रबन्ध गायन तथा ध्रुपद गायन का सक्रान्तिकाल चल रहा था। ग्वालियर के राजा मानसिंह ने संस्कृत के प्रबंधों को ब्रजभाषा के ध्रुपदों में रूपान्तरित करके जन साधारण के समक्ष रखा था। पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी व उनके प्रमुख कीर्तनकार शिष्य श्री कुंभनदास व सूरदासादि जो कि बहुत ही सूक्ष्म अन्तर से राजा मानसिंह के समकालीन ही थे, ने इसी प्रवृत्ति को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया। परिणामतः जो कुछ राजा मानसिंह के कृतत्व के लिये कहा जाता है उसको प्रत्यक्ष रूप से इस प्रणाली में देखा जा सकता है। श्री वल्लभाचार्य जी व उनके द्वितीय पुत्र गोस्वामी विट्‌ठलनाथ जी ने श्रीमद्‌भागवत में से श्री कृष्ण लीला संबंधी संस्कृत के श्लोकों को लिया तथा उनको ब्रजभाषा में रूपान्तरित करवा करके गायन की सामग्री बनाया। जयदेव कृत **'गीत गोविन्द'** सूड़ प्रबन्ध का प्रमुख उदाहरण है।[1]

इसकी अनेक अष्टपदियाँ आज भी पुष्टिमार्ग के कीर्तनों में गाई जाती हैं। अतः प्रबन्ध गायन की विधा को पुष्टिमार्ग के इन मन्दिरों में आज भी देखा व सुना जा सकता है। संभवतः जयदेव के **'गीत गोविन्द'** से प्रेरणा पाकर ही गोस्वामी विट्‌ठलनाथ जी ने स्वयं संस्कृत की रचनाएँ बनाई तथा उनमें से अनेक को कीर्तन का अंग बनाया उनके द्वारा रचित संस्कृत रचना **'मंगल मंगलं ब्रज भुवि मंगलं'** प्रति–दिन झाँकी में गाई जाती

है। गायन का स्वरूप अनुमानतः प्राचीन ही है क्योंकि यहाँ परंपरा के लिये विशेष आग्रह पाया जाता है। पुष्टिमार्ग के मन्दिरों में इस प्रकार का संस्कृत साहित्य अनेक अवसरों पर गाया जाता है। कुछ रचनाएँ व उनके गाये जाने का समय इस प्रकार है–

रचना संकेत		समय
1. मंगल मंगलम् ब्रज भुविमंगलम्	:	मंगला की झाँकी (प्रतिदिन)
2. ब्रजानन्द कन्दय	:	व्रतचर्या में
3. प्रेम पर्यंक शयनम्	:	पालने में

ध्रुपद :

कुछ रचनाएँ इस अर्थ में मनोरंजक है कि उनको संस्कृत के प्रबन्ध तथा ब्रजभाषा के ध्रुपद के बीच की वस्तु कहा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में संस्कृत के पद, संस्कृत निष्ठ रूप में ही ब्रज भाषा में आये होंगे। इस संप्रदाय की यह विशेषता रही है कि श्रेष्ठ वस्तु जहाँ से भी प्राप्त हो सकती थी इसमें ले ली गई, परिणामतः ध्रुपद के क्षेत्र में भी स्वामी श्री हरिदास, तानसेन व धौंधी आदि के ध्रुपद भी बिना किसी सांप्रदायिक भेदभाव के ग्रहण किये गये हैं। इस प्रणाली में आकार–प्रकार से ध्रुपद व धमारों के विविध रूप मिलते हैं। भारत में प्राचीनकाल से ही गायन दो प्रकारों में व्यवहृत रहा है यथा 'अतालञ्च सतालञ्च द्विप्रकारम् तदुच्यते'।[1] इस परंपरा में भी गायन के दोनों प्रकारों का आयोजन रहता है। इनको क्रमशः अनिबद्ध गान व निबद्धगान कहा जाता है।

अनिवद्ध गान :

दैनिक क्रम में मंगला झाँकी खुलने से पूर्व ही अनिबद्ध गान के रूप में पदों को गाया जाता है। इसे हम आलापचारी का ही रूप कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त वार्षिक क्रम में उत्सवों के अवसरों पर आलापचारी का विशेष आयोजन रहता है।

आलापकारी करने के लिये इन मन्दिरों में निरर्थक शब्दों जैसे 'त' 'न' 'तारे', दारे', 'दीम', 'तोम' आदि को व्यवहार में नहीं लाया जाता है बल्कि इनके स्थान पर सार्थक शब्दों को लिया जाता है। ये शब्द भगवान के ही विभिन्न नाम व विशेषण रहते हैं जैसे–

श्री गिरिराज धरनवर धीर गाइयै।

श्री लाढलौ ललन पर गाइयै।।

श्री आनंद की निधि वर गाइयै।

श्री मदन मोहन लाढलौ ललन वर गाइये। आदि-आदि।

निबद्ध गान :

इसके अन्तर्गत ध्रुपद व धमारों की विभिन्न बन्दिशें आती हैं जिनके बारे में कुछ जानने से पूर्व हम कुछ ऐसी बंदिशें लेते हैं जिनमें काव्य रचना संबंधी विशेष कौशल प्राप्त होता है जैसे–रागमाला, राशिमाला, वारमाला आदि। इनमें रागमाला सांगीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

रागमाला :

विभिन्न अवसरों पर रागमालाएँ गाई जाती है। बसंत आगमन की खुशी में, माघ शुक्ल ४ को तथा हिंडोलों के प्रसंगों में रागमाला विशेष रूप से गाई जाती हैं। इन रागमालाओं में प्रायः रागों के नामों का साहित्यिक अर्थ भी निहित रहता हैं। रागमाला जो सर्वाधिक रूप से संप्रदाय में गाई जाती है। वह इस प्रकार है–

सारंग नयनी री काहे को कियौ एतोमान।

गौरी गहेरू छाड़ मिलि लालें मन क्रम वचन यातें होते कल्यान।।

जिन हट करै री तू नट नागर सों भैरों ही देवगान।।

मुरली तान कान्हरौ गायन सुन लैरी कान।।

रंग रंगीली सुधर नायकी तू जिय में न अड़ान।।

नंददास केदारौ करिकें यो ही विहाग्र गयौ मान।।

(ii) राशिमाला :

कांकरौली के कीर्तन पोथियों से इस प्रकार के पद मिले हैं। इनमें राशियों के नाम अपने साहित्यिक अर्थ को भी संजोये हुये हैं। यथा–

मेख सी अचल कहाँ बैठि **वृष्भान** आली **मिथुन** के काज

तेहि स्याम सुधि करी है।।

करकै सिंगार राज **सिंह** है चलो री प्यारी

कन्या ऋतु मान के कहां गुमान भरी है।।

तूलरे कान **वृच्छ** तर ठाढ़े आन **धन मकर**

करै आली यही सुमधुरी है।।

कुंभ ले मिलौगी जाय, व्याकुल कान्ह कुंजन में।

मीन जैसे तड़पत सुधि करै धरी–धरी है।।

सूरदास मदन मोहन सुमिरत है निसि दिन–मन

दादस राशि रूप कृष्ण चरण जाइ पूरी है।।[1]

(iii) वारमाला :

ऐसे पदों में सप्ताह के सातों दिनों के नाम रहते हैं। प्रत्येक दिन (वार) का नाम साहित्यिक अर्थ को भी धारण करता चलता है –

(राग विहाग)

आदिति अपनी छाँड़ि स्वामिनी

सोम भाव मंगल मन माही।।

बुधि विचारि **गुरू** की सहराई।।

सुकर मान **सनि** चली सयानी।।

कुंज की गुंज में बैठे कन्हाई।।

सात बार समुझाइ हो उठि चलि।।

आये दास गुपाल मिलाई।।

इस प्रकार इस परंपरा के पदों में रागों की, तालों की, राशि, वार आदि की विविध मालाएँ कीर्तन की शोभा बढ़ाते हैं।

ख्याल गायकी का स्रोत :

यद्यपि यह प्रणाली अपने मूल रूप में ध्रुपद–धमार के रूप में ही हैं। लेकिन काल प्रभाव के प्रवाह से कुछ बंदिशों में व उनके गाने के ढंग में परिवर्तन आया है। निष्कर्षतः प्रस्तुत प्रणाली में ख्याल गायकी के स्रोत बिन्दु इस प्रकार है–

1. इस प्रणाली में झूमरा ताल में भी कुछ बन्दिशें हैं तथा उनको गाने का कुछ ढंग भी ख्याल जैसा है। जैसे–'अनंत न जैये' (राग सांरग)
2. ख्याल गायन प्रकार में कोई दरबारीपन दिखाई नहीं देता जैसा कि इसे दरबारी प्रभाव से युक्त बताया जाता है।
3. बहुत से ख्यालों के बोल इसी प्रणाली साहित्य में से लिये गये हैं तथा उन्हीं रागों में ख्याल के रूप में गढ़ दिये गये हैं। यथा–

   इस प्रणाली का राग केदार का ध्रुपद 'वन ठन कहां जु चले' भातखंडे जी की **क्रमिक पुस्तक मलिका** भाग–3 पृष्ठ 154 पर राग केदार के बड़े ख्याल के रूप में मिलता है।

   इस प्रणाली में गाया जाने वाला बिहाग राग का पद 'तेरे सिर कुसुम बिथुर रह्यौ भामिनि' भातखंडे जी की **क्रमिक पुस्तक मालिका** भाग 3 (पृष्ठ 205) में राग बिहाग के छोटे ख्याल के रूप में मिलता है।

ठुमरी का स्रोत :

जैसा कि विभिन्न प्रकार की बंदिशों में हमने देखा कि अनेक बंदिशें ऐसी है जो कि धमार ताल में प्रारम्भ होती हैं फिर तीन ताल में गाई जाकर कहरवा की चलती में व्यवहृत होती है। कहरवा की चलती के बाद दूसरी तुक उठाने के लिये पुनः स्थाई वाले स्वरों में तथा धमार ताल में वापिस आ जाती है। यह सब विधान ठुमरी गायकी में

भी रहता है। अतः कहा जा सकता है कि ठुमरी का स्रोत भी इसी प्रणाली में है। इसके अतिरिक्त ठुमरी के साहित्य का स्रोत तो निश्चित रूप से इसी प्रणाली का साहित्य है। प्रायः सभी ठुमरियों के बोल यहाँ के किसी न किसी पद से अथवा पंक्ति से मेल खाते देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत प्रणाली के अनेक बन्दिशों में बोल–बनाव का ढंग भी देखा जा सकता है। जैसे–**श्री गोकुल राजकुमार लाल रंग भीने हों** (रागकाफी) आदि।

इस प्रकार हम देखते है कि इस परंपरा ने भारतीय संगीत को अतुलनीय योगदान दिया।

हवेली संगीत में प्रयुक्त वाद्य :

पुष्टि संगीत परंपरा में किन–किन वाद्यों का प्रयोग होता आया है? इसकी जानकारी हमें कीर्तन साहित्य व वार्ता साहित्य से प्राप्त होती है। वार्ता साहित्य के अन्तर्गत हमें सर्वाधिक वाद्यों का उल्लेख चतुर्भुजदास कृत **'षट ऋतु वार्ता'** में प्राप्त होता है। इसमें हमें 36 वाद्यों का नामोल्लेख मिलता है। इस संगीत परंपरा के साथ चारों प्रकार के वाद्य प्रकारों के प्रयोग का विवरण प्राप्त होता है। यथा–

1. तत् वाद्य : इसके अन्तर्गत निम्नलिखित वाद्य प्रकारों के प्रयोग का वर्णन है–वीणा, रूद्रवीणा, स्वर मण्डल, पिनाक, सारंगी, रबाब, अमृत कुंडली, जंत्र, तानपूरा अथवा तंबूरा।

2. सुषिर वाद्य : बाँसुरी, शहनाई, महुवरि, मुखचंग, तूर या तुरही, सिंगी अथवा श्रृंगी, शंख आदि।

3. अवनद्ध वाद्य : मृदंग अथवा पखावज, मदिलरा, मुरज, रूंज, आवज, दुंदुभि, भेरि, निसान, ढोल, ढोलक, खंजरी, चंग, ठप, उपंग, आदि।

4. घन वाद्य : झाँझ, ताल, कढताल, झालरि अथवा बेला, हस्त घंटा अथवा घंटारी, किन्नरी, मँजीरे, जलतरंग आदि।

इस प्रकार वर्गों के अनुसार विभिन्न वाद्यों का प्रयोग इन मन्दिरों में खूब होता है। लेकिन आजकल इनमें से अनेक वाद्य मन्दिरों में देखने को नहीं मिलते। आजकल इन मन्दिरों में हारमोनियम का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता है।

पुष्टिमार्गीय वैष्णव संगीत में प्रयुक्त राग :

पुष्टिमार्गीय वैष्णव मन्दिरों के संगीत अथवा पुष्टिमार्गीय कीर्तन में व्यवहृत रागों के नाम इस प्रकार हैं–

प्रमुख राग :

देव गंधार, रामकली, भैरव, मालकौंस, बेलावल, ललित, सूहा, तोड़ी, आसावरी, धनाश्री, सारंग, नट, पूर्वा, गौरी, जैतश्री, खमाज, सोरठ, ईमन, कल्याण, कान्हरा, नायकी, हमीर, केदार, अड़ाना, मारू, मालव, बंसत, मल्हार, काफी, जैजैवंती, बिहाग।

अन्य राग :

गौरी, श्री पंचम, षट, शंकराभरण, कर्णाट्, बिहागड़ा, परज, सुघरई, जंगला, झिंझोटी आदि। रागों की उपर्युक्त सूची में एक बात ध्यान देने की है कि इनमें से अनेक रागों के विभिन्न प्रकार भी गाये जाते हैं। लेकिन उन प्रकारों का कोई पृथक नाम नहीं है। जैसे राग गौरी के अंतर्गत कई प्रकार क़ी अलग–अलग बंदिशें हैं लेकिन वे सब गौरी ही कहलाती हैं। वैसे यह परम्परा स्वयं में एक प्रमाण है लेकिन फिर भी रागों के स्वरूपों की साक्षी के रूप में श्री भातखंडे जी के ग्रंथों को तथा राजा नवाब अली द्वारा रचित **'मुआरिफुन्नग़मात'** को लिया गया है क्योंकि ये ग्रंथ वर्तमान युग के प्रतिनिधि ग्रंथ माने जाते हैं। जिन रागों के स्वरूप इन ग्रंथों से भी नहीं मिलते उनके स्वरूपों की साक्षी अन्य प्राचीन ग्रंथों से ली गई है। इसके लिये हमें हिन्दी ग्रंन्थों के अतिरिक्त गुजराती व बंगाली ग्रंथों का सहारा लेना पड़ा है।

इस परम्परा के संबंध में अंत में यही धारणा बनती है कि यह परंपरा लगभग पाँच शताब्दियाँ पार कर चुकी हैं और कालपरक असावधानियों की संभावना पर किसी भी प्रकार का संदेह स्वाभाविक प्रतीत होता है। तथापि इस संप्रदाय का संगीत संबंधी आग्रह हमको सर्व प्रकारेण आश्वस्त करता है कि पुष्टिमार्गीय वैष्णव मन्दिरों की यह संगीत परंपरा (हवेली संगीत) भारतीय संगीत जगत में प्राप्त प्राचीनतम्, पुष्ट तथा प्रशंसनीय परंपरा है।

ध्रुपद–धमार पर आधारित गायकी और पखावज को अपनी छाती से लगाये हुए उत्तर प्रदेश की पावन भूमि पर व्युत्पन्न, पुष्पित व पल्लिवित हवेली संगीत की परंपरा से युक्त ये पुष्टि मार्गीय वैष्णव मन्दिर आज भी प्राचीनता की गरिमा को संभाले हुये मानों कह रहे हैं कि भारतीय संगीत के क्षेत्र में प्राचीन वैभव की रक्षा करने के लिये हमने जो कुछ किया है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। हमारी भी अपनी स्वयं की पुष्ट परंपराएँ हैं। अनेक रागों के अप्रचलित, प्राचीन रूपों को यहाँ देखा जा सकता है। अनुपम राग मालाएँ, अनूठी बन्दिशें, अद्‌भुत युगल–गीत, समयानुकूल साहित्य तथा साहित्यानुकूल संगीत आदि हमारी अनमोल विशेषताएँ हैं। भारतीय संगीत में ध्रुपद–धमार गायकी का अपना अनूठा महत्व है और इस गायकी के प्रति पुष्टिमार्गीय वैष्णव मन्दिरों में विशेष लगाव रहा है। अतः यहाँ का संगीत जिसे संप्रदाय में कीर्तन कहते हैं और जो उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को पुष्ट बनाती है, सर्वथा श्रवणीय एवं माननीय है।

अब मैं उदाहरणस्वरूप हवेली संगीत में प्रयुक्त गान प्रकार की स्वरलिपि प्रस्तुत कर रही हूँ–

राग-देव गंधार / ताल-धमार

स्थाई

म	प	प	|	सां॑ध	ध	प	|	ध	म	|	प	ध	|	सां	–	ध	प
–	ब्र	ज	|	भ	यौ	म	|	ह	रि	|	के	–	|	पू	–	त	–
				x							2			0			

म	प	प	|	ध	–	प	|	म	ग	रे	ग	म	|	रे	–	म
ब	य	ह	|	बा	–	–	|	त	–	–	–	सु	|	नी	–	–
				x					2					0		

अंतरा

म	प	ध	सां	–	|	सां	–	|	रें	रें	–	|	सांरें	गं	रें	सां
नि	आ	–	नं	–	|	दे	–	|	स	ब	–	|	लो	–	क	–
						2			0				3			

सां	सां	ध	म	प	|	ध	रें	|	सां	–	ग	|	म	प	प
कु	ल	ग	नि	त	|	गु	नी	|	–	–	ए	|	–	ब्र	ज
				2			0				3				

संचारी

म	–	प	–	|	प	प	|	ध	ध	–	|	प	ध	नि	ध	प	–
ज	–	पू	–	|	र	ब	|	पू	रे	–	|	पु	–	–	–	ण्य	–
					x			0				3					

ध	धप	म	ग	|	रे	ग	|	म	मरे	–	|	–	म	–	–	–
पि	कुल	सु	चि	|	–	र	|	थु	नी	–	|	–	–	–	–	–
					2			0				3				

आभोगी

म	प	ध	सां	सां	|	सां	–	|	रें	रें	रें	सां	|	सां	रें	गं	रें	सां
ह	ल	–	–	ग्न	|	न	–	|	क्ष	–	त्रा	–	|	ब	–	लि	सो	धि
				2			0				3							

–	सां	नि	ध	म	|	प	ध	|	रें	सां	|	–	ग	म	प	प
–	व्ही	–	वे	–	|	द	धु	|	नी	–	|	–	ए	–	ब्र	ज
				2					0			3					

(आगे की एक पंक्ति संचारी के व दूसरी पंक्ति आभोगी की समान गाई जाती ह।)
(कहीं कहीं उक्त पंक्ति निम्नांकित प्रकार से भी गाई जाती है-)

नि	नि	नि	—	नि	—	नि	नि	सां	—सां	नि	नि	प	म	प
ढि	न	आ	—	ठें	—	बु	ध	वा	—	र	हो	—त	गो	—
x		2		0		3		x		2		3		
नि	नि	प	म	रे	रे	स	—							
कु	ल	द	धि	कां	—	धौ	—							
x		2		0		3								

कहरवा में चलती

रें	—	रें	रें	रें	—	रें	रें	रें	—	—	रें	रें	—	सां	—
बो	—	ल	ल	ई	—	ब्र	ज	सूं	—	—	न्द	री	—	—	—
x		0		x		0		x		0		x		0	
नि	नि	नि	नि	नि	—	नि	नि	सां	—	—	—	—	—	—	सां
हि	लि	मि	लि	मं	—	ग	ल	गा	—	—	—	—	—	—	य
x		0		x		0		x		0		x		0	
नि	—	नि	नि	नि	—	नि	नि	सां	—	सां	सां	सां	—	सां	सां
बां	—	ध	त	बं	—	द	न	वा	—	र	स	नो	—	ह	र
x		0		x		0		x		0		x		0	
रें	—	रें	रें	रें	सां	रें	मं	मं	रें	रें	नि	नि	नि	नि	नि
मो	—	ति	न	चौ	—	क	पु	रा	—	य	ज	न	म	दि	न
x		0		x		0		x		0		x		0	
सां	—	—	सां	नि	—	प	म	रे	—	—	—	स	—	—	—
ला	—	—	ल	कौ	—	फि	र	आ	—	—	—	यौ	—	—	—
x		0		x		0		x		0		x		0	

इस प्रकार एक तुक पूर्ण हुई

राग सारंग/ताल स्थाई में धमार, अंतरे में तीनताल व कहरवा की चलती

स्थाई

						नि	नि	नि	–	सां	–	–	–
						स	ब	न	–	सों	–	–	–
							0			3			

सां	सां	–	सां	–	–	रे	सां	–	–	नि	–	प	–
क	ह	–	त	–	–	ज	सो	–	–	ढा	–	–	–
x					2		0			3			
नि	–	–	प	–	–	म	रे	म	–	प	–	प	–
मा	–	–	य	–	–	ज	न	म	–	दि	–	न	–
x					2		0			3			
नि	–	–	प	–	म	–	रे	–	–	नि	–	स	–
ला	–	–	–	–	ल	–	कौ	–	–	फि	–	र	–
x					2		0			3			
म	–	–	रे	–	–	–	–	–	–	स	–	–	–
आ	–	–	यौ	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
x					2		0			3			

अंतरा (तीन ताल)

म	म	म	–	म	रे	म	प	ध	–	ध	नि	ध	प	म	प
ज	ब	बी	–	ते	–	स	ब	मा	–	स	ब	हु	रि	आ	–
x		2		0		3		x		2		0		3	
सां	–	नि	प	म	रे	स	–								
यौ	–	पु	नि	भा	–	दों	–								
x		2		0		3									

दिन आठें बुधवार होत गोकुल दधिकाँदौ (स्वरलिपि उक्त प्रकार ही)

अष्टम् अध्याय

आज के परिवेश में उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में शिक्षण–संस्थाओं व संगीत नाटक अकादमी का महत्वपूर्ण योगदान

आज के परिवेश में उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में शिक्षण-संस्थाओं व संगीत अकादमी का महत्वपूर्ण योगदान

जहाँ तक उत्तर प्रदेश में संगीत शिक्षण विद्यालयीन परंपरा का प्रश्न है तो स्वतंत्रता के पश्चात् सांस्कृतिक विकास के प्रति जनसाधारण में जागरूकता उत्पन्न हुई और धीरे–धीरे भारत सरकार ने भी इस उत्तरदायित्व को स्वीकार किया कि विद्यालयी स्तर पर भारतीय कलाओं, संस्कृति व संगीत के विकास के प्रयत्न किये जाय। अतः उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग में **'मुदालियर कमीशन'** की रिपोर्ट के आधार पर बहुमुखी शिक्षा प्रणाली को अपनाया और उसमें कला, विज्ञान व कॉमर्स के अन्तर्गत पाठ्यक्रम का वर्गीकरण किया और संगीत को उत्तर प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा में पूरी तरह पाठ्यक्रम में ले लिया गया। शनैः –शनैः संगीत विषय उच्चतर माध्यमिक, स्नातक व स्नातकोत्तरीय कक्षाओं में भी बढ़ाया जाने लगा। विश्वविद्यालय स्तर पर संगीत शिक्षण की श्रेणी में हम **काशी हिन्दू विश्वविद्यालय** को अग्रिम स्थान दे सकते हैं, जहाँ 1950 ई० में विश्वविद्यालय स्तर पर संगीत शिक्षण प्रारंभ हुआ और संगीत के प्रयोगात्मक तथा शास्त्रात्मक संकाय खुले। शोधकार्य भी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ही सबसे पहले प्रारम्भ हुआ और संगीत के मूर्धन्य संगीतकार तथा शास्त्रकारों ने अनेक उत्कृष्ट पुस्तकों का सृजन किया। तात्पर्य यह है कि गायन, लेखन, और शिक्षण इन तीनों ही क्षेत्रों में उत्तर प्रदेश, विशेष रूप से वाराणसी की परंपरा का विशिष्ट स्थान है। वाराणसी के अतिरिक्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय, कानपुर, मेरठ, आगरा, पूर्वांचल आदि अनेक विश्वविद्यालय के माध्यम से उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा का भलीभाँति विकास व निर्वाह हो रहा है।

संगीत शिक्षण संस्थाओं का योगदान

लोकतंत्र में संस्थाओं की अहमियत से कौन वाकिफ़ नहीं है। राजनीति, विज्ञान, साहित्य से लेकर जातियों और धर्मों तक अनेक संस्थाएँ जन्म लेती हैं, कुछ टिकती हैं और कुछ समाप्त हो जाती हैं। संगीत भी इस मामलें में पीछे नहीं रहा । आज पूरे देश में संगीत सेवीं संस्थाओं की एक बड़ी तादात है। इनमें से कुछ समारोह आयोजित करती है, कुछ संगीत की परीक्षाएं चलाती हैं और कुछ पाठ्यक्रम पर आधारित शिक्षा देती हैं। उत्तर प्रदेश में भी संगीत की परंपराओं को सुरक्षित एवं विकसित करने के उद्देश्य से अनेक सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाएँ कार्यरत हैं जिन्होंने संगीत समारोहों, परिचर्चाओं एवं प्रशिक्षण कार्यक्रमों द्वारा विभिन्न सांगीतिक शैलियों को सम्यक् रूप से प्रचारित–प्रसारित करने का प्रयास किया तथा उसमें काफी हद तक सफल भी हो रही हैं जिसके फलस्वरूप आज उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा के अस्तित्व सुरक्षित बने हुये हैं। जिसमें से कुछ प्रमुख संस्थाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

प्रयाग संगीत समिति इलाहाबाद :

स्व० पं० विष्णु दिगंबर पलुस्कर जी के वरिष्ठ शिष्य श्री०बी०ए० कशालकर जी ने **'नारदाचे मिशन'** से प्रेरणा लेकर वर्ष 1926 फरवरी में इलाहाबाद में आकर 'प्रयाग संगीत समिति' नामक संस्था की स्थापना की, जिसने इलाहाबाद में संगीत के शिक्षण की व्यवस्था तो की ही, देश मे प्रारंभ हुई असंख्य छोटी–बड़ी संगीत संस्थाओं को अपने साथ सम्बद्ध कर उनके संगीत पाठ्यक्रम निर्धारित किये एवं परीक्षाएं संचालित की। वर्तमान में इस समिति द्वारा मान्यता प्राप्त परीक्षा केन्द्रों की संख्या बारह सौ से भी अधिक है जो उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त बिहार, बंगाल, असम, त्रिपुरा, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्य प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, हिमांचल प्रदेश तथा जम्मू एवं कश्मीर में है। इन केन्द्रों से प्रतिवर्ष पाँच हजार से भी अधिक परीक्षार्थी परीक्षा देते हैं।

शिक्षा एवं परीक्षा प्रणाली :

इस संस्था से गायन, वादन एवं नृत्य के आठ वर्षीय पाठ्यक्रम निर्धारित हैं। शास्त्रीय गायन के पाठ्यक्रम में प्रारंभिक ज्ञान को सुदृढ़ बनाने हेतु अलंकार शिक्षण से आरम्भ कर ध्रुपद, धमार, ख्याल, तराना, ठुमरी, टप्पा आदि शैलियों के साथ–साथ भावसंगीत (Light music) के शिक्षण की भी व्यवस्था है। प्रयाग संगीत समिति की वार्षिक परीक्षाएं वर्ष में दो बार अर्थात् अप्रैल–मई तथा दिसंबर–जनवरी में आयोजित की जाती है।

योजनाएं :

'प्रयाग संगीत समिति' ने दो संगीत भवन बनवाएं हैं इनमें से एक भवन का निर्माण 1936 में हुआ जो नगर के बीच साउथ मलाका में स्थित है। दूसरे भवन का निर्माण 1955 में सम्पन्न हुआ जो, अलफ्रेड पार्क के पास है। इस समय नगर में समिति की विभिन्न शाखाएँ हैं, जिसमें 2-3 हजार से अधिक छात्र–छात्राएं शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।[1] इस संस्था की भावी योजनाओं में प्राचीन संगीत के वाद्ययंत्रों तथा पाण्डुलिपियों का एक संग्रहालय स्थापित करने तथा पं० विष्णु दिगंबर पलुस्कर जी की स्मृति में इलाहाबाद में संगीत एवं ललित कलाओं का एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का निर्णय है।

भातखण्डे संगीत महाविद्यालय :

लखनऊ में स्थित जिस केसरबाग बारादरी में कभी शाही दरबार लगा करते थे व अन्य समारोह हुआ करते थे वहाँ **'अखिल भारतीय संगीत महाविद्यालय'** के नाम से इस विद्यालय का शुभारंभ हुआ, जिसमें प्रारम्भ में कुल ग्यारह विद्यार्थी थे व प्रशासक के रूप में श्री ए०के० जोशी तथा प्रधानाचार्य श्री रातनजंकर थे। इस प्रकार 1936 की जुलाई में लखनऊ में केसरबाग के पास ही तोपबाजी कोठी में हिन्दुस्तानी रागदारी

---

1. प्रयाग संगीत समिति 'सर्वेक्षण प्रश्नावली" के उत्तरो पर आधारित ।

संगीत की कक्षाएं खुल गई[1] शिक्षक के रूप में उस्ताद छोटे मुन्ने खाँ तथा उस्ताद अहमद हुसैन खॉ का नाम उल्लेखनीय है। तत्कालीन गवर्नर विलियम मैरिस ने इस संस्था को शासन द्वारा बड़ी सहायता की। इस विद्यालय का एक भवन जो आजकल 'वीणा छात्रावास' है, उसे विलियम मैरिस ने ही प्रदान किया था और तत्पश्चात इस महाविद्यालय का नाम **'मैरिस कॉलेज ऑफ हिन्दुस्तानी म्यूज़िक'** हुआ। इन संस्थाओं में सैकड़ों व्यक्ति संगीत शिक्षक बनकर गौरवान्वित हुये, जिसमें डॉ० श्रीमती सुमति मुटाटकर, दिनकर राव केकणी, श्री गिन्डे के नाम उल्लेखनीय है और आज लखनऊ के **'भातखंडे संगीत महाविद्यालय'** का उत्तर प्रदेश के वर्तमान शिक्षण विद्यालयों में विशिष्ट स्थान है, जहाँ अन्य शाखा केन्द्रों के माध्यम से पूरे उत्तर भारत में संगीत की सेवा करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

इनके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में ऐसी अनेक संगीत सेवी संस्थाएँ हैं, जो कि उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा को जीवन्त रखने में, उसे प्रचारित करने में अपना अमूल्य योगदान दे रही है। जिनमें से प्रमुख के नाम इस प्रकार हैं–

कलासंस्कृति परिषद् (मुरादाबाद), गान्धर्व स्वर संस्थान (कानपुर), स्वर साधना संगीत समिति (कानपुर), गांधर्व संगीत महाविद्यालय (गाजियाबाद), उस्ताद अलाउद्दीन खाँ म्यूज़िक सर्किल (वाराणसी) आदि।

उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी

देश की संगीत परंपराओं की समृद्धि एवं विकास में उत्तर प्रदेश की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस क्षेत्र में उत्तर प्रदेश ने विविध आयाम राष्ट्रीय धारा में जोड़े हैं और प्रदेश की महान परंपराओं को देखते हुये शास्त्रीय संगीत के उन्नयन तथा संवर्द्धन का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण, विस्तृत तथा व्यय साध्य है। इस दिशा में **'उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी'** अपने अत्यन्त सीमित संसाधनों के साथ प्रदेश की इन परंपराओं के प्रति समर्पित एवं कर्तव्यनिष्ठ रही है।

१.संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली–अमरेश चन्द्र चौबे।

दिनांक 13 नवम्बर, 1963 को प्रदेश की प्रदर्शनकारी कलाओं के उन्नयन, प्रचार एवं परिरक्षण हेतु उत्तर प्रदेश सरकार ने 'उत्तर प्रदेश संगीत नाट्य भारती' को स्थापित किया था, जिसे 2 सितम्बर, 1969 ^उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी' का नाम दिया गया। अकादमी ने संगीत की शास्त्रीय गायन, वादन एवं नृत्य की परंपराओं के प्रचार–प्रसार एवं परिरक्षण में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। इन कलाओं के प्रदर्शन प्रदेश तथा प्रदेश के बाहर आयोजित कर दर्शकों, श्रोताओं में रूचि जगाने, युवा कलाकारों को प्रोत्साहित करने तथा सांस्कृतिक संपदाओं को सुरक्षित रखने में अकादमी के कार्य अत्यंत सराहनीय रहे हैं। उत्तर प्रदेश की संगीतिक धरोहर को बनाये रखने के उद्देश्य से अकादमी द्वारा संपादित प्रमुख कार्यों का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित हैं–

संगीत संगोष्ठी एवं प्रदर्शन :

अकादमी गायन, वादन एवं नृत्य के विभिन्न कार्यक्रम, समारोह, परिचर्चा, संगोष्ठी एवं प्रशिक्षण शिविर प्रदेश के विभिन्न स्थानों पर आयोजित करती है। **'राग-रंग'**, **'अवध-सन्ध्या'** कार्यक्रम श्रृंखला बनारस एवं लखनऊ संगीत घरानों तथा रामपुर, संगीत परंपरा समारोह, ललनपिया समारोह, अकादमी सम्मान समारोह आदि अकादमी के प्रमुख आयोजन हैं। **लखनऊ-महोत्सव** के अन्तर्गत प्रतिवर्ष सांस्कृतिक कार्यक्रमों का संचालन अकादमी द्वारा वर्ष 1984 से प्रारंभ किया गया है।

सर्वेक्षण एवं परिरक्षण के क्षेत्र में अकादमी की भूमिका :

अकादमी की स्थापना के कुछ समय पश्चात् यह विचार हुआ कि पारंपरिक सामग्रियों के संबंध में जानकारी सर्वेक्षण की योजनाएं तैयार करके की जाय तथा संकलित की जाय। सरकार द्वारा अकादमी के कार्य में नैरन्तर्य बनाये रखने के उद्देश्य से सन् 1976 में सर्वेक्षण स्टाफ की अस्थाई नियुक्ति की गई। सीमित साधनों के साथ सर्वेक्षण एवं परिवेक्षण की योजनाओं के अन्तर्गत अकादमी के सर्वेक्षण दल

द्वारा विविध कार्यक्रम सम्पन्न किये गये। प्रदेश के विभिन्न जनपदों के लोकसंगीत के विषय में जानकारियाँ प्राप्त की गई, स्व० भारतेन्दु वाजपेयी तथा श्री गंगाधर राव द्वारा संकलित दुर्लभ ठुमरियों की स्वरलिपियों का संकलन तथा प्रकाशन किया गया, स्तरीय परिरक्षण की दृष्टि से उत्तम कोटि की रिकॉर्डिंग उपलब्ध हो सके, इस उद्देश्य से 1979 में अकादमी में रिकार्डिंग स्टूडियो का निर्माण करवाया गया।[1]

परिचर्चा एवं कार्यशाला :

अकादमी द्वारा समय–समय पर परिचर्चाओं एवं संगोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है जिससे उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखने में काफी बल मिलता है। जैसे– 1980 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में 'हिन्दुस्तानी संगीत के संबंध में परिचर्चा, 1981 में लखनऊ में **'बनारस घराने का संगीत'** विषय पर, 1984 में इलाहाबाद में 'रामपुर की संगीत परंपरा', 1984 में फिरोज़ाबाद में 'ख्याल लावनी लोक गायन' विषयक परिचर्चायें आयोजित की गई।

स्टूडियो रिकॉर्डिंग :

अकादमी के स्टूडियो में उच्चकोटि के ऑडियो–वीडियो संयत्र उपलब्ध है जहाँ विविध स्रोतों से समय–समय पर जिन कलाकारों के संबंध में जानकारियाँ, गायन–वादन शैलियाँ अकादमी को प्राप्त है, उसे अभिलेखागार में संग्रहीत किया गया है, जिससे यहां की परंपरा जीवंत रह सकें।

नवोदित कलाकरों को प्रोत्साहन :

नवोदित कलाकारों में व प्रदेश की सांगीतिक विरासत के प्रति जागरूकता के उद्देश्य के साथ ही उदीयमान, प्रतिभा सम्पन्न बाल, किशोर एवं युवा कलाकारों की खोज के उद्देश्य से अकादमी ने संगीत एवं नृत्य के क्षेत्र में वर्ष 1973 से वार्षिक संगीत प्रतियोगिता का आयोजन प्रारंभ किया। विजेता कलाकारों को ट्रॉफी, प्रमाणपत्र

---

1 पत्रिका छायानट (रजत जयंती अंक) जुलाई–सितम्बर–1989, अंक–50, पृष्ठ, 37

द्वारा विविध कार्यक्रम सम्पन्न किये गये। प्रदेश के विभिन्न जनपदों के लोकसंगीत के विषय में जानकारियाँ प्राप्त की गई, स्व० भारतेन्दु वाजपेयी तथा श्री गंगाधर राव द्वारा संकलित दुर्लभ ठुमरियों की स्वरलिपियों का संकलन तथा प्रकाशन किया गया, स्तरीय परिरक्षण की दृष्टि से उत्तम कोटि की रिकॉर्डिंग उपलब्ध हो सके, इस उद्देश्य से 1979 में अकादमी में रिकार्डिंग स्टूडियो का निर्माण करवाया गया।[1]

परिचर्चा एवं कार्यशाला :

अकादमी द्वारा समय–समय पर परिचर्चाओं एवं संगोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है जिससे उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखने में काफी बल मिलता है। जैसे– 1980 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में 'हिन्दुस्तानी संगीत के संबंध में परिचर्चा, 1981 में लखनऊ में **'बनारस घराने का संगीत'** विषय पर, 1984 में इलाहाबाद में 'रामपुर की संगीत परंपरा', 1984 में फिरोज़ाबाद में 'ख्याल लावनी लोक गायन' विषयक परिचर्चायें आयोजित की गई।

स्टूडियो रिकॉर्डिंग :

अकादमी के स्टूडियो में उच्चकोटि के ऑडियो–वीडियो संयत्र उपलब्ध है जहाँ विविध स्रोतों से समय–समय पर जिन कलाकारों के संबंध में जानकारियाँ, गायन–वादन शैलियाँ अकादमी को प्राप्त है, उसे अभिलेखागार में संग्रहीत किया गया है, जिससे यहां की परंपरा जीवंत रह सकें।

नवोदित कलाकरों को प्रोत्साहन :

नवोदित कलाकारों में व प्रदेश की सांगीतिक विरासत के प्रति जागरूकता के उद्देश्य के साथ ही उदीयमान, प्रतिभा सम्पन्न बाल, किशोर एवं युवा कलाकारों की खोज के उद्देश्य से अकादमी ने संगीत एवं नृत्य के क्षेत्र में वर्ष 1973 से वार्षिक संगीत प्रतियोगिता का आयोजन प्रारंभ किया। विजेता कलाकारों को ट्रॉफी, प्रमाणपत्र

---

1 पत्रिका छायानट (रजत जयंती अंक) जुलाई–सितम्बर–1989, अंक–50, पृष्ठ, 37

स्व० महादेव प्रसाद मिश्र	:	बनारस घराने के उपशास्त्रीय संगीत के सुप्रसिद्ध कलाकार।
पं० हरिशंकर मिश्र	:	बनारस घराने के लब्ध प्रतिष्ठित गायक एवं रचनाकार।
श्रीमती गिरिजा देवी	:	बनारस घराने की सुविख्यात गायिका।
उस्ताद निसार हुसैन खाँ	:	सहसवान एवं ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध गायक, विद्वान एवं उस्ताद।
स्व० उस्ताद शराफत हुसैन खाँ	:	आगरा घराने के सुप्रसिद्ध गायक।
उस्ताद हफ़ीज़ अहमद खाँ	:	सहसवान घराने के प्रसिद्ध गायक, संगीत निर्देशक व रचनाकर।
स्व० नारायण लक्ष्मण गुणे	:	ग्वालियर घराने के संगीतज्ञ, शिक्षक एवं रचनाकार।
श्रीमती सुलोचना बृहस्पति	:	रामपुर–सदारंग परंपरा की सुप्रसिद्ध गायिका।
उस्ताद अब्दुल रशीद खाँ	:	घरानेदार गायक, शिक्षक एवं रचनाकार।
स्व० निर्मला अरूण	:	उपशास्त्रीय संगीत की प्रख्यात गायिका।

इसके अतिरिक्त प्रदेश में संगीत परंपराओं के उन्नयन, संवर्द्धन एवं विकास हेतु अकादमी द्वारा विभिन्न कार्य किये जाते हैं, जिससे उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को अक्षुण्य बनाये रखने में काफी मदद मिलती है। जैसे–'अकादमी कलामित्र योजना', 'अवध–सन्ध्या कार्यक्रम श्रृंखला,' 'संगीत परिचय एवं संगीत अभिरूचि पाठ्यक्रम' शास्त्रीय संगीत, नृत्य प्रोत्साहन एवं प्रशिक्षण योजना आदि।

उत्तर प्रदेश की महत्वपूर्ण संगीत सम्मेलनों की परंपरा :

उत्तर प्रदेश में आयोजित होने वाली संगीत सम्मेलनों एवं गोष्ठियों की परंपरा के अन्तर्गत यहाँ की सांगीतिक परंपरा एवं उत्तर प्रदेश के घरानों से सम्बन्धित प्रस्तुत शैली को सम्यक् रूप से प्रचारित एवं विकसित करने के प्रयास वर्षों से अनवरत् रूप

से किये जा रहे हैं जिसके फलस्वरूप भिन्न–भिन्न घरानों के कलाकारों को चर्चा, परिसंवाद के पश्चात् ऐसे निष्कर्ष प्राप्त होते हैं जो पूर्व में मतैक्यकता न होने के कारण प्राप्त नहीं थी। अधिकतर यह देखा गया है कि अनेक घरानों के कलाकार एवं उस्ताद शास्त्र से भलीभाँति परिचित नहीं रहते जिससे उनकी प्रस्तुतियों में शास्त्रीय त्रुटियाँ दिखाई पड़ती रहती हैं अतः इस दृष्टि से इन संगीत गोष्ठियों के माध्यम से शास्त्रीय शुद्धता को कायग रखने में सहायता मिलती है। साथ ही भिन्न–भिन्न घरानों की प्रस्तुति शैली की खूबियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं और संगीत सम्मेलनों के मंचों पर प्रस्तुतिकरण से विविध घरानों के कलाकारों की कलात्मक व पुरानी रचानाएँ प्रचारित होती है, जिनका श्रवण करके अनेक श्रोता, संगीत शिक्षार्थी उत्तर प्रदेश के घरानों की विशेषताओं से परिचित होते हैं। प्राचीन ध्रुपद पद्धति को पुनः जन सामान्य में प्रचार हेतु आज अनेक सम्मेलन आयोजित किये जा रहें हैं। ऐसी संगीत गोष्ठियों एवं संगीत सम्मेलनों की सूची नीचे प्रस्तुत की जा रही है, जो नियमित रूप से होते आ रहे हैं तथा जिनके द्वारा उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा का पर्याप्त निर्वाह हो रहा है–

1- स्वामी हरिदास संगीत सम्मेलन (वृन्दावन)

2- स्व० कण्ठे महाराज संगीत सम्मेलन (वाराणसी)

3- गुलाब बाड़ी संगीत सम्मेलन (वाराणसी)

4- वुढ़वा मंगल संगीत समारोह (वाराणसी)

5- उरताद फैयाज खाँ रांगीत राम्मेलन (आगरा)

6- ठाकुर अवध बिहारी मन्दिर ट्रस्ट द्वारा आयोजित अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन (कानपुर)

7- उत्तर–दक्षिण कल्चर आर्गेनाइजेशन का संगीत सम्मेलन (लखनऊ)

8- भातखण्डे संगीत समारोह (लखनऊ)

9- प्रयाग संगीत समिति द्वारा आयोजित संगीत सम्मेलन (इलाहाबाद)

10- पुरस्कार समारोह (संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ)

11- संगीत प्रतियोगिता एवं नवोदित कलाकार सन्ध्या (लखनऊ)

12- ध्रुपद मेला (तुलसी घाट बनारस)

13- पंचदिवसीय संकट मोचन अखिल भारतीय शास्त्रीय संगीत सम्मेलन (वाराणसी)

14- विन्ध्यवासिनी संगीत सम्मेलन (मिर्ज़ापुर)

इनके अतिरिक्त वर्तमान में उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को विकसित, प्रचारित करने में अन्य संस्थाएं अथवा माध्यम अपना अमूल्य योगदान दे रहे हैं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता है, जिनमें प्रमुख है–

आकाशवाणी :

रेडियो का आगमन भारतीय संगीत शिक्षण व प्रसार के इतिहास की एक क्रांतिकारी घटना है। यूँ तो सभी कलाओं पर आकाशवाणी अथवा रेडियो का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा किन्तु श्रवण कला होने के नाते संगीत से इसका सबंध बहुत निकट हो जाता हैं। संगीत के लिये रेडियो तो वरदान सिद्ध हुआ है। उत्तर प्रदेश में भी आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्र अपना सक्रिय योगदान दे रहे हैं। इन केन्द्रों द्वारा प्रसारित कार्यक्रमों को ऐसे अनगिनत श्रोता सुन पाते हैं जो अधिकांश संगीत समारोह में सम्मिलित नहीं हो पाते । आकाशवाणी के संग्रहालय में देश के मूर्धन्य कलाकारों की कला प्रस्तुतियों के टेप संग्रहीत रहते हैं जो समय–समय पर प्रसारित होते रहते हैं जिनमें उत्तर प्रदेश के भी बड़े–बड़े कलाकारों का गायन प्रसारित होता रहता है, जिससे उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा भी पल्लवित हो रही है। यहाँ के घरानों की गायकी की कलावैशिष्ट्यता को हम घर बैठकर भी सुन सकते हैं। सबसे विशेष बात कि आकाशवाणी ने भारतीय संगीत को घराने की परिधि की सीमित एवं संकुचित दायरे से बाहर निकालने में जो सक्रिय भूमिका निभाई है, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। रेडियो के माध्यम से जितने श्रोता एक ही समय में विभिन्न कलाकारों को सुनते हैं,

किसी अन्य माध्यम से नहीं। इस समय भारत में रेडियो एक शक्तिशाली प्रसार माध्यम है जो देश के हर कोने में पहुँचा हुआ है, जिसने श्रोताओं के एक बड़े वर्ग को शास्त्रीय संगीत के प्रति आकृष्ट किया।

दूरदर्शन :

उत्तर प्रदेश में दूरदर्शन के विभिन्न केन्द्रों जैसे लखनऊ, गोरखपुर, इलाहाबाद आदि भी इस दिशा में अपना योगदान दे रहे हैं। विद्यार्थियों के लिये दूरदर्शन एक आकर्षण केन्द्र है। संगीत गोष्ठियों, संगीत सम्मेलनों, सेमिनार आदि का प्रसारण दूरदर्शन के माध्यम से होता है जिन्हें देखकर–सुनकर प्रदेश की गायन शैलियों के बारे में जानकारी होती है। उत्तर प्रदेश के विभिन्न ग्रामीण अंचलों के लोकगीतों, नृत्य का प्रसारण भी इन पर दिखाया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ टेलीविजन पर आधारित होने वाले ऐसे सांगीतिक कार्यक्रम हैं जिन्हें देखकर–सुनकर बालक उसमें निहित संगीतात्मक सामग्री आत्मसात कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त आजकल तो विभिन्न चैनलों के माध्यम से टी०वी० पर विभिन्न प्रतियोगितात्मक संगीत कार्यक्रम आयोजित होते हें जिससे नवोदित कलाकारों को प्रेरणा तथा दिशा मिलती है जिससे वे स्थापित कलाकार बनते हैं।

प्रेस, पुस्तकें तथा पत्र पत्रिकायें :

संगीत ग्रंथ हमारी युग–युगीन परंपरा अथवा सांगीतिक निधि को सुरक्षित रखने का महत्वपूर्ण साधन है। प्रत्येक युग में ग्रन्थों के महत्व को न केवल उस युग में बल्कि आगामी युगों के मार्गदर्शन के लिये भी स्वीकारा गया है। ग्रन्थों के अभाव में हम न केवल उस युग के ही संगीत ज्ञान से वंचित रह जाते हैं अपितु संगीत के इतिहास में उस युग का ही कोई महत्व नहीं रह जाता है क्योंकि आगामी युगों में भूतकाल के संगीत सिद्धान्तों व अन्य सांगीतिक सामग्री का अनुमान इन्हीं ग्रन्थों से लगाकर उस युग का स्तर निश्चित करने के उपरान्त ही उसका महत्व आंका जाता है। निःसन्देह ग्रंथ प्रत्येक युग की धरोहर है।

शास्त्रात्मक दृष्टि से भी उत्तर प्रदेश की सांगीतिक धरोहर संमृद्ध रही है। अकबरी दरबार में पुंडरीक विट्ठल एवं मियां तानसेन द्वारा अनेक संगीत ग्रंथों की रचना हुई। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश में अनेक वाग्गेयकार हुये हैं जो यहाँ की संगीत परम्परा, घरानों आदि के बारे में अपने विचार पुस्तकों में प्रकाशित करते हैं। अतः संगीत के अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ उत्तर प्रदेश में रचे गये। इन लेखकों में विशेष रूप से कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति, सुलोचना बृहस्पति, पं० रामाश्रय झा, डॉ० (श्रीमती) स्वतंत्र शर्मा, डॉ० प्रेमतला शर्मा, सरयू कालेकर, ठाकुर जयदेव सिंह, पं० ओंकार नाथ ठाकुर, श्री लालमणि मिश्र, सुभद्रा चौधरी आदि वाग्गेयकारों का संबंध उत्तर प्रदेश से ही रहा।

इसके अतिरिक्त विभिन्न सांगीतिक पत्र–पत्रिकाएं भी उत्तर प्रदेश से प्रकाशित होती रहती हैं जैसे–'संगीत' (हाथरस), 'छायानट' (लखनऊ), 'अकादमी पुरस्कार समारोह पत्रिका' (लखनऊ), आदि जिनके माध्यम से उत्तर प्रदेश के वाग्गेयकारों के विचारों से संगीत जगत लाभान्वित होता रहा है।

—◈—

नवम् अध्याय

उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में कुछ संगीत शास्त्रियों व कलाकारों का योगदान

उत्तर प्रदेश की वर्तमान सांगीतिक परम्परा में कुछ विशिष्ट संगीत शास्त्रियों व कलाकारों का उल्लेख

वैसे तो मैनें अपने शोध प्रबन्ध में उत्तर प्रदेश की ऐतिहासिक परंपरा, गायन शैलियों व उनके विकास उसकी विस्तृत चर्चा करने का प्रयास किया है। इस सांगीतिक परंपरा में जिन महान संगीतकारों की चर्चा मैंने की है, उनकी शिष्य परंपरा निरंतर आज भी पल्लवित हो रही है, चाहे वह वाराणसी की भूमि हो या इलाहाबाद अथवा लखनऊ। आज भी मुख्यतः इन तीन स्थलों पर अनेक कलाकार संगीत साधना में रत हैं और शिष्यों को विधिवत् शिक्षण दे रहे हैं जिससे कि हमें विश्वास है उत्तर प्रदेश की हमारी प्राचीन सांगीतिक धरोहर दिन–प्रतिदिन समृद्ध होती जायेगी। अब मैं संक्षेप में इन तीनों स्थलों में महान कलाकारों के साथ–साथ साधनारत् कलाकारों की चर्चा करूँगी–

वाराणसी

डॉ० प्रेमलता शर्मा :

भारतीय संगीतवाङ्मय के अनेक प्राचीन ग्रंथ के मनन, चिन्तन एवं अध्ययन में अनवरत् निमग्न पं० ओंकार नाथ ठाकुर की परम विदुषी शिष्या डॉ० प्रेमलता शर्मा भारतीय संगीत सिद्धान्तशास्त्रों की अत्यंत कर्मठ एवं अध्ययनशील शास्त्रकार के रूप में प्रसिद्ध है। काशी हिन्दू विश्वविद्यलालय के अन्तर्गत संगीत कलामंच संकाय से सम्बद्ध संगीत शास्त्र विभाग के संकाय प्रमुख पर लंबी अंवधि तक काशी में रहती हुई डॉ० प्रेमलता जी ने अपने व्यक्तिगत कार्यकलापों से संगीतशास्त्र विभाग की विशेष गरिमा बढ़ाई है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्राचीन ग्रंथ के गवेषणापूर्ण और शोधपरक चिन्तन से प्रामाणिक तथ्यों को एकत्रित करके आापने भारतीय संगीत पर अनेक शोध पत्र प्रस्तुत किये।

देश विदेश की अनेक सम्मानित संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों ने रागय–रागय पर आपको आमंत्रित कर आपके मार्गनिर्देन का लाभ उठाया। अनेक शोधार्थी, देशी–विदेशी छात्रों ने आपके मार्गदर्शन में संगीत के विविध पक्षों पर शोध प्रबंध प्रस्तुत कर सम्मानित उपाधि प्राप्त की है। भरतकृत **'नाट्यशास्त्र'** के ऊपर अभिनवगुप्त पादाचार्य द्वारा लिखित टीका एवं **नाट्यशास्त्र** पर डॉ० प्रेमलता जी का विशेष अध्ययन है। इस विषय पर देश–विदेश के अनेक विद्वान आपसे विचार–विमर्श कर लाभान्वित होते रहते हैं।

ध्रुपद गायन शैली की प्राचीन परंपरा को पुनः प्रतिष्ठित करने में देश–विदेश की अनेक संस्थाओं से जुड़कर आपने सक्रिय योगदान दिया। **उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी** के उत्तरदायित्वपूर्ण प्रशासनिक पद को भी आपने सुशोभित कर अकादमी की कार्यकुशलता को गति प्रदान की। सम्प्रति **इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,** खैरागढ़ (मध्य प्रदेश) में वाइस चान्सलर पद से तीन वर्ष पश्चात् कार्यमुक्त होकर, काशी में अपने आवास पर रहती हुई आप संगीत तत्वों के अनुचिन्तन में निरत है।

श्री बलवन्त राय भट्ट "भावरंग" :

बाल्यकाल में ही माँ शीतला के प्रकोप से नेत्र ज्योति खो बैठे प्रज्ञाचक्षु श्री बलवन्त राय भट्ट, संगीतमार्तण्ड पं० ओंकारनाथ ठाकुर के प्रिय शिष्य, लय–स्वर चतुर, संगीत के काकु पक्ष के कुशल मंच प्रदर्शक व्याख्याता है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीत कला संकाय के कंठसंगीत प्रवक्ता, रीडर, प्रोफेसर आदि विभिन्न उत्तरदायित्व पदों पर लंबी अवधि तक कर्मठता से रहकर ससम्मान अवकाश गहण किया।

श्री भट्ट जी ने **'भावरंग'** उपनाम से अनेक रागों एवं तालों में संतुलित उत्कृष्ठ बन्दिशों की रचना की है। आप द्वारा रचित **''भावरंग लहरी''** नामक संगीतग्रंथ तीन खण्डों में प्रकाशित है। भारत सरकार द्वारा **''पदमश्री''** उपाधि प्राप्त, उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी एवं अनेक संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत श्री भट्ट सुयोग्य संगीत शिक्षक, निपुण व्याख्याता एवं वाग्गेयकार के रूप में लंबी अवधि से काशी में रहकर संगीत जगत की सेवा कर रहे हैं।

श्री चितरंजन ज्योतिषि :

देश की महान संगीत विभूति पं० ओंकार नाथ ठाकुर की शिष्य–प्रशिष्य परंपरा में दीक्षित श्री चितरंजन ज्योतिषि को अपने छात्र जीवन में पं० ओंकारनाथ ठाकुर जी के अतिरिक्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संगीत कला मंच संकाय में कार्यरत श्री बलवंत राय भट्ट, डा० प्रेमलता शर्मा, बी०आर० देवधर आदि विद्वानों का भी भरपूर सहयोग एवं मार्गदर्शन मिला। कालांतर में अपनी निष्ठापूर्ण कलासाधना, गुरूभक्ति एवं प्रतिभा के फलस्वरूप क्रमशः प्रगति करते हुए डा० चितरंजन ज्योतिषि ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से न केवल **डॉक्टरेट** की उपाधि ससम्मान प्राप्त की अपितु संगीत कला मंच संकाय में कंठसंगीत के प्रवक्ता, रीडर, विभागाध्यक्ष आदि पदों पर कार्य करने का गौरव प्राप्त किया। कुशल गायक–शिक्षक के रूप में पर्याप्त सफलता प्राप्त आपके मार्ग निर्देशन में अनेक छात्र–छात्राओं ने संगीत के क्रियात्मक एवं सैद्धान्तिक पक्षों पर शोध–प्रबंध प्रस्तुत करके डी० म्यूज की उपाधि प्राप्त कर, विभिन्न शिक्षण संस्थाओं में सम्मानित पद प्राप्त किया। कुछ वर्षों पूर्व काशी के अपने आत्मीय कलाप्रेमियों, उत्साही और कर्मठ छात्र–छात्राओं के उत्साह से चितरंजन जी ने **'संगीतांजलि'** नामक संस्था की स्थापना काशी में ही की जिसके द्वारा आयोजित कार्यक्रमों की कला प्रेमियों ने भूरि–भूरि प्रशंसा की। डॉ० चितरंजन ज्योतिषि आज भी पूरी कर्मठता से काशी में रहते हुये संगीत सेवा में संलग्न हैं।

डॉ० एम०आर० गौतम :

भारतीय संगीत के क्रियात्मक एवं सैद्धान्तिक पक्ष दोनों ही पक्षों के कुशल विद्वान गायक श्री एम०आर० गौतम ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संगीत कला मंच संकाय के रीडर पद पर लगभग दो दशकों तक वाराणसी में रहते हुए अपनी अच्छी पहचान बनाई। आपने देश के अनेक विद्वान संगीतज्ञों की सत्संगति में कंठसंगीत की शिक्षा ग्रहण कर अपनी गायकी को बहुमुखी बनाया।

ध्रुपद, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, ग़ज़ल तक की गायकी को सीखने के लिये आपने सुदक्ष विद्वानों की शिष्यता निःसंकोच स्वीकार की। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संगीत कला संकाय में अपने कार्यकाल में आपने देश के मूर्धन्य टप्पा–ठुमरी गायक रामू मिश्र को आमंत्रित कर बनारस घराने की टप्पा–ठुमरी की विशिष्ट गायकी से संकाय के सहयोगी अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं स्वयं को लाभान्वित किया। भारतीय संगीत के शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक पक्षों की जानकारी के लिये श्री गौतम ने डॉ० जयदेव सिंह जैसे संगीतमनीषी का सहज सानिध्य प्राप्त किया। भारतीय संगीत के विविध पक्षों पर देश–विदेश में आयोजित अनेक परिसंवाद–प्रदर्शन, व्याख्यान मालाओं की आयोजन समिति ने आपको आमंत्रित कर आपकी विद्वता का लाभ उठाया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संगीत कलामंच संकाय के विभागाध्यक्ष पद से ही आप इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के वाइस चांसलर पद के लिये आमंत्रित हुये, जहाँ तीन वर्षों तक अपना कुशल नेतृत्व प्रदान कर आपने संगीत के उन्नयन एवं विकास में सराहनीय भूमिका निभाई सम्प्रति कलकत्ता में रहते हुये आप संगीत जगत की सेवा में संलग्न हैं।

प्रदीप दीक्षित एवं अर्चना दीक्षित :

बाल्यकाल से ही सहज संगीतानुरागी एवं प्रतिभासम्पन्न श्री प्रदीप दीक्षित सुप्रसिद्ध गायक, कुशल वाग्गेयकार पं० ओंकारनाथ ठाकुर के आत्मीय संबंधी हैं, जिनकी छत्रछाया में प्रदीप दीक्षित को संगीत सीखने का सौभाग्य मिला। कालांतर में शैक्षणिक अध्ययन पूर्ण कर लेने के पश्चात् प्रदीप दीक्षित संगीत कला मंच संकाय में ही अध्यापन के लिये नियुक्त हुये एवं काशी में लंबे अवधि से रहते हुये दीक्षित जी ने संकाय के अध्यापक, प्रवक्ता, रीडर, कंठ संगीतविभागाध्यक्ष पदों का गुरूतर भार सम्मानित ढंग से कुशलतापूर्वक वहन किया है। श्री प्रदीप दीक्षित के मुख्य प्रकाशनों में **''वाग्गेयकार पं० ओंकारनाथ ठाकुर एवं सरस संगीत''**, **''नायक-नायिका भेद और राग-रागिनी वर्गीकरण का तुलनात्मक अध्ययन''** विशेष उल्लेखनीय है।

आपकी जीवन संगिनी श्रीमती **अर्चना दीक्षित** कुशल गृहणी के अतिरिक्त संगीत क्षेत्र में भी आपकी वास्तविक सहयोगिनी हैं, वे कुशल प्रवक्ता के रूप में का०हि०वि०वि० के संगीत कला मंच संकाय में कार्यरत है।

श्रीमती निर्मला अरूण:

काशी के गुणी तबला वादक श्री वासुदेव जी की होनहार पुत्री निर्मला अरूण को वचपन से ही घर में संगीतमय वातावरण मिला। 7-15 वर्ष की उम्र तक उस्ताद अता खाँ एवं पंजाब–पटियाला घराने के प्रसिद्ध उस्ताद रहमान से संगीत शिक्षा आपने ग्रहण की बाद में आपने काशी छोड़कर बंबई को अपनी कार्य स्थली बनाया और इस प्रवासकाल में 20-25 फिल्मों में नायिका–सहनायिका, पार्श्वगायिका होने का अवसर प्राप्त किया। बाद में इस क्षेत्र से सन्यास लेकर पुनः रहमान अली खाँ से दिशा प्राप्त कर आपने बनारसी शैली की ठुमरी–दादरा और पंजाब अंग की चपल गायकी के अद्‌भुत समन्वय सम्मिश्रण से एक नई प्रभावशाली गायन शैली से संगीत जगत में अपना वर्चस्व स्थापित किया। आप सितम्बर 1996 ई० में बंबई में ही दिवंगत हुई।

सविता देवी :

वर्तमान में उदीयमान, चर्चित, उपशास्त्रीय शैली–ठुमरी, दादरा, होली, चैती, कजली, भजन, ग़ज़ल, गीत आदि को अपने अनूठे, मंच चतुर अंदाज में प्रस्तुत कर प्रशसंनीय ख्याति अर्जित करने वाली आकाशवाणी, दूरदर्शन एवं सांस्कृतिक उत्सवों में सम्मिलित देश के विभिन्न नगरों के आयोजनों की सशक्त हस्ताक्षर सविता देवी अपने युग की काशी की रससिद्ध गायिका श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी की द्वितीय कन्या हैं। बचपन में आपका झुकाव सितारवादन की ओर देख आपकी माता जी विद्वानों से सितार की शिक्षा दिलाने की रागुचित व्यवरथा की। क्रगशः प्रगति, अभ्यास के अनंतर आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीत संकाय से सितार वाद्य की उच्चस्तरीय परीक्षा विशेष अंकों सहित उत्तीर्ण करके कानपुर के एक डिग्री कॉलेज में सितार प्रवक्ता के पद पर अनेक वर्षों तक कार्य किया। वर्तमान में लगभग 15 वर्षों से दिल्ली के दौलतराम डिग्री कॉलेज में सितार के प्रवक्ता पद पर कार्यरत है।

अपनी माता सिद्धेश्वरी देवी की मृत्यु के उपरान्त आपने विरासत में प्राप्त कंठ संगीत की साधना की ओर विशेष रूचि ली और निष्ठा, लगन, परिश्रम से की गई साधना ही फलवती हुई। आपने सार्वजनिक मंचों सें गायन कार्यक्रम देना आरंभ कर दिया। वंशानुगत संगीत संस्कार अभ्यासक्रम से निखरता चला गया और आज सविता देवी सार्वजनिक मंचों, आकाशवाणी दूरदर्शन कार्यक्रमों के माध्यम से संगीत प्रेमियों के मानस पटल पर अपनी विशिष्ट पहचान अंकित कर चुकी है। आपकी गायकी में सिद्धेश्वरी देवी की एक झलक के साथ अपनी मौलिकता और संगीत प्रतिभा का भी अभिनव सम्मिश्रण शीघ्र ही श्रोताओं को अपनी ओर आर्कषित कर लेता है। बनारस की इस प्रतिभा सम्पन्न गायिका से संगीत जगत् विशेष आशावान् है।।

बागेश्वरी देवी :

बिहार प्रांत के मुंगरे नगर में जन्मी, बागेश्वरी के माता पिता दोनों ही संगीत प्रेमी थे जिनकी छत्रछाया से निकलकर वे काशी आई और यहाँ के अनेक गुणियों से संगीत शिक्षा प्राप्त की। उसी क्रम के काशी के गुणी गायक श्री गणेश प्रसाद मिश्र से आप विशेष प्रभावित हुई और उनकी शिष्यता ग्रहण करके आज भी उनका मार्गदर्शन प्राप्त कर रही है। अपनी निष्ठा, साधना एवं लगन से बनारसी ठुमरी, दादरा, कजली, होली, चैती, भजन आदि की भावप्रधान गायकी की कुशल गायिका के रूप में बागेश्वरी ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाकर संगीत प्रेमियों से भूरि–भूरि प्रशंसा प्राप्त की। वर्तमान में आप मिर्ज़ापुर में रह रही है।

श्रीमती कौमुदी मुंशी :

काशी के अत्यंत प्रतिष्ठित, गुजराती, धनाढ्य कुल में जन्मी कौमुदी मुन्शी में जन्मजात संगीत प्रतिभा विद्यमान रही। अभिभावकों की सहर्ष अनुमति से सिद्धेश्वरी देवी को इन्होंने अपना गुरू चुना एवं बहुत दिनों से उनसे शिक्षा ग्रहण करती हुई कौमुदी, बेग़म अख्तर की गायकी की ओर उन्मुख हुई और अपनी गायकी से बेग़म अख़्तर की

प्रभावोत्पादक शैली का भी उचित सम्मिश्रण कर आत्मसात करने का सफल प्रयास किया। अपनी संस्कारगत शालीनता, कुलीनता से आपने विदेश में बसे भारतीयों के आमंत्रण पर कई देशों की यात्रा की और वहाँ भारतीय लोकसंगीत सुनने को लालायित संगीत प्रेमियों को अपनी सरीली सुमधुर गायकी से प्रभावित कर अच्छी प्रशंसा अर्जित की। आपका संगीत भविष्य अत्यंत उज्जवल है।

श्रीमती मंजू सुन्दरम् :

मंजू सुन्दरम् में संगीत संस्कार बचपन से ही विद्यमान था, जिसे संगीत विद्वान पिता श्री एम०के० सामन्त ने अपने कुशल निर्देशन में सँवारना, सजाना शुरू कर संगीत की प्रारंम्भिक शिक्षा का श्री गणेश किया। बसन्त कॉलेज, काशी से स्नातक स्तर की शिक्षा प्राप्त करने के क्रम में मंजू को वहाँ कंठ संगीत की प्रवक्ता श्रीमती सुशीला नादकर्णी से स्नेहिल मार्गदर्शन एवं वल्लभ संगीतालय, बम्बई के गुणी संगीतज्ञ श्री के० जी० गिन्डे एवं संगीत विद्वान रातनजन्कर जी से भी सीखने का अवसर मिला। रागदारी संगीत की विधिवत् शिक्षा उपर्युक्त विद्वानों से प्राप्त करने के साथ ही आपको श्रीमती गिरिजा देवी की प्रभावशाली गायकी ने विशेष रूप से प्रभावित किया और विगत् 15-20 वर्षों से उनसे बनारस अंग की ठुमरी, टप्पा, दादरा, चैती आदि की विशिष्ट शिक्षा ग्रहण कर रही है जिनकी प्रस्तुति में गिरिजा देवी की शिक्षा की स्पष्ट छाप एवं मंजू की अपनी अनुभूति और परिपक्व कल्पना का मणिकांचन सौन्दर्य बोध स्पष्ट परिलक्षित होता है।

श्रीमती मंजू सुन्दरम् वर्तमान में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध नगर की महिला संस्था वसंत कन्या महाविद्यालय, कमच्छा में कंठसंगीत की वरिष्ठ प्रवक्ता पद पर कार्यरत हैं एवं आपसे से संगीत जगत को विशेष आशा है।

पूर्णिमा चौधरी :

कलकत्ता के एक कुलीन बंगाली परिवार की कन्या एवं बनारस के एक बंगाली परिवार की पुत्रवधू श्रीमती पूर्णिमा चौधरी नगर की युवा गायिकाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं चर्चित कलाकार के रूप में अपना विशेष स्थान बना चुकी है। कलकत्ता

प्रवासकाल में इन्होंने अनेक वर्षों तक देश के सुप्रसिद्ध गायक श्री ए०टी० कानन से सीखने का अवसर मिला। विवाहोपरांत कलकत्ता से बनारस आने पर नगर के वयोवृद्ध एवं विद्वान गायक श्री महादेव प्रसाद मिश्र से बनारस शैली की ठुमरी, दादरा, होली, चैती, कजली आदि सीखने का सौभाग्य पूर्णिमा को मिला। अपनी निष्ठा, लगन और दैनिक अभ्यास से पं० महादेव शैली को आत्मसात् करती पूर्णिमा क्रमशः प्रगति पथ पर अग्रसर होती गई। बाद में इन्होंने श्रीमती गिरिजा देवी से सीखने का अवसर प्राप्त किया। सार्वजनिक मंचों के अतिरिक्त आकाशवाणी रो भी आपके कार्यक्रम प्रसारित होते रहे है साथ ही आपने देश के प्रमुख संगीत समारोहों में भाग लेकर संगीत प्रेमियों की प्रशंसा एवं स्नेह प्राप्त किया है। लोकप्रिय गायिका श्रीमती पूर्णिमा चौधरी का भविष्य अत्यंत उज्जवल है।

डा0 वनमाला पर्वतकर :

अपने युग में **'लयभास्कर'** की उपाधि से अलंकृत श्री लक्ष्मण राव पर्वतकर की पौत्री डॉ० वनमाला पर्वतकर ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातक स्तर की शैक्षणिक एवं संगीत कला मंच संकाय से डी० म्यूज की उपाधि ससम्मान प्राप्त की। कंठ संगीत की शिक्षा ग्रहण करने के अध्ययन काल में वनमाला को संगीत विभाग में कार्यरत श्री बलवन्त राय भट्ट, वी०वी० ठकार, बी० आर० देवधर, डॉ० एम० आर० गौतम आदि अनेक विद्वानों एवं शिक्षकों से शिक्षा ग्रहण करने का अवसर मिला जिससे आपकी संगीत साधना पुष्ट होती गई। वनमाला को ख्याल गायकी के साथ–साथ बनारस शैली की ठुमरी, टप्पा, दादरा, होली, चैती आदि की गायन शैली सीखने की अदम्य उत्कंठा थी किन्तु पिता की अचानक मृत्यु के कारण पारिवारिक उत्तरदायित्व के कारण आपको वर्षों तक किसी विद्वान से सीखने का अवसर नहीं मिल पाया कि अचानक संयोग से काशी के मूर्धन्य विद्वान श्री छोटे रामदास मिश्र के सुयोग्य शिष्य श्री शिव कुमार शास्त्री से आपका परिचय हुआ, जिन्होंने काशी की घरानेदार गायन शैलियों की विधिवत् शिक्षा वनमाला को दी और आज पं० शिवकुमार शास्त्री के मार्गनिर्देशन में वनमाला ख्याल के

साथ–साथ अन्य शैलियों में भी साधिकार कार्यक्रम प्रस्तुत करने में सक्षम बनकर काशी का गौरव बढा रही हैं।

श्रीमती डॉ० मंगला कपूर :

काशी के सुप्रसिद्ध ध्रुपद गायक पं० शिव प्रसाद त्रिपाठी की नतिनी एवं ग्वालियर घराने की गायकी के सुदृढ़ संगीत शिक्षक श्री 'एम०वी०कालविण्ट' की सुयोग्य शिष्या नगर की उदीयमान गायिका, वसन्त कॉलेज, राजघाट की कंठसंगीत की प्रवक्ता श्रीमती मंगला कपूर कुशल कलाकार के रूप में बनारस में अपनी अलग पहचान बना चुकी है। बाल्यकाल से संगीत के प्रति स्वाभाविक रूझान को पारिवारिक प्रोत्साहन मिलता रहा। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आपने डी०म्यूज की उपाधि प्राप्त की। आकाशवाणी –दूरदर्शन के विभिन्न केन्द्रों से आपके कार्यक्रम प्रसारित होते रहते हैं। दिल्ली, पटना, उज्जैन आदि नगरों में आयोजित संगीत सभाओं में भाग लेकर आपने संगीत प्रेमियों का आशीर्वाद व स्नेह प्राप्त किया है। आपकी गायकी में ख्याल, ठुमरी, दादरा, भजन आदि गायन शैलियों का उचित समन्वय संगीत प्रेमियों को आकर्षित करने में पूर्ण सक्षम है।

डॉ० शारदा वेलेंकर :

गीत ग़ज़ल, भजन आदि शैलियों की मर्मस्पर्शी प्रतिभा सम्पन्न गायिका शारदा वेलेंकर उपशास्त्रीय संगीत की उभरती एवं क्रमशः लोकप्रियता प्राप्त कलाकार के रूप में अपनी सशक्त पहचान बना चुकी है। शास्त्रीय संगीत की उत्कृष्ट शिक्षा के साथ–साथ बनारस शैली की उपशास्त्रीय विधा की विधिवत् शिक्षा के लिये **पियरी घराने** के सुयोग्य शिक्षक श्री सुरेन्द्र मोहन मिश्र का मार्गदर्शन प्राप्त किया। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कंठ संगीत विभागाध्यक्ष श्री चितरंजन ज्योतिषि के मार्गनिर्देशन में डी० म्यूज की उपाधि ससम्मान प्राप्त की तथा वर्तमान में आप आर्य महिला डिग्री कॉलेज में कंठ संगीत के प्रवक्ता पद पर कार्यरत रहते हुए संगीत साधना में संलग्न है।

डॉ0 ममतासेन गुप्ता :

कुलीन, संगीत प्रेमी बंगाली परिवार में उत्पन्न बी०एस०सी० स्तर तक विज्ञान की छात्रा के रूप में अध्ययनरत ममता को संगीत के प्रति आकर्षण, पं० महादेव प्रसाद मिश्र के आवास के निकट आ बसने पर हुआ। बनारस के अतिशय सुकंठ गायक, विद्वान, शिक्षक श्री महादेव प्रसाद मिश्र के सरल प्रभावशाली व्यक्तित्व के सानिध्य एवं मुहल्ले के संगीतमय वातावरण ने ममता की प्रसुप्त संगीत प्रतिभा को पुष्पित करने के लिये अभिप्रेरित किया। विज्ञान विषय से संगीत की ओर उन्मुख सुश्री ममता सेन गुप्ता की शिक्षा–दीक्षा संगीत कला से ही पूर्ण हुई जिसके फलस्वरूप आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीत संकाय में कंठ सगीत के विभागाध्यक्ष श्री चितरंजन ज्योतिषि के मार्गनिर्देशन में आपने डी०म्यूज की उपाधि प्राप्त की। ख्याल गायन के अतिरिक्त, ठुमरी, दादरा, भजन आदि शैलियों की सुन्दर प्रस्तुति में कंठ माधुर्य से आकर्षित कर आपने संगीत प्रेमियों का स्नेह प्राप्त कर वर्तमान में आप आर्य कन्या डिग्री कॉलेज में कंठ संगीत की प्रवक्ता पद पर कार्यरत है।

उपर्युक्त कलाकारों के अतिरिक्त अपने युग की सर्वाधिक लोकप्रिय **'मलिका-ए-तरन्नुम'** सम्मान प्राप्त, उपशास्त्रीय संगीत की अनेक विधाओं में सिद्धहस्त गायिका श्रीमती **बेग़म अख़्तर** को बनारस के उस्ताद गुलाम मुहम्मद खाँ एवं कलकत्ता प्रवास काल में ठुमरी गायनशैली के रससिद्ध गायक उस्ताद मौज़ुद्दीन खाँ से संगीत शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य मिला, जिससे उनकी गायकी में बनारस शैली की मनमोहक छाप आजीवन श्रोताओं के मानस पटल पर अपनी अमिट छाप अंकित करने में सफल रही। काशी की सुप्रसिद्ध गायिका रसूलन बाई की शिष्या श्रीमती **नैना देवी** (दिल्ली) एवं इनसे शिक्षा प्राप्त कर रही श्रीमती **शुभा मौदगल्य** (दिल्ली) का संगीत भविष्य अत्यंत उज्जवल है जो रसूलन बाई की गायन शैली को जीवन्तता प्रदान कर बनारसी शैली की सुगन्धि को चहुँ ओर फैला रही हैं।

इनके अतिरिक्त डॉ० सोमा चक्रवर्ती, सान्त्वना कविमंडल, ऋचा जौहरी, देवाशीष डे, सुनन्दा शर्मा (पठानकोट) आदि उदीयमान, प्रतिभासम्पन्न, कुशल युवा कलाकार काशी के घरानेदार संगीतज्ञों अथवा शिष्यों–प्रशिष्यों के सानिध्य में संगीत शिक्षा ग्रहण करते हुए संगीत जगत में स्थान बनाने में संलग्न एवं साधनारत हैं।

संगीत के शास्त्र पक्ष के विकास में बनारस की स्थिति

काशी नगरी में संगीत किसी वर्ग विशेष एवं घरानों तक ही सीमित नहीं रहा है। सदियों पूर्व की भारतीय संगीत परंपरा की विभिन्न गायन, वादन, नर्तन शैली की विभिन्न विधाओं, विभिन्न घरानों के उत्कृष्ट कलाकारों की कला को समुचित आदर, सम्मान, आत्मीयता प्रदान करते हुए इस नगरी के कला प्रेमी नरेशों, नागरिकों एवं संगीत साधकों ने अपनी मौलिकता तथा परंपरा को अक्षुण्ण रखते हुए, बाहर से काशी आ बसे संगीतज्ञों को भी भरपूर सहयोग प्रदान कर अपना बना लिया और इसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की श्रीवृद्धि में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। यही कारण है कि जिसके फलस्वरूप वाराणसी ने संगीत के विविध पक्षों एवं विभिन्न शैलियों को अत्यंत औदार्य एवं सहजता से अपने में समेटा और उसी को अपने चिन्तन–मनन से नवीन स्वरूप प्रदान कर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया और फलतः जीवन के विविध क्षेत्रों के साथ–साथ इस अप्रतिम नगरी की अविच्छिन्न, अजस्त्र नाद–धारा निरन्तर गतिगती रहती हुई वर्तमान समय में भी इस नगरी एवं यहाँ के संगीत साधकों के वर्चस्व को गौरव प्रदान कर रही है। काशी के परंपरागत घरानेदार संगीत विद्वानों के अतिरिक्त काशी में आ बसे एवं अपने जीवन की दीर्घ अवधि काशी में ही व्यतीत कर साधनारत अनेक बाहरी संगीत विद्वानों में प० ओंकारनाथ ठाकुर, ठाकुर जयदेव सिंह, डा० लालमणि मिश्र, डा० प्रेमलता शर्मा, डॉ० एम०आर० गौतम, श्री बलवन्त राय भट्ट, एम०वी० कालविण्ट, श्री महादेव सामंत, एन० राजम, लेले जी, वी०वी० पाटेकर, प्रदीप दीक्षित, चितरंजन ज्योतिषि, सी०एल०श्रीवास्तव आदि अनेक महानुभाव ने संगीत जगत की अमूल्य सेवा कर रहे हैं।

इलाहाबाद

भारत वर्ष की प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी प्रयाग (इलाहाबाद) प्राचीन काल से ही सांस्कृतिक केन्द्र स्थली के रूप में जाना जाता है। संगीत के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी इस नगर की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह इलाहाबाद के लिये बडे गर्व की बात है यहाँ पर देश का प्रथम संगीत सम्मेलन आयोजित हुआ।

इस नगर में अनेक संगीतज्ञों ने साधनारत रहते हुये अपने शिष्यों–प्रशिष्यों को संगीत की शिक्षा प्रदान की, जिससे यह नगर संगीत कला की सुगन्धि से महकता रहा है। यहाँ पर वर्तमान में अनेक संगीत कलाकार साधनारत हैं और संगीत शिक्षण का कार्य करते हुये अपने शिष्यों को तैयार कर रहे हैं जिनमें से प्रमुख कलाकारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

पं० रामाश्राय झा 'राम रंग' :

प्रोफेसर रामाश्रय झा 'रामरंग' का जन्म 11 अगस्त 1928 ई० भाद्र पद कृष्ण पक्ष एकादशी तिथि को बिहार प्रदेश में दरभंगा जिले के खजुरा नामक गाँव में हुआ। आपके पिता का नाम स्व० सुखदेव झा था जो मिथिला निवासी तथा मैथिली ब्राह्मण थे। स्व० पं० सुखदेव झा संगीत प्रेमी थे और कदाचित् इसी कारण पं० रामाश्रय जी को बहुत अल्पायु से ही संगीतमय वातावरण एवं संगीत सीखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इन्होंने संगीत की प्रारंम्भिक शिक्षा अपने पिता तदुपरांत अपने चाचा पं० मधुसूदन झा से प्राप्त की, गायन के साथ–साथ आपने हारमोनियम की भी विधिवत् शिक्षा ली। श्री अवध पाठक जी से भी आपको गायन की शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला।

संगीत कैरियर के प्रारम्भिक चरणों में आपने लगभग 15 वर्षों तक कम्पोजर का कार्य किया और इसी के कारण आपके द्वारा रचित और स्वरबद्ध असंख्य बन्दिशें शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में अत्यंत लोकप्रिय है। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद आपने संगीत की उच्च शिक्षा प्रयाग के विद्वत गुरू संगीताचार्य स्व० **भोलानाथ भट्ट** जी से प्राप्त

की। लगभग 25 वर्षों के लम्बे अन्तराल तक इन्होंने ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पा इन चारों पटों की गायन की शिक्षा भट्ट जी से ली तथा इसके अतिरिक्त पं०वी०एन० ठकार, उस्ताद हबीब खाँ एवं पं० बी०एस० पाठक से भी इन्होंने संगीत की विधिवत् शिक्षा प्राप्त की।

प्रो० झा० 1954 से प्रयाग में रहकर संगीत साधना एवं शिक्षण में व्यस्त है। प्रयाग संगीत समिति में प्रवीण की कक्षाओं का अनुभव और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में आपने शिक्षण प्रारंभ किया और अध्यक्ष संगीत विभाग के पद से आप वर्ष 1989 में कार्यमुक्त हुये। विभिन्न पदों पर शिक्षण कार्य करते हुये आपने अनेक योग्य शिष्य–शिष्याओं को उच्चकोटि का कलाकार बनाया। ये शिष्य आज आकाशवाणी, मंच एवं दूरदर्शन के उत्तम कलाकार है जिनमें मुख्य है डॉ० कु० गीता बनर्जी, डॉ० स्वतंत्र बाला शर्मा, (अध्यक्षा, संगीत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद), श्री रोबिन चटर्जी, श्रीमती कमला बोस, श्रीमती शुभा मुद्गल आदि।

पं० रामाश्रय झा जी उत्तम शिक्षक होने के साथ–साथ एक सफल गायक भी है। आपने संगीतशास्त्र पर भी अनेक पुस्तकें लिखी हैं। जैसे–उनके द्वारा लिखित **'अभिनव गीतांजलि'** के चार भाग प्रकाशित है। इन पुस्तकों में 80 अप्रचलित रागों की विशद् विवेचना एवं नई एवं पुरानी बन्दिशों का अभूतपूर्व संकलन है। विभिन्न विश्वविद्यालयों, संगीत संस्थाओं, शोध विद्यार्थियों तथा संगीत शिक्षकों में यह पुस्तकें अत्यंत लोकप्रिय है तथा स्नातक व स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थी इन बन्दिशों को सीखते हैं। आपने ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, दादरा, टप्पा, लक्षणगीत एवं तराना, तिरवट, चतुरंग, रागमाला के रागों में लगभग डेढ़ हज़ार बन्दिशों की रचना की है। ये सभी बन्दिशें साहित्य तथा संगीत की दृष्टि से उच्च कोटि की है तथा संपूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त आपने होली, चैती, कजरी, इत्यादि गीतों की भी रचना की है जिनमें उत्कृष्ट साहित्य व भाव परिलक्षित होता है। बन्दिश की रचनाओं के साथ–साथ आपने अनेक नवीन रागों की भी रचना की है जैसे– मंगल गूजरी,

वैदेही भैरव, बैरागी तोड़ी, भंखारी, सरस्वती सारंग, नटनागरी, चन्द्रमल्हार, महेन्द्र मल्हार, अंजनी मल्हार, अंजनी कल्याण तथा केसरी कल्याण इत्यादि।

आप आकाशवाणी व मंच के सफल कलाकार है एवं सन 1982 में उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार के अन्तर्गत प्रो० झा को **'रत्न सदस्यता'** पुरस्कार से सम्मानित किया गया। पं० झा वाग्गेयकार की विशिष्टता की पूर्ति करते हैं। वे अपनी कलात्मक बन्दिशों के लिये पूरे देश में प्रसिद्ध हैं। बंदिश रचना की काव्य प्रक्रिया के पीछे उनकी प्रबल आस्था शक्ति है। लोगों को जानकार ये आश्चर्य होगा कि उन्हें संपूर्ण रामचरित मानस लगभग कंठाग्र हैं। वे अपनी बंदिशों से भारतीय संस्कृति की एक अर्थवान झलक अपने श्रोताओं के मन में सहज ही उतार देते हैं। लगन, निरन्तर अभ्यास, उच्चकोटि की शिक्षा, रागों का सूक्ष्म और तुलनात्मक ज्ञान, रागों में नई और रोचक बन्दिशों की रचना करने की प्रतिभा, सूझ–बूझ एवं अनुभव के फलस्वरूप ही इनकी ख्याति दिन–प्रतिदिन बढ़ती गई और आज इनको संपूर्ण संगीत जगत में एक प्रतिष्ठित और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। झा साहब का व्यक्तित्व व कृतत्व संगीत जिज्ञासुओं तथा रसिकों के लिये प्रेरणा का स्रोत रहा है। संगीत के शास्त्र व क्रियात्मक पक्ष पर समानाधिकार प्राप्त झा जी अपने शिष्य–शिष्याओं के प्रति समर्पित रहे हैं और अपनी नवीन रचनाओं द्वारा नई–नई पीढ़ी के संगीत प्रेमियों में शास्त्रीय कंठ संगीत के प्रति रूचि जागृत कर रहे हैं। वे सही अर्थों में सुशिक्षित व पंडित है अर्थात् ऐसे व्यक्ति जिन्हें अपनी देश की संस्कृति, इतिहास, दर्शन, संस्कार आदि का प्रबोध हो, मात्र शाब्दिक ज्ञान ही नहीं। ऐसे बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी प्रो० रामाश्रय झा जी में सफल संगीतज्ञ व प्रशासक दोनों के सभी गुण विद्यमान है। आपने **'बारिस दास संगीत परिषद'** की स्थापना करके इलाहाबाद नगर में अनगिनत संगीत समारोहों का आयोजन किया है और नगर एवं बाह्य युवा कलाकारों को प्रोत्साहित करने का अभूतपूर्व कार्य किया है। इसके अतिरिक्त आपने **''इलाहाबाद विश्वविद्यालय संगीत सम्मेलन''** जैसे ऐतिहासिक संगीत सम्मेलन को तीस वर्ष बाद पुनः सन् 1980 से प्रारंभ कर प्रतिवर्ष

अखिल भारतीय स्तर पर संगीत सम्मेलन का आयोजन करवाया जिसमें आपके अथक प्रयास से अनेक सम्मानित एवं सुप्रसिद्ध कलाकारों ने भाग लिया। सन् 1986 के फरवरी माह में आपके ही प्रयासों के कारण विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में **''राष्ट्रीय संगीत परिसंवाद''** का आयोजन संभव हो सका।

प्रो० झा संगीत के उत्तम शिक्षक, कलाकार, साधक, लेखक, रचनाकार के साथ–साथ एक सफल आयोजक एवं प्रशासक हुये। इन सभी विशिष्टताओं का किसी एक व्यक्ति में समावेश आदर्श रूप में माना जाता है।

डॉ० गीता बनर्जी :

उत्तर प्रदेश की वर्तमान ठुमरी व ख्याल गायिकाओं में डॉ० गीता बनर्जी का एक विशिष्ट स्थान है। आपने संगीत की शिक्षा प्रयाग के पं० राम प्रसाद भट्ट जी से उसके उपरान्त पं० रामाश्रय झा जी से प्राप्त की। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संगीत एवं ललित कला विभाग की भूतपर्व अध्यक्षा, डा० गीता बनर्जी ने संगीत प्रवीण तथा एम०ए० (गायन) की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में स्थान अर्जित करने के साथ–साथ **''मल्हार अंग के रागों का तुलनात्मक विवेचन''** विषय पर शोधकार्य भी किया है। आपको सन् 1958 में उत्कृष्ट गायन के लिये राष्ट्रपति का स्वर्णपदक भी प्राप्त हुआ है। आपकी कई पुस्तकें विश्वविद्यालय स्तर पर लोकप्रिय है। ख्याल, ठुमरी, भजन इत्यादि में समान रूप से दक्ष डा० गीता बनर्जी ने देश के अनेकों प्रतिष्ठित संगीत–सम्मेलनों में भाग लिया है। आपको 'सुरसिंगार संसद, बंबई' द्वारा **'सुरमणि'** की उपाधि से अलंकृत भी किया है। आकाशवाणी, मंच व दूरदर्शन की उच्चकोटि की कलाकार डा० गीता बनर्जी इलाहाबाद की एक अत्यंत कुशल गायिका, शिक्षिका व प्रशासक है।

डा० स्वतंत्र शर्मा :

उत्तर प्रदेश की वर्तमान शास्त्रीय एवं उप शास्त्रीय संगीत की गायिकाओं में डा० स्वतंत्र शर्मा का विशिष्ट स्थान है। इलाहाबाद नगर में ऐसे अनेक संगीत साधक है, जिसका जन्म, प्रारंभिक शिक्षा दीक्षा आदि अन्यत्र सम्पन्न हुआ किन्तु संगीत कला

की सेवा एंव साधना काल में जीवन के सर्वाधिक वर्ष प्रयाग नगरी में व्यतीत हुये और धीरे–धीरे नगर के सुपरिचित, सुप्रतिष्ठित कलाकार के रूप में मान्यता प्राप्त की।

ऐसे ही, नवाबों की नगरी लखनऊ में जन्मी अत्यंत शिष्ट, सुसंस्कृत, मिलनसार, हँसमुख, स्वाभिमानी, गुणी, सहज, सरल, निरभिमानी, सुकंठ गायिका, कुशल प्रशासक डा० स्वतंत्र शर्मा ने 'प्रयाग' को अपनी कर्मभूमि बनाकर इस नगर के गौरव को बढ़ाया है। आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य तथा संगीत गायन में स्नातकोत्तर की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा संगीत गायन (एम०ए०) में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर गौरव अर्जित किया। आपने देश की महान संगीत विभूति एवं संगीत विद्वान पं० रामाश्रय झा जी से संगीत की शिक्षा ग्रहण की जिनका भरपूर सहयोग तथा मार्गदर्शन आपको सदैव मिलता रहा और अपनी निष्ठापूर्ण कला साधना, कर्तव्यपरायणता, गुरूभक्ति, व्यवहारकुशलता आदि सद्‌गुणों के फलस्वरूप डा० शर्मा ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संगीत के **'पाश्चात्य संगीत एवं भारतीय संगीतः एक तुलनात्मक अध्ययन'** विषय के विविधि पक्षों पर शोध प्रबंध प्रस्तुत करके डी० लिट् की ससम्मान उपाधि प्राप्त की तथा विगत् 21 वर्षों से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संगीत एवं ललित कला विभाग में अध्यापन कार्य करते हुये वर्तमान में इस विभाग की अध्यक्षा पद को सुशोभित कर रही है।

भारतीय संगीत वाङ्‌मय के अनेक ग्रन्थों के मनन–चिन्तन एवं अध्ययन में अनवरत् निमग्न, परम विदुषी डा० शर्मा द्वारा शास्त्रीय संगीत पर लिखित विभिन्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है, जिनमें से प्रमुख है–**'भारतीय संगीत एक वैज्ञानिक विश्लेषण', 'भारतीय संगीत का ऐतिहासिक विश्लेषण', 'पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति एवं भारतीय संगीत', 'Comparative study of the evolution of Indian and western music', 'Fundamentals of Indian music an approach to Indian music'** आदि। ये सभी पुस्तकें देश के अनेक विश्वविद्यालयों तथा पाश्चात्य देशों में मान्य हैं तथा उक्त विषयों पर देश–विदेश के अनेक विद्वान, शोधार्थी आपसे

विचार–विमर्श तथा मार्गदर्शन प्राप्त कर लाभान्वित होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त संगीत विषय पर लगभग 28 लेख विभिन्न पुस्तिकाओं, पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। संगीत के क्रियात्मक एवं शास्त्र पक्ष पर समान अधिकार प्राप्त डा० शर्मा अपने शिष्य–शिष्याओं के प्राति वात्सल्यपूर्ण भाव रखती हैं। आपके कुशल मार्गनिर्देशन में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संगीत संकाय से कई शोधार्थिनी संगीत के विभिन्न पक्षों पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर सम्मानित उपाधि प्राप्त कर चुकी हैं। एवं कई शोधकर्त्री वर्तमान में शोधकार्य में रत हैं।

भारतीय संगीत के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक दोनों ही पक्षों की कुशल विद्वान एवं गायिका डॉ० शर्मा ने पिछले लगभग 21 वर्षों से आकाशवाणी, दूरदर्शन व अनेक मंचीय कार्यक्रमों की सफल प्रस्तुति दी है। जैसे महाराष्ट्र मंडल सागर द्वारा आयोजित **'शास्त्रीय संगीत संध्या'**, पं० बड़े रामदास स्मारक समिति, वाराणसी द्वारा आयोजित विभिन्न संगीत सम्मेलनों में गायन, **'त्रिवेणी महोत्सव'**, प्रयाग संगीत समिति प्रेक्षागृह में आयोजित **'चैती समारोह'**, **'कजरी उत्सव'**, भातखंडे संगीत महाविद्यालय एवं सांस्कृतिक कार्य विभाग, लखनऊ में व्याख्यान प्रदर्शन, उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, इलाहावाद द्वारा **'चलो मन गंगा यमुना तीर'**, **'ग़ज़ल समारोह'** (मेरठ), **'गंगा-महोत्सव'** (वाराणसी), **'उत्तर प्रदेश पर्व'** (गोवा, वृन्दावन) **'नेहरू शताब्दी समारोह'** (लखनऊ) तथा आकाशवाणी इलाहाबाद द्वारा आयोजित अनेक संगीत सम्मेलनों आदि में गायन के सफल कार्यक्रम दिये। इनके अतिरिक्त भारतीय संगीत के विविध पक्षों पर देश में आयोजित अनेक परिसंवाद, प्रदर्शन, व्याख्यानमालाओं, सेमिनार तथा संगीत कार्यशालाओं की आयोजन समिति ने आपको आमंत्रित कर आपकी विद्वता का लाभ उठाया है। जैसे– बंबई में संगीत रिसर्च अकादमी एवं एन०सी०पी०ए० के तत्वावधान में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार में "आबजर्वर" के रूप में नियुक्ति एवं त्रिदिवसीय सेमिनार में भागीदारी, सागर विश्वविद्यालय के संगीत विभाग द्वारा सेमिनार में **'रिसोर्स परसन'** के रूप में आमंत्रण, भातखण्डे संगीत महाविद्यालय एवं सांस्कृतिक

कार्य अनुभाग, उत्तर प्रदेश सरकार के संयुक्त तत्वावधान में सात दिवसीय संगीत कार्यशाला में भागीदारी, 'त्रिवेणी महोत्सव' इलाहाबाद द्वारा आयोजित संगीत सेमिनार में **'रिसोर्स परसन'** के रूप में भागीदारी, **'अलाउद्दीन संगीत अकादमी'** (भोपाल) द्वारा आयोजित भारत भवन में 'संगीत की दूरवर्ती शिक्षा' पर आयोजित सेमिनार में आमंत्रण तथा मुम्बई विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय जैसे अनेक संस्थाओं द्वारा आयोजित सेमिनार कार्यशालाओं में आमंत्रण।

डा० स्वतंत्र शर्मा संगीत की उत्तम शिक्षिका, कलाकार, लेखिका होने के साथ–साथ सफल आयोजक भी है। उन्होंने अपने नेतृत्व में विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों का सफल आयोजन किया है जिनमें से मुख्य है–'लखनऊ महोत्सव', 'उत्तर प्रदेश पर्व' (गोवा), 'गंगा महोत्सव' (वाराणसी), 'नेहरू शताब्दी समारोह' (दिल्ली, लखनऊ), 'चलो मन गंगा युमना तीर' (प्रयाग), 'वृन्दावन शरदोत्सव' (वृन्दावन), रामायण मेला (अयोध्या), 'कजरी महोत्सव', 'कलाकार शिविर' (कुरूक्षेत्र), 'वर्षा मंगल' (ग्वालियर), 'नाट्य महोत्सव' (जमशेदपुर), 'सूरजकुंज मेला' (हरियाणा) एवं अन्य अनेकों कार्यक्रम/सांस्कृतिक, कार्यक्रमों के आयोजन के अतिरिक्त सेमिनार, संगीत की कार्यशालाओं, लेक्चर–डिमोंस्ट्रेशन का भी सफल आयोजन आपने किया है। जैसे–सांस्कृतिक विभाग उत्तर प्रदेश सरकार एवं उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र भारत सरकार द्वारा आयोजित राष्ट्रीय स्तर के अनेक सेमिनारों व लेक्चर डिमोंस्ट्रेशन का आयोजन विश्वविद्यालयों तथा कॉलेजों में किया। त्रिवेणी–महोत्सव के तत्वावधान में सेमिनार का आयोजन आदि। इसके अलावा सर्वे व डेकुमेंटेशन कार्य द्वारा आपने राष्ट्रीय पर अनेक सुप्रसिद्ध शास्त्रीय संगीतज्ञों का बायोडाटा एकत्र कर उन्हें सांस्कृतिक केन्द्र में सुरक्षित किया।

बहुआयामी व्यक्तित्व की धनी डा० स्वतंत्र शर्मा में सफल संगीतज्ञ, शिक्षिका होने के साथ–साथ सफल प्रशासक के भी सर्वगुण विद्यमान हैं। आपने सांस्कृतिक कार्य अनुभाग, उत्तर प्रदेश सरकार में 2 वर्ष तक सहायक निदेशक 'संगीत' के पद को

सुशोभित किया इसके अतिरिक्त उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, भारत सरकार में लगभग चार वर्ष तक कार्यक्रम अधिकारी व प्रशासनिक अधिकारी के पद पर कार्य करते हुये राष्ट्रीय स्तर के संगीत, नृत्य व नाटक के कार्यक्रम आयोजित करने के साथ–साथ भारत सरकार की अन्य योजनाओं जैसे 'लेक्चर कम डिमोंस्ट्रेशन' अनुदान संवंधी कार्य, सर्वे, डोकुमेंटेशन इत्यादि अनेक उत्तदायित्वों का कुशलतापूर्वक वहन किया।

इसके अलावा डा० शर्मा ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय की साइजरशिप सदस्या के रूप में अपने कर्तव्यों को भी बखूबी निभाया। 1994 से 1996 तक सहायक डीन विद्यार्थी कल्याण, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की प्रवेश समिति की सदस्या, विश्वविद्यालय की केन्द्रीय सांस्कृतिक समिति की सदस्यता, विश्वविद्यालय में आयोजित संगीत सम्मेलनों का सफल मंच संचालन, महिला सलाहकार बोर्ड इलाहाबाद विश्वविद्यालय की सांस्कृतिक इन्चार्ज, विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों के भिन्न–भिन्न अधिवेशनों में अनेक वर्षों तक गायन व कार्यक्रम के आयोजक के रूप में भी वह अत्यन्त सफल रही है।

बहुआयामी एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की धनी डॉ० स्वतंत्र शर्मा के योगदानों को देखते हुये विभिन्न संस्थाओं में उन्हें विविध सम्मानों एवं अलंकरणों से सुशोभित किया। जिनमें से प्रमुख है–'भारतीय साहित्य सुधा संस्थान' द्वारा **''मानस उपाधि,''** समन्वय इलाहाबाद द्वारा **''चेतना श्री''**, जिला प्रशासन मेरठ 1997, जिला प्रशासन इलाहाबाद, मदन मोहन मालवीय सोसाइटी इलाहबाद, महाराष्ट्र मंडल सागर (मध्य प्रदेश) आदि द्वारा सम्मान प्रदान किया गया।

इस प्रकार समय–समय पर पुरस्कृत डॉ० स्वतंत्र शर्मा सुयोग्य शिक्षित संगीतज्ञ, निपुण व्याख्याता, दक्ष वाग्येयकार के रूप में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मंच एवं प्रदर्शन कला विभाग के अध्यक्षा के पद को सुशोभित करते हुये संगीत जगत की सेवा में संलग्न है।

पं० भोलानाथ भट्ट :

प्रयाग में शास्त्रीय संगीत की गायकी–परंपरा के आदि स्रोत के रूप में निर्विवाद रूप से पं० भोलानाथ भट्ट जी का नाम सामने आता है। प्रयाग में पं० जी के ऐसे अनेक शिष्य–प्रशिष्य हुये हैं, जिनके माध्यम से आज भी प्रयाग में संगीत–गायकी की धारा पल्लवित होते हुये प्रवाहित हो रही है। जिनमें प्रमुख है–पं० रामाश्रय झा, श्रीमती लीला कारवाल, डा० गीता बनर्जी, श्रीमती स्वतंत्र शर्मा (अध्यक्षा, संगीत विभाग, इलाहाबाद, विश्वविद्यालय) श्रीमती कमला बोस आदि। पं० भोलानाथ भट्ट, **भट्ट घराने** के सुविख्यात संगीतज्ञों में से है। यह घराना शताब्दियों से संगीत के अमूल्य रत्नों को जन्म देता आया है। इस घराने का सम्मान आदिकाल से न केवल राजाओं और महाराजाओं द्वारा किया गया है अपितु महान् सम्राट जहाँगीर तथा बादशाह आदिलशाह ने भी किया है।

भट्ट जी का जन्म दरभंगा रियासत में हुआ था। आपके पिता पं० मोतीलाल भट्ट ध्रुपद–धमार के अच्छे गायक थे। वह महाराजा दरभंगा के यहाँ 18 वर्ष तक दरबारी गायक के रूप में रहे थे। जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न पं० भोलानाथ जी ने केवल पाँच ही वर्ष की अवस्था से अपने पिता से संगीत की शिक्षा प्रारंभ की। अल्प समय में ही आपने ध्रुपद और धमार की बहुत सी चीजें सीख ली। संगीत कला में पूर्ण पण्डित होने के लिये चार प्रकार की गायकी सीखना अनिवार्य हैं, पहली 'ध्रुपद' और 'धमार', दूसरी है 'ख्याल', तीसरी 'टप्पा' और चौथी 'ठुमरी'। ध्रुपद, धमार तथा टप्पे की गायकी की शिक्षा तो अपको अपने पिता से मिल चुकी थी और दो चार ख्याल भी आपने उनसे सीख लिये थे किन्तु ठुमरी से बिल्कुल ही अनभिज्ञ थे।

अभाग्यवश आपके पिता का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया जिससे भट्ट जी की शिक्षा अपूर्ण ही रह गई। जो कुछ शिक्षा प्राप्त कर चुके थे उससे इन्हें सन्तोष नहीं था। अतः आपने चाचा पं० राजाराम भट्ट के पास शिक्षा प्राप्त करने गये किन्तु उन्होंने इन्हें शिक्षा देने से साफ इन्कार कर दिया निराश होकर भट्ट जी घर लौट आये। परिवार

की अत्यन्त शोचनीय दशा देखकर वह घबरा उठे। सबसे बड़े होने के कारण परिवार का समस्त भार आप के ही कन्धों पर आ गिरा। एक ओर धन का अभाव, दूसरी ओर परिवार की जिम्मेदारियाँ और तीसरी ओर संगीत सीखने की प्रबल इच्छा। इन समस्याओं ने भट्ट जी को झकझोर कर रख दिया, किन्तु उन्हें बाद में रायबरेली के राजा साहब द्वारा सहायता प्राप्त हुई, जिन्होंने भोलानाथ जी के गाने से प्रसन्न होकर उन्हें पुरस्कार में 20 रूपये प्रदान किये। यह रूपया अपने भाई–बहनों के पास भेजकर भट्ट जी अपने मामा पं० श्यामसुन्दर भट्ट के पास 'ख्याल' सीखने के लिये चल दिये। मामा ने इन्हें बड़े प्रेम से शिक्षा प्रदान की। यहाँ भोलानाथ जी ने संगीत का पर्याप्त अभ्यास भी किया।

भोलानाथ जी को पता चला कि कलकत्ते में अनकों गुणी संगीतज्ञ हैं अतः आप कलकत्ते की ओर चल दिये। मार्ग में इन्हें बहुत सी कठिनाईयों का भी सामना करना पडा, भाग्यवश आपके पिता के परम मित्र सुप्रसिद्ध सरोदवादक उस्ताद करामतउल्ला मिल गये। उन्होंने उन्हें 'बेचा बाबू' नामक रईस के यहाँ संगीत गोष्ठी में आमंत्रित किया। रात्रि के समय बेचा बाबू के निवास स्थान पर कुशल गायकों–वादकों ने अपनी कला का प्रदर्शन किया अन्त में भोलानाथ जी को भी अपनी कला प्रदर्शन करने का अवसर मिला इन्होंने एक ऐसा कठिन राग प्रारंभ किया जिसे सभी पहचानने में असमर्थ रहे। सब लोगों ने बिना किसी अड़चन के ही इनका लोहा मान लिया। बेचा बाबू ने 400 रू० विदाई के रूप में देकर भोलानाथ जी को विदा किया। भट्ट जी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा इन्होंने शीघ्र ही अपने परिवार को बुलवा लिया। कलकत्ते में भोलानाथ जी का अच्छा आदर–सत्कार होने लगा। परन्तु इन्हें अभी तक अपनी विद्या से सन्तोष नहीं प्राप्त हुआ था। कलकत्ते के प्रसिद्ध गायक मिट्ठू खाँ से इन्होंने बहुत कुछ सीखा एक दिन भोलानाथ जी की भेंट रामपुर रियासत के दरबारी गायक उस्ताद वजीर खाँ से हो गई। थे। ख्याल गायकी के सर्वश्रेष्ठ गायकों में आपका स्थान था। एक बार ये भोलानाथ जी के पिता से मिलने भी आ चुके थे। वजीर खाँ ने अपने

खानदान की बहुत सी "चीजें" प्रदान की और अभ्यास करने का ढंग भी बताया। प्रसिद्ध हारमोनियम वादक श्री गनपत भैया से भी भोलानाथ जी ने शिक्षा प्राप्त की। गनपत भैया के शिष्य श्री श्यामलाल जी ने इन्हें ठुमरी की शिक्षा प्रदान की। दतिया के उस्ताद विलास खाँ से भी कुछ समय तक आपने सीखा। भट्ट जी ने उसके पश्चात् गायन के क्षेत्र में आश्चर्यजनक ख्याति प्राप्त की और इनके कार्यक्रम बड़े संगीत सम्मेलनों तथा आकाशवाणी के विविध केन्द्रों से होने लगे। दुर्भाग्यवश इन्हें संग्रहणी की बीमारी हो गई जिससे घबराकर यह प्रयाग चले आये और स्वामी बिहारीदास जी के शिष्य हो गये। स्वामी जी इनसे इतने प्रसन्न रहते थे कि चिरसमाधि लगाने के पूर्व वह अपनी सम्पत्ति भोलानाथ जी को दे गये और आदेश दे गये कि प्रयाग छोडकर कहीं न जाये। स्वामी जी की आज्ञानुसार इन्होंने प्रयाग में ही जीवन पर्यन्त रहकर यहाँ अनेक शिष्यों को तैयार किया तथा अनेक विद्यार्थियों को उच्चकोटि का कलाकार बना दिया। जिनमें राजाबनेली, श्रीमती लीला कारवाल, श्रीमती माणिक वर्मा, पं० शंकरलाल मिश्र, श्री महेश नारायण सक्सेना तथा बंबई के श्री बी०आर०देवधर आदि प्रमुख हैं।

भट्ट जी के पास तबले के बोलों का भी सुन्दर संग्रह है, इन्होंने मित्रता के रूप में प्रयाग के सुप्रसिद्ध तबला वादक प्रो० लाल जी श्रीवास्तव को भी कुछ बोल प्रदान किये हैं।

लखनऊ

सुरेन्द्र शंकर अवस्थी :

डॉ० सुरेन्द्र शंकर अवस्थी लखनऊ के एक उत्कृष्ट गायक, संगीत शास्त्रज्ञ, शिक्षक एवं कुशल प्रशासक के रूप में देश भर में विख्यात है। आपका जन्म 20 जुलाई 1929 ई० को सुमेरपुर जिला उन्नाव (उत्तर प्रदेश) में हुआ। आपने एम०ए० (हिन्दी, अर्थशास्त्र), डॉक्टर ऑफ म्यूजिक, संगीत प्रवीण (गायन), संगीत प्रभाकर (सितार) आदि उपाधियाँ अर्जित की है। पद्मभूषण उस्ताद अमीर खाँ के आप प्रमुख शिष्य हैं। आपकी

पुस्तक **'ए क्रिटिक ऑन हिन्दुस्तानी म्यूजिक'** पर्याप्त चर्चा का विषय रही है। इसके अनेक विद्धतापूर्ण लेख विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये हैं। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों की विभिन्न समितियों के आप सम्मानित सदस्य है। आकाशवाणी के प्रथम श्रेणी के कलाकार तथा संगीत सम्मेलनों के लोकप्रिय गायक होने के साथ ही आपने विभिन्न रागों की अनेक उत्तमकोटि की बंदिशों की भी रचना की है। सम्प्रति आप भातखण्डे हिन्दुस्तानी संगीत महाविद्यालय, लखनऊ के प्रधानाचार्य पर कार्यरत है।

श्री पी०एन० चिंचोरे :

श्री प्रभाकर नारायण चिंचोरे का जन्म 18 सितम्बर 1918 को इन्दौर (मध्य प्रदेश) में हुआ। गायन की प्रारंभिक शिक्षा श्री गोपाल राव जोशी से प्राप्त करने के उपरान्त आपने मैरिस म्यूजिक कॉलेज लखनऊ में डा० रातनजंकर के सानिध्य में सतत् नौ वर्षों तक संगीत साधना कर वर्ष 1944 ई० में **'संगीत निपुण'** की सर्वप्रथम उपाधि तथा ख्याल गायन में स्वर्ण पदक प्राप्त किया। डाटिंगटन हाल टाटेनस, साउथ डेविन की फेलोशिप (1952) के अन्तर्गत पाश्चात्य संगीत का विशेष अध्ययन किया। मैरिस म्यूजिक कॉलेज लखनऊ में सीनियर टीचर, शांति निकेतन तथा वनस्थली विद्यापीठ में संगीत विभागाध्यक्ष, माधव संगीत महाविद्यालय–ग्वालियर तथा शासकीय संगीत महाविद्यालय इन्दौर के प्रधानाचार्य एवं इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ के उपकुलपति रहे। आपने जहाँ पाश्चात्य ऑपेरा की भाँति रागबद्ध गीतनाट्यों की अभिकल्पना कर अधुना, भरत, सिद्धार्थ, स्मृति विभ्रम, वर्षामंगल आदि अनेक संगीत रूपकों का जहाँ निर्देशन किया है वहीं जाति–प्रबन्ध, ख्याल, ध्रुपद, टप्पा का रचना शास्त्र एवं उनका क्रमिक विकास विषयक शोध कार्य भी किया है। **'भातखंडे स्मृति ग्रंथ'**, **'गीत संग्रह'**, **'भरत-भाष्य'** तथा **'राजा भैया पूँछवाले'** आपके द्वारा प्रकाशित प्रमुख ग्रंथ है।

ी अजीत सिंह पेंतल :

श्री अजीत सिंह पेंतल देश के युवा गायकों में प्रतिष्ठित स्थान रखते हैं। तखंडे महाविद्यालय के नियमित छात्र के रूप में **'संगीत निपुण'** की उपाधि प्राप्त रने के उपरान्त आपने स्व० उस्ताद अमीर खाँ साहब से ख्याल गायकी का गहन शिक्षण प्राप्त किया है। विदेशों में भी आपके गायन के अनेकों कार्यक्रम हो चुके हैं।

ो० यू०एस०कोचक :

प्रो० उदयशंकर कोचक एक वरिष्ठ संगीत शिक्षक एवं संगीत शास्त्रज्ञ के रूप में देश भर में सुविख्यात है। आपने डा० एस०एन० रातनजंकर के निर्देशन में लगभग सात वर्षों तक संगीत साधना करने के साथ ही लखनऊ विश्वविद्यालय के फिजिक्स विभाग में **'एकाउस्टिकल इम्प्रूवमेंट्स ऑफ इण्डियन म्यूजिकल इन्स्ट्रूमेन्टस्'** विषय पर शोधकार्य किया है। आप 30 वर्षो तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संगीत विभागाध्यक्ष रहे हैं तथा आपके चार वर्षों के लिये यू०जी०सी० फैलोशिप भी प्राप्त हो चुकी है। आप अखिल भारतीय स्तर के अनेक संगीत सम्मेलनों, संगोष्ठियों व कार्यशालाओं के संयोजकों तथा अध्यक्ष रह चुके हैं, साथ ही लगभग 50 नाटकों को भी मंचित कर चुके है।

प्रो० अमरेश चन्द चौबे :

प्रो० ए० सी० चौबे ने डॉ० रातनजन्कर के मार्गदर्शन में भातखंडे संगीत विद्यापीठ से **'संगीत निपुण'** की उपाधि प्राप्त करने के साथ ही लखनऊ विश्वविद्यालय से एम०ए० की उपाधि भी प्राप्त की है। परिमार्जित गायक तथा शिक्षक होने के साथ ही आप संगीत संबंधी लेखन से भी सतत् जुड़े रहे हैं। भातखंडे जी रचित विशाल साहित्य को हिन्दी भाषियों को उपलब्ध कराने की दिशा में आप विशेष रूप से उद्योगरत रहे हैं। भातखंडे स्मृति ग्रंथ के सम्पादन में भी आपका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के स्थापना काल से ही आप उसके शिक्षक परिवार में आ गये थे तथा आजकल आप यहाँ प्राध्यापक एवं गायन विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत हैं।

श्री कृष्ण कुमार कपूर :

शास्त्रीय एवं सुगम संगीत में समान रूप से दक्ष श्री कृष्ण कुमार कपूर ने भातखंडे संगीत विद्यापीठ से, **'संगीत निपुण'** तथा कानपुर विश्वविद्यालय से एम०ए० (गायन) की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। अनेक संगीत सम्मेलनों में गायन के सफल कार्यक्रम प्रस्तुत करने के अलावा आपने म्यांमार व नेपाल की सांगीतिक यात्राएँ भी की हैं। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के आप नियमित कलाकार है तथा संगीत सम्बन्धी स्फुटलेखन के अतिरिक्त सरस वाग्गेयकार भी है। वर्तमान में आप भातखंडे संगीत महाविद्यालय लखनऊ में सहायक प्राध्यापक (गायन) के पद पर कार्यरत हैं।

दशम् अध्याय

गायन शैलियों के सन्दर्भ में लोक संगीत का महत्व

गायन शैलियों के सन्दर्भ में लोक संगीत का महत्व

उत्तर प्रदेश की भूमि पर संगीत के प्रति विशेष आदर, प्रेम एवं लोकजीवन, लोकसंस्कृति को संगीत में समाविष्ट करने की परंपरा प्राचीनकाल से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है जिसके कारण लोकसंगीत में प्रचलित अनेक शैलियाँ यहाॅ के विद्वानों के सत्प्रयास से शास्त्रीय संगीत की परिधि की गरिमा से अभिभूत होते हुए न केवल प्रतिष्ठित हुई, अपितु उन्होंने अपना संगीत जगत में विशेष स्थान बनाया।

उत्तर प्रदेश में लोकसंगीत की अनेक विधाएँ प्रचलित हैं जिसमें कजरी, चैती, सावन, रसिया, फाग व पुरबी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ पर लोकसंगीत की धारा प्राचीनकाल से ही प्रवाहित हो रही है जिसमें बनारस और मिर्ज़ापुर इन स्थानों का अग्रणी स्थान रहा है, जहाँ के गायक–गायिकाओं ने लोकसंगीत को शास्त्रीय संगीत के रागों से स्पर्श करते हुये उसे उच्चस्तरीय संगीत की गरिमा प्रदान की। यहाँ पर मैं इस बात की ओर अवश्य ध्यान इंगित करना चाहूँगी कि वास्तव में उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा इतनी विस्तृत, सहृदयी, उदार, समभावदृष्टि पूर्ण है कि उसने अभिजात संस्कृति के साथ–साथ लोकसंस्कृति से प्रभावित संगीत को भी अपनाया और उसे पल्लवित, विकसित होने का अवसर दिया।

मैं यहाँ पर कुछ क्षणों के लिये विषयांतर करते हुये ये स्पष्ट करना चाहती हूँ कि आज शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत प्रचलित ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा आदि गान–भेद मूलतः लोकसंगीत के अंग रहे हैं जो कालांतर में परिमार्जित एवं परिष्कृत होकर **'शास्त्रीय'** स्वरूप प्राप्त करते गये। जैसा कि हम जानते हैं कि मानव संस्कृति का विकास प्राचीन काल से ही दो मुख्य धाराओं में विभक्त रहा है। इनमें से पहली जनसाधारण की अर्थात् लोक–संस्कृति और दूसरी विशिष्ट जनों की अर्थात् अभिजात संस्कृति है। लोक–संस्कृति स्वाभाविक उन्मुक्त वातावरण में विकसित होने के कारण,

मानव–प्रकृति के अधिक निकट है। इसीलिये मानव जाति के अभ्युदय काल में केवल लोक–संस्कृति ही प्रधान थी। बाद में समय–समय पर इसी लोक–संस्कृति का कुछ भाग परिमार्जित होकर विशिष्ट जन सम्मत अभिजात संस्कृति का अंग बनता गया। यह प्रक्रिया आदिम युग से चली आ रही है। अतः स्वाभाविक गुणों के आधार पर इन संस्कृतियों को क्रमशः प्रकृत और परिष्कृत कहा जा सकता है। कला के ये प्रकृत और परिष्कृत रूप ही आगे चलकर संगीत में क्रमशः **'देशी'** और **'मार्ग'** विभेद के कारण बने। इसलिये परवर्ती युग में कई गान–भेद शास्त्रीय स्वरूप प्राप्त करते गये। किन्तु कुछ गान–शैली ऐसी भी रही है जो समय–समय पर परिष्कृत होते रहने पर भी अपने उन्मुक्त स्वभाव के कारण शास्त्रीयता की परिधि में अधिक सीमित न हो सकी और समय–समय पर संगीत के लोक और शास्त्रीय दोनों रूपों का उनमें समन्वय होता रहा और दोनों से ही उसका संबन्ध बना रहा जैसे ठुमरी, दादरा, इत्यादि। इसलिये इन्हें शास्त्रीय और लोकसंगीत के बीच की कड़ी मानते हुये प्रायः **'उपशास्त्रीय'** या **'अर्धशास्त्रीय'** गीतभेद के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। ठुमरी विधा के गीतों में विशेषकर ठुमरी, होली और दादरा की गणना की जाती है। इन गीतों के अतिरिक्त यद्यपि रसिया, चैती, सावन, कजरी, पुरबी जैसे लोकगीतों और ठुमरी की गान शैली में भी परस्पर कुछ एकरूपता है और कुछ अंशों में ठुमरी पर इनका प्रभाव भी है परन्तु उनका स्थान लोकसंगीत के अन्तर्गत माना जाता है। उन्हें अभी तक संगीत क्षेत्र में परिष्कृत और शिष्टजन–सम्मत स्थान नहीं मिल सका।[1]

जहाँ तक रागों की बात है तो ठुमरी धुन में जो राग प्रयुक्त होते हैं उनमें से अधिकांशतः विभिन्न क्षेत्रीय लोकधुनों से प्रभावित है। शास्त्रीय दृष्टि से ये लोकधुनें साधारणतया झिंझोटी, गारा, पीलू, बरवा, पहाड़ी, आसा, धानी, मांड, खमाज, तिलक कामोद, काफी, जंगला, भैरवी, बिहारी, सिंध, जोगिया इत्यादि रागों में होती है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत इस लोकधुन की रूपरेखा साधारणतया तिलक कामोद राग में है। इस लोकधुन से तादाम्य रखने वाली अनेक ठुमरियों में से एक प्रसिद्ध ठुमरी इस प्रकार है:–

1. ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ, शत्रुघ्न शुक्ल–पृष्ठ 62

ठुमरी

स्थाई (ताल दीपचंदी, चाँचर-14 मात्रा)

प़	प़	–	नि़	–	नि़	–	नि़	सा	–	^रे ग	सारे	ग	म
अ	ब	ऽ	की	ऽ	सा	ऽ	ज	न	ऽ	ऽ	ऽऽ	घ	र
X			2				0			3			
^म ग	–	–रे	सा	–	–	–	(सा)	–	–	नि़	–	–	–
आ	ऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	जा	ऽ	ऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			

अन्तरा

^म रे	रे	–	म	–	म	–	प	–	–	प	–	प	–
उ	ड़	ऽ	जा	ऽ	रे	ऽ	का	ऽ	ऽ	गा	ऽ	ले	ऽ
X			2				0			3			
म	म	–	प	–	–	प	म	पध	प	म	ग-रे	सा	–
जा	तू	ऽ	यो	ऽ	ऽ	सँ	दे	ऽऽ	स	वा	ऽऽऽ	ऽ	ऽ
X			2				0			3			

अतएव ठुमरी में प्रयोग होने वाले रागों के विकास में जहाँ एक ओर लोकसंगीत की धुनों और लोक गायक–गायिकाओं की देन रही है, वहाँ दूसरी ओर शास्त्रीय रागों और शास्त्रीय परंपरा के संगीतज्ञों का भी बहुत बड़ा योगदान रहा है। इसी के परिणामस्वरूप ठुमरी का संबंध लोकसंगीत के साथ प्रबुद्धवर्गीय संगीत से भी बना रहा है।

लोक संगीत की धुनों का माधुर्य समय–समय पर उच्चकोटि के प्रतिष्ठित संगीतज्ञों को भी अपनी ओर आकर्षित और अभिभूत करता रहा है। फलतः इन धुनों को उन संगीतज्ञों ने स्वकल्पना से सँवार, सुधार और निखार कर शास्त्रीय रूप दिया। इस संदर्भ में उत्तर प्रदेश की काशी नगरी और मिर्ज़ापर का नाम अवश्य उल्लेखीय है। बनारस में ऐसे अनेक गायक–गायिकाएँ हुये है जिन्होंने शास्त्रीय विधाओं के साथ लोकगीत की विधाओं को शास्त्रीयता का पुट देते हुये उसमें दक्षता हासिल की। जिनमें

से पं० महादेव प्रसाद मिश्र, रसूलन बाई, सिद्धेश्वरी देवी, गिरिजा देवी, सविता देवी, श्री गणेश प्रसाद मिश्र (भद्दू जी), छन्नू लाल मिश्र, बागेश्वरी देवी एवं नवोदित गायिका श्रीमती पूर्णिमा चौधरी के नाम विशेष उल्लेखनीय है जो कि शास्त्रीय संगीत की विधाओं के साथ–साथ उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोकसंगीत की विधाओ जैसे–चैती, कजरी, सावन, पुरबी आदि को कलापूर्ण, भावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने में निपुण है और जिन्होंने उत्तर प्रदेश की पारंपरिक संगीत कला को जीवंत बनाये रखते हुये उसे विश्व पटल पर गरिमा युक्त स्थान दिलाने में अपना अमूल्य योगदान दिया हैं। वनारस में तो प्राचीनकाल से ही शास्त्रीय संगीत के साथ–साथ लोकसंगीत की परंपरा अविरल रूप से चली आ रही है जिसके अन्तर्गत विभिन्न सांस्कृतिक समारोहों की परिकल्पना की गई जहाँ **'बुढ़वा मंगल'**, **'गुलाब बाड़ी'** एवं ऋतु परिवर्तन से संबंधित अनेक उल्लासमय उत्सव मनाने की कल्पना साकार हुई जिसमें यहाँ के रईसों और कलाकारों ने भरपूर सहयोग दिया।

बुढ़वा मंगल :

यह संगीत मेला होली के बाद पड़ने वाले प्रथम मंगलवार को मनाया जाता था। इस संगीत मेले में सर्वप्रथम समयानुरूप ख्याल प्रसुत करने के बाद होली और अन्त में चैती गायन से रागं बॉधा जाता था। होली और चैती के सार्थक बोलों पर नृत्यांगनाएँ भावनृत्य करती थी। इस समारोह की एक खास विशेषता यह थी कि यह आयोजन गंगा की गोद में बड़ी–बड़ी सुसज्जित नावों पर संपूर्ण रात्रि चलता था। इस संगीत मेले में कलकत्ता, लाहार के संगीत प्रेमी रईस भी शामिल होते थे।

गुलाब बाड़ी :

होली पर्व के बाद चैत्र मास में जब गुलाब की मनमोहक खुशबू से वातारण सुगन्धित होने लगता था तो गुलाब बाड़ी संगीत समारोह में चैती गायन की महफिल के आयोजन के लिये काशी के रईसों में होड़ लग जाया करती थी। संभ्रांत नागरिकों के

भवन के विशाल आँगन में गुलाबबाड़ी का आयोजन होता था, जिसमें चारों और गुलाब के फूलों की सजावट से आँगन–बरामदा जीवंत हो उठते थे।

इस प्रकार बनारस के कलाकारों और रईसों ने भरपूर योगदान देकर ऐसे आयोजनों की परंपरा को सक्रिय बनाये रखा और बनारस में संगीत की सरसमय धारा को गतिमान बनाये रखा और कालांतर में ऐसे आयोजनों की परिकल्पना धीरे–धीरे क्षीण होती गई। किन्तु वर्तमान समय में पुनः इस परंपरा को पुनर्जीवित करने के प्रयासक्रम में **'गुलाबबाड़ी'** कार्यक्रम विगत् कुछ वर्षो से आयोजित किया जा रहा जिसमें 'इलाहाबाद' नगरी की भूमिका प्रमुखतया सक्रिय हो रही है। बनारस के अतिरिक्त लोकसंगीत क्षेत्र में मिर्ज़ापुर की भूमिका भी अद्वितीय रही है, जहाँ वर्तमान समय की प्रसिद्ध लोकगायिका श्रीमती उर्मिला श्रीवास्तव का नाम विशेष उल्लेखनीय है जो मिर्जापुरी शैली में लोकगीत की विधाओं की प्रस्तुति में कुशल है।

ब्रज में लोकसंगीत

संगीत की जन्मस्थली ब्रज–वसुन्धरा न केवल आध्यात्मिक चिन्तनधारा का स्थल रही है अपितु साहित्य, संगीत तथा कला को भी समान रूप से उसने प्रेरणा दी है, नयी दिशा दी है, नया जीवन दिया है। लोकसंस्कृति के सन्दर्भ में यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही समृद्ध रही है। ब्रज के लोकगीतों का भारतीय लोकसंगीत में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। ब्रज के लोकसंगीतों का शास्त्रीय संगीत को भी अपूर्व योगदान है। **मल्हार** नामक शास्त्रीय राग ब्रज के मल्हार नामक ऋतु गीत से निष्पन्न है। ब्रज के लोकसाहित्य की भाषागत संगीतमयता एक अनोखा सौरस्य उत्पन्न करती है। राधा–कृष्ण की लीलास्थली होने के कारण ब्रज का लोकसंगीत इनकी कथाओं से भी सम्बद्ध है, जो राष्ट्रव्यापी पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित है। इसमें कृष्ण और राधा सामान्य नायक–नायिका के रूप में चित्रित हैं जिससे लोकतत्व लुप्त नही होने पाया है।

प्राचीन काल में ब्रज भारतीय संस्कृति और सभ्यता की एक महत्पूर्ण विरासत लिये हुये अद्यावधि वर्तमान है। इसमें लोकगीत की जो अक्षुण्ण परंपरा मिलती है, वह अपनी धारावाहिकता में चिरकाल से संकलित होती हुई जन–भावनाओं की अपार राशि समेटे हुये है। ब्रज के लोकगीतों में शैलीगत वैविध्य बहुत मिलता है। इन गीत शैलियों का प्रभाव अन्य समीपवर्ती भाषाओं की गीत शैलियों पर न पड़ा होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त ब्रज के लोकगीत–साहित्य का मध्यकाल में इतना प्रचुर प्रयोग होने लगा था कि इसमें और शिष्ट पद्य साहित्य में भेद करना कठिन हो गया था। 'ब्रज' अपनी सुकोमल और संगीतमय पदावली के लिये इतनी विख्यात हुई कि सुदूर बंगाल में **'ब्रजबुलि'** नाम से प्रतिष्ठा प्राप्त की और वहाँ इसमें भक्ति गीतों की रचना हुई है। इतना ही नहीं ब्रज के लोकसंगीत के प्रमुख वाद्य झाँझ, करताल, तानपूरा और पखावज आदि का भी देश में खूब प्रचार हुआ और इनके साथ–साथ कृष्णभूमि भी पल्लवित तथा पुष्पित हुई। इस तरह हम कह सकते हैं कि 'ब्रज लोकगीत' ने राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय संगीत को विविध योगदान दिये हैं। जनता की भावनाओं, आकांक्षाओं और लोकप्रवृत्तियों की दृष्टि से भी ब्रज लोकगीत का भारतीय लोकसंगीत में प्रशस्त स्थान है। शास्त्रीय लय एवं सुर को इसने अपनी भाषा की सहज संगीतमयता और प्रवाह में उतार लिया है इसी कारण अन्य बोलियों में निबद्ध लोकसंगीत, संगीत को अलंकृत करने के लिये इससे सदैव प्रेरणा प्राप्त करते रहेंगे।

यहाँ के **'फाग'** और **'रसिया'** ब्रज लोकसंगीत के तो लोकप्राण है। अब मैं ब्रज लोकसंगीत की कुछ विकसित संगीत परंपराओं के बारे में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालने का प्रयास करूँगी–

रास :

व्याकरण की दृष्टि से रास शब्द 'रस' धातु में **'धञ्'** प्रत्यय के संयोग से बना है। 'रस' धातु का प्रयोग शब्द, ध्वनि, क्रीड़ा भेद और कोलाहल आदि के अर्थ में होता है।[1] शब्दार्थ से स्पष्ट होता है कि रास एक क्रीड़ा है जिसमें उच्च स्वर से गान एवं

---

1. शब्द स्तोम महानिधि, पृष्ठ– 335 तथा वाचस्पत्यम्, षष्ठभाग–पृष्ठ 4807 (6)

नृत्य सन्निहित है। 'कई विद्वान रास की उत्पत्ति 'रास' धातु से मानते हैं।[1] रास के मौलिक तात्पर्य से स्पष्ट है कि इसके स्वरूप का विकास समूह नृत्य के रूप में हुआ जिसके प्राचीन रूप हल्लीसक, रासक, छालिग्य, मेलक, चर्चरी, फाग आदि में देखे जा सकते हैं। प्रतीत होता है कि इन रूपों से प्रभाव ग्रहण कर मध्यकाल में जो रास का स्वरूप ब्रज में निर्धारित हुआ वह कथ्य में तो श्रीकृष्ण और राधा से जुड़ा रहा किन्तु शिल्प में लोक के साथ–साथ शास्त्रीय वैशिष्ट्य को भी सहेजने लगा। फलतः वर्तमान में ब्रज रास का कत्थक एवं भरतनाट्यम जैसे शास्त्रीय नृत्यों से भी साम्य है।

रासलीला के आरंभ में मंगलाचरण के पश्चात् ध्रुपद गान आवश्यक समझा जाता है किन्तु रासलीला की ध्रुपद गायकी स्वीकृत ध्रुपद गायकी से कुछ रूपों में भिन्न है क्योंकि नित्य रास की भूमिका के रूप में ही यह गाये जाते हैं। इसमें सीधे पद आरंभ करके केवल लयकारी का चमत्कार पूर्ण प्रयोग किया जाता है। इसके बाद किसी भी भक्त द्वारा रचित पद से श्रीकृष्ण व राधा जी की आरती सखीगण करती हैं तदुपरांत सखी परिकर द्वारा प्रशस्ति गान करने के उपरांत रासनृत्य आरंभ होता है। इसके साथ प्रयुक्त वाद्यों में हारमोनियम, तबला, झाँझ, मंजीरा तथा झालर प्रमुख है।

मण्डला:

मंडला, ब्रज का एक धार्मिक अनुष्ठान है जो रात्रिजागरण के रूप में किसी भी ऋतु या किसी मनौती के सफल होने के उपलक्ष्य में मंडला गायकों को आमंत्रित करके कराया जाता है। एक कोरे मिट्टी के कलश को मध्य में रखकर उस पर दीप प्रज्ज्वलित किया जाता है और उस घट के आगे गोल मंडल बनाकर मंडला गायक बैठते हैं तथा पहले भेंट गायन होकर फिर मंडला में विभिन्न धार्मिक रचनाओं का गायन होता है जो ऋतु व भावना के अनुसार विभिन्न रागों व तालों में निबद्ध होती है। मंडला की समाप्ति पर सभी को प्रसाद बाँटा जाता है।

---

[1] D.R. Manakad : The types of Sunskrit Drama, पृष्ठ–143

मंडला मुख्यतः वृत्त, घेरा, मंडल के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला समूहवाची शब्द है। 'मंडला गायन' 'हवेली संगीत' से प्रभावित तथा अनुप्राणित होते रहे। इसमें शास्त्रीय संगीत की गरिमा तथा लोक वाद्यों की गमक एक साथ मिलती हैं शास्त्रीय संगीत को घरानों की घुटन से बाहर निकालकर लोकमंच पर स्थापित करने में मण्डला निःसन्देह कारगर सिद्ध हुये। है। मण्डला की गायन विधा जहाँ लोकभावना का स्पर्श करती रही वहीं संगीत की विविध शैलियों का विकास भी करती रही। अगर इसे लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत का सेतु कहें तो अतिश्योक्ति न होगी।

स्वाँग :

ब्रज की स्वाँग परंपरा आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व कामाँ से ब्रज में विकसित हुई हैं। होली के अवसर पर अत्यंत धूमधाम से निकलने वाली स्वाँग या डंडेशाही की परंपरा लोकगायन के अखाड़ों की अत्यंत सुप्रसिद्ध धरोहर रही है।

सरल जनता में किसी बात को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने हेतु ही स्वाँग की रचना होती है। इस प्रकार से मात्र चित्रोद्घाटन ही नहीं होता अपितु दूसरों को पर्याप्त मनोरंजन भी प्रदान करता है स्वाँग ग्रामों में अत्यन्त लोकप्रिय हैं। स्वाँग **अनुकरण** का ही परिवर्तित–परिवर्द्धित रूप है। स्वाँग में प्रायः नकल, हास्य विषय को लेकर की जाती है। इसकी परिधि में धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं स्थानीय चरित्रों का चित्रण होता है। इनका आधार सत्य और अर्धसत्य प्रेमगाथाएँ से भी हुआ करती है।"[1] स्वाँग में सर्वप्रथम निरगुन गाया जाता है जिसके द्वारा देवी–देवताओं का मंगलाचरण करते हैं, इसे भेंट कहते हैं, तदुपरान्त परिचय देता है । किसी भी स्वाँग के अखाड़े को **पाद्याजी** कहते हैं।[2]

---

1 डॉ० सोमनाथ गुप्तः 'हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास', पृष्ठ–16

2 डॉ० सत्या गुप्ता . 'खड़ी बोली का लोक नाट्य', पृष्ठ– 313

सांगीत :

सांगीतों में संगीत पद्य की प्रधानता होती हैं। सांगीत में रामायण तथा पुराणों के महापुरूषों के जीवन की घटनाओं की लीलाओं का विषय बनाया जाता है। सांगीत में लौकिक वीरों और प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन की घटनाओं का प्रदर्शन किया जाता है।[1]

सांगीतों में गीत, नृत्य और अभिनय की त्रिवेणी का संगम होता है। गायक के कंठ से निःसृत राग–रागिनी को वाद्य एवं संगीत प्रभावशाली बनाते हैं। सांगीत, शास्त्रीय संगीत एवं लोकधुनों के माधुर्य से परिपूर्ण होता है। जैसे बहरे तबील, लावनी, लंगड़ी, दोहा, कव्वाली, दौड़, चौबोला, दादरा, ठुमरी, ग़ज़ल आदि।

भगत:

भगत वस्तुतः वृन्दावन की ही उपज है। यद्यपि उत्तर भारत में इसका प्रचलन प्राचीन काल से ही रहा है परन्तु वृन्दावन की भगत स्वामी हरिदास जी के संगीत से प्रेरणा प्राप्त कर राधाकृष्ण का गान करती रही है अथवा उसमें भगवान के अन्य अवतारों और भक्तों के चरित्र ही अधिक लिखे गये हैं। यहीं से इस भगत साहित्य के आदर्श रूप का प्रचार–प्रसार उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में हुआ प्रतीत होता है। भक्तों के चरित्रों के दिग्दर्शन के कारण ही इस लोक नाट्य विधा का नाम भगत हुआ, ऐसी विद्वानों की मान्यता है।[2]

झूलना :

ब्रज क्षेत्र का झूलना लोकगायकी की एक विधा का नाम है, जिसमें भाँति–भाँति के छन्दों का समावेश होता है। ब्रजक्षेत्र के झूलना आदि में एक विषय–वस्तु का परिचयात्मक दोहा गाया जाता है। इसके बाद भिन्न छन्दों में कड़ियों का प्रयोग होता है, यथा–

---

1. वेदपाल खन्ना : 'हिन्दी नाट्य शास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन', पृष्ठ –17
2. आगरे का लोक नाट्य भगत 'भारतीय साहित्य', अप्रैल–जुलाई, 1960, पृष्ठ–37

दोहा- *काली के चरनन इतर, छिरक रहे चहुँ ओर।*

राय चमेली मोतिया फूल रहे सहजोर।।

झूलना- *फूल रहे सहजोर मोर कोयल करती शोर,*

और घटन की घनघोर। भवन बना अनौखी चाल का।

सुआ चोला अंग, संग जोगिन तुरंग,

बाजे ढप डमरू मिरदंग, शब्द मोचंग खरताल का।

सिंह पै सवार, गल धार रही हार, लिये दस्तों में तलवार,

माथे बिन्दा चन्दन लाल का।

कान्हा तेरा दास, आया करके पूरन आस,

लज्जा रखौ बारहमास, दुर्गे जय जय देवी कालका।[2]

ढोला :

ब्रज प्रदेश में अनेक लोकगाथाएँ गायी जाती हैं जिसमें ढोला का महत्वपूर्ण स्थान है। यह ऐतिहासिक पौराणिक गाथा वीर **'नल'** के जीवन पर आधारित है। वास्तव में ढोला ब्रज का एक लोक महाकाव्य है, जिसमें जिसमें अट्ठारह मैदान, जो साहित्यिक भाषा में सर्ग, अध्याय या काण्ड कहे जाते हैं, संग्रहीत है।

तालबन्दी :

तालबन्दी गायन, ब्रज प्रदेश के भू–भाग, भरतपुर जिले में प्रचलित 'जिकड़ी' तथा 'दौसा' के आसपास के ग्रामीण अंचलों में प्रचलित **'लावणी'**, **'कटावणी'** लोकगायन शैली का संशोधित रूप दिखाई देता है, जिसमें विद्वान गायकों द्वारा शास्त्रीय संगीत का समावेश कर उत्थान किया गया प्रतीत होता है। तालबन्दी संगीत दंगलों में राग–रागिनियों के शास्त्रीय स्वरूप, निर्धारित समय चक्र एवं ताल को प्रधान महत्व दिया जाता था।

---

1. डॉ रमेश चन्द्र मिश्रः ब्रजलोक (लेख), राम नारायण अग्रवाल, अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ– 137

रसिया :

रासलीलाओं में रसिया गायन पद्धत्ति अत्यंत प्राचीनकाल से प्रचलित है। अष्टछाप के कवियों में श्री सूरदास, नन्ददास आदि कवियों के पदों का गायन रासलीला में अनवरत् रूप से होता रहा है और वर्तमान में भी है। सूरदास जी के अनेक पदों में लोकगीतों के समान ही आनन्द प्राप्त होता है। इसी कारणवश सूरदास के पदों को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कृष्णलीला गायन की पूर्व परंपरा की कडी स्वीकार किया है।[1]

रसिया की एक अन्य दूसरी परंपरा बैठक एवं संगीत गोष्ठियों मे भी देखने को मिलती है। रसिया लोकसंगीत का पारंपरिक स्वरूप 16वीं एवं 17वीं शताब्दी के मध्य से दिखाई देता है। संगीतज्ञों की अवधारणा है कि रसिया ध्रुपद घराने की चीज़ है। रसिया ब्रज के लोक संगीतों में अपने वैशिष्ट्य के कारण प्रसिद्ध व लोकप्रिय है जो सभी अवसरों पर अपना प्रभाव डालने की क्षमता रखता है। ध्रुपद की शैली को संभवतः लोकप्रचलित रसिया का शास्त्रीय संस्कार कहा जा सकता है।

तीसरी परंपरा रसिया की ही, होली का प्रमुख गीत है। होली के अनेक गीत रसिया की ढालों मे गाये जाते हैं। लोक कवि थासीराम, सरेहीराम, छीतरमल आदि कवियों के ब्रज भाषा युक्त अनेक रसिये प्रचलित हैं।

रामलीला :

ब्रज की लोकसंस्कृति में रामलीला का प्रारंभ संभवतः रासलीला के पश्चात् हुआ। जनश्रुति के अनुसार आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व मथुरा में रामलीला का आरंभ हुआ। ब्रज क्षेत्र में सर्वत्र यह उक्ति विख्यात है कि सन् 1903 में जब अंग्रेजों ने ब्रज भूमि पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया तो मथुरा में एक पुरबिया पल्टन नियुक्त हुयी। पूर्व में प्रचलित रामलीला का ब्रज में अभाव देखकर सिपाहियों को अत्यन्त क्षोभ हुआ और उन्होंने विजयादशमी के अवसर पर अपने गाँव के आसपास की रामलीला की मंडली

---

[1] रामचन्द्र शुक्ल–'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ– 209

को एकत्रित कर रामलीला का आयोजन किया और तदुपरांत रामलीला अत्यन्त लोकप्रिय हुई। रामलीला में **'रामचरित मानस'** की चौपाईयों को विविध प्रकार की लोकधुनों में बाँधकर गाया जाता है जिसके साथ हारमोनियम, ढोलक, नक्कारा आदि वाद्यों का प्रयोग किया जाता है।

ख्याल–लावनी :

यद्यपि ख्याल–लावनी शैली की उत्पत्ति और विकास का कोई ऐतिहासिक और प्रामाणिक लेखा–जोखा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता किन्तु यह निश्चित है कि आगरा और उसके समीप ही इस शैली का विकास हुआ है। यह शैली हिन्दी, उर्दू भाषा–भाषियों के मध्य अत्यंत लोकप्रिय हुई। देश की राजनैतिक, सामाजिक प्रगतियों का इस शैली की रचनाओं पर भी प्रभाव पड़ता रहा। यही कारण है कि हमें प्रत्येक ख्याल से दो–चार ऐसे ख्याल सुनने को मिल जाते हैं जो देश व समाज की वर्तमान स्थिति से संबंधित होंगे।

हवेली संगीत :

'पुष्टिमार्गीय' (वल्लभसंप्रदाय) वैष्णव देवालय संगीत, जिसे हवेली संगीत भी कहा गया, का उद्‌भव ब्रज में मथुरा जिले के गोवर्धन कस्बे से तीन मील दक्षिण में जतीपुरा व आन्यौर के बीच गोवर्धन पर्वत पर संवत् 1556 वि०मे० हुआ। इस संप्रदाय के सर्वप्रथम कीर्तनकार कुंभनदास जी हुये।[1] इस संगीत का गायन सेव्य ठाकुर जी (प्रतिमा) के सम्मुख होता है।

विष्णुपद :

ध्रुपद की गायकी से मिलता–जुलता ही विष्णुपद है। इसका उल्लेख वल्लभ संप्रदायी वार्ता साहित्य के अन्तर्गत मिलता है। इसमें अष्टछापी कीर्तनकारों की गेय रचनाओं को विष्णुपद कहा गया है। ग्वालियर एवं आगरा के दरबारी गायक अपने आश्रयदाताओं का यशोगान विष्णुपद में ही करते थे। मथुरा जिले के धार्मिक संगीतज्ञ' **'विष्णुपद'** की शैली में भक्ति भावना से पूर्ण रचनाओं को गाते थे।

---

1. श्री सत्यभान शर्मा : (लेख) ब्रज का हवेली संगीत, (श्री गोपाल प्रसाद व्यास, ब्रज विभव), पृष्ठ – 518

संकीर्तन :

कीर्तन संगीत वैष्णव मन्दिरों की नित्य नैमित्तिकचर्या का प्राण संस्थान है। 'कीर्तन' शब्द उसी धातु से बना है जिससे कीर्ति शब्द व्युत्पन्न हुआ है। कृतु + लृट। इसका अर्थ है **कथन** या **वर्णन** । 'स' शब्द का अर्थ हुआ ईश्वर या उसके अवतारों से संबंधित वर्णन या कथन। इससे संबंधित सांगीतिक विधा भजन है। भागवत में इसका प्रयोग इसी रूप में हुआ है।[1]

तानगायकी :

ब्रज में तान एक लोकगीत के रूप में प्रचलित है। यहाँ यह एक रूढ़ संज्ञा हो गयी है। तान का प्रचलित अर्थ है ऊँचें स्वर में सामूहिक गायन। इसे गाते–गाते ब्रजवासी आनंद विभोर हो जाते हैं। संभवतः यह प्रथा कृष्ण के समय से प्रचलित हुई। तान में एक मुखड़ा एक अन्तरा, दौड़, उड़ान और बीच–बीच में दोहा, सोरठा, छन्द, सवैया, शेर आदि का प्रयोग होता है। तानों के रचयिताओं के रूप में गोविन्द दत्त चतुर्वेदी, हरिदत्त चतुर्वेदी, श्री चन्दन जी व गणपति जी का नाम मुख्यतः प्रसिद्ध है।

होली :

होली ब्रज का एक रंग–रंगीला त्यौहार है। होली **फाल्गुन** के महीने में मस्ती के साथ गाया जाने वाला प्रमुख लोकगीत है। ब्रज की होली सदा प्रसिद्ध रही है। फाल्गुन का महीना ज्यों ही प्रारंभ होता है त्यों ही होली की धूमधाम मच जाती है। ब्रज के ग्रामीण अंचलों में लोक गायकों के दल होली संबंधी लोकगीत और ढोल बजाते हुये समूचे वातावरण को उल्लासपूर्ण बना देते हैं। ब्रज के गाँव–गाँव में होली रसिया गाये जाते हैं। ब्रज में बरसाने की होली, दाऊजी का भारत प्रसिद्ध **'हुरंगा'** आज भी अपनी परंपरा अक्षुण्ण बनाये हुये है। इस प्रकार फाल्गुन के महीने में होली रसिया अत्यंत प्रिय लगता हैं। भोजपुरी प्रदेशों में इन गीतों को **'फाल्गुन'** भी कहा जाता है। होली के अवसर पर गाँव–गाँव में यह होली गीत गूँज उठता है–

---

1 भागवत– 7,5,23

होरी रे रसिया-बरजोरी रे रसिया

आज बिरज में होरी रे रसिया।

सम्वादी भजन :

ब्रज प्रदेश के अन्तर्गत नारी भजनों के अतिरिक्त चार प्रकार के भजन रूप पाये जाते हैं– (1) संवादी भजन (2) समाजी भजन (3) धुन के भजन (4) जिकड़ी भजन।

इन चार प्रकारों में संवादी भजन और जिकड़ी भजन विशेष उल्लेखनीय है। संवादी भजन नाम इस प्रकार की शैली में मिलने वाले सम्वादों के कारण पडा है। इन भजनों में पुराण, इतिहासों से लिये गये कथानकों के पट को संवादों के ताने–बाने से तैयार किया जाता है। जिकड़ी भजन फाल्गुन–चैत्र मास से गाये जाते हैं। इनकी मंडलिया होती हैं। जिकड़ी भजनों में यों तो कोई भी विषय आ सकता है किन्तु रामचरित्र और कृष्णचरित्र के साथ पाण्डवों की जीवन–लीलाओं पर इन भजन निर्माताओं का विशेष ध्यान रहा है।

अब मैं उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोकगीत की कुछ विधाओं की स्वरलिपि प्रस्तुत कर रही हूँ:–

बनारसी चैती

(ताल दीपचन्दी-चाँचर 14 मात्रा)

बोल- यही ठाँई मोतिया हैराय गइले रामा।

कहवाँ मैं ढूंढौं ।।

स्थाई

[रे]ग	ग	–	ग	–	ग	म	मग	रे	–	ग	–	ग	म
य	ही	ऽ	ठाँ	ऽ	ई	ऽ	मोऽ	ति	ऽ	या	ऽ	है	ऽ
x			2				0			3			
म	ग	–रे	सासा	–	नि़	सा	ध़	नि़	ध़	नि़	रे	–	–
रा	ऽ	ऽय	गइ	ऽ	ले	ऽ	रा	ऽ	ऽ	मा	ऽ	ऽ	ऽ
x			2				0			3			
ध़	ध़	–	सा	–	–	रे	ग	रे	ग	सा	–	ध़	सा
क	ह	ऽ	वाँ	ऽ	ऽ	मैं	ढूं	ऽ	ऽ	ढौं	ऽ	ऽ	ऽ
x			2				0			3			

-

मिर्ज़ापुरी कजरी (ताल-कहरवा)

स्थाई

(सा)	—	नि़	ध़	नि़	रे	—	रे	रे	ग	(म)	—	रे	—	ग	—
झू	ऽ	ला	ऽ	प	ड़ा	ऽ	क	द	म	की	ऽ	डा	ऽ	री	ऽ
0				x				0				x			
रे	ग	सा	—	—	रे	रे	ग़	सा	रे	ध़	नि़	सा	—	—	—
झू	ऽ	लें	ऽ	ऽ	कृ	ष्ण	मु	रा	ऽ	री	ऽ	ना	ऽ	ऽ	ऽ
0				x				0				x			

एक नवविवाहिता दुल्हन के पितृगृह से विदाई के अवसर का एक गीत प्रस्तुत है, जिसे हजरत अमीर खुसरो ने लोकगीतों की शैली पर रचा है। यह गीत उत्तर प्रदेश ही नहीं वरन् संपूर्ण उत्तर भारत में बहुत प्रसिद्ध है और प्रायः स्त्रियों द्वारा गया जाता है–

काहे को ब्याही बिदेस रे, लक्खि बाबुल मोरे।
भइया को दीनो महल दुमहले, हमको दियो परदेस रे।
हम तो रे बाबुल बेले की कलियाँ, घर-घर माँगी जाय रे।।
हम तो रे अँगना की भोरी रे चिरैया, चुग्गी पायें उड़ जायँ रे।।
हम तो रे खूँटे की भोली रे गइया, हाँके जिधर हँक जा यँरे।।
ताख भरी मैंने गुड़ियाँ जो छोड़ी, छूटा सहेली का साथ रे।।
सोना भी दीनो रूपा भी दीनों, दीनों रतन जड़ाव रे।।
एक न दी मोरे सर की रे कंघी, सास ननद ताने मारे रे।।
नंगे-नंगे पाँव मेरा बाबुल दौड़े, समधी डोला थाम रे।।
डोली का पर्दा उठाकर जो देखा, आया पिया का गाम रे।।
अमीर खुसचरो यूँ कहे तेरा, धन धन भाग सुहाग रे।।

इस गीत की धुन (स्वरलिपि) इस प्रकार है–

(ताल चाँचर, 14 मात्रा)

स्थाई

												सा	रे
												ल	क्खि
प	–	–	म	–	पध	प	म	ग	–रे	स	–	ग़ि	–
बा	ऽ	ऽ	बु	ऽ	ऽऽ	ल	मो	ऽ	ऽऽ	रे	ऽ	ऽ	ऽ
x			2				0			3			
निप	–	–	ऩि	–	–	ऩि	सा	–	–	रे	–ग	सा	रे
का	ऽ	ऽ	हे	ऽ	ऽ	को	ब्या	ऽ	ऽ	ही	ऽऽ	ऽ	बि
x			2				0			3			
प	–	–	म	–	पध	प	म	–	–ग	रेग	–,	सा	रे
दे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ	स	रे	ऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ,	ल	क्खि
x			2				0			3			

अंतरा

मरे	रे	–	म	–	–	म	प	–	–	प	–	–	–
भ	इ	ऽ	या	ऽ	ऽ	को	ढी	ऽ	ऽ	नो	ऽ	ऽ	ऽ
x			2				0			3			
प	ध	–	म	–	–	म	प	ध	प	ध	सांनि	रेंसां	नि
म	ह	ऽ	ल	ऽ	ऽ	ढु	म	ह	ऽ	ले	ऽऽ	ऽऽ	ऽ
x			2				0			3			
नि	नि	–	नि	–	–	नि	पध	–	–	म	–	म	–
ह	म	ऽ	को	ऽ	ऽ	ढि	यो	ऽ	ऽ	प	ऽ	र	ऽ
x			2				0			3			
प	–	–	म	–	पध	प	म	–	–ग	रेग	–,	सा	रे
दे	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽऽ	स	रे	ऽ	ऽऽ	ऽ	ऽ,	ल	क्खि
x			2				0			3			

(अन्य अन्तरे भी इसी अन्तरे की भाँति गाये जाते हैं)

इस प्रकार उक्त परंपरागत लोक गेय विधाएँ उत्तर प्रदेश में पल्लवित, पुष्पित हुई। जिसमें से कुछ गायन शैलियाँ शास्त्रीयता से जुड़ी रहने पर भी परंपरागत लोक रूप में विद्यमान हैं। जो आज लोक संगीत के क्षेत्र में उत्तर प्रदेश के सांगीतिक महत्व को दर्शाती हैं।

एकादश अध्याय

शोधकार्य का निष्कर्ष
एवं
उपलब्धि

शोधकार्य का निष्कर्ष एवं उपलब्धि

आधुनिक युग में भारतीय संगीत का क्षेत्र विकास के चरमोत्कर्ष पर है, जिसकी पृष्ठभूमि में उत्तर प्रदेश की अहम् भूमिका एक निर्विवाद सत्य है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सम्पन्न करते समय मैं ये निर्विवाद रूप से कह सकती हूँ कि शास्त्रीय संगीत में आज जो भी गायन शैलियाँ प्रचार–प्रसार में हैं उनमें से अधिकतम् शैलियों का मूल उत्तर प्रदेश में मिलता है। जिनमें संगीत के शास्त्रकार, रचनाकार, संगीतज्ञ, गायकों एवंविद्वानों का योगदान है। शोधप्रबन्ध को लिखने के बाद मैं ये कह सकती हूँ कि इस प्रदेश से संगीत के अच्छे–अच्छे ग्रंथ प्रकाशित हुये, संगीत के अधिक से अधिक घराने यहाँ पनपे जिनके गुरूओं की एक समृद्धशाली शिष्य परंपरा है। इस प्रदेश ने संगीत को और आगे बढ़ाया है तथा आज भी वाराणसी, इलाहाबाद, रामपुर, लखनऊ इत्यादि जैसे अनेक स्थानों पर इस दिशा में अद्वितीय कार्य हो रहें हैं।

यदि हम इलाहाबाद की ओर उन्मुख हों तो देखते हैं कि यही वह स्थान है जहाँ संगीत शिक्षण का एक विषय के रूप में विश्वविद्यालय स्तर पर अग्रणी स्थान हैं। इसी के साथ–साथ गायन के क्षेत्र में यहाँ पं० भोलानाथ भट्ट की शिष्य परंपरा में इस नगर ने उच्चकोटि के गायक दिये और गायन के चारों पट–ध्रुपद, धमार, ख्याल व ठुमरी के क्षेत्र में समृद्धशाली बनाया। इसी प्रकार ग्वालियर घराने के लक्ष्मण नारायण गुणे की शिष्य परंपरा भी इलाहाबाद में प्रचलित रही। संगीत सम्मेलनों के द्वारा भी उच्चकोटि के गायक कलाकार नगर में कार्यक्रम देते रहे, जिनके कारण यहाँ की सांस्कृतिक परंपरा एवं उसकी धरोहर जीवन्त है। उसी प्रकार यदि हम वाराणसी की ओर देखें तो मूर्धन्य कलाकारों में पं० बड़े रामदास, पं० हरिशंकर मिश्र और उनकी शिष्य परंपरा में प्रतिम कलाकर सराहनीय योगदान देते रहे जिनमें आज पं० राजन–साजन मिश्र इत्यादि का नाम उत्तर प्रदेश के साथ जुड़ा है। उसी प्रकार गायन के स्तम्भ, संगीत मार्तण्ड पं० ओंकार नाथ ठाकुर जो **बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय** के प्रथम संगीत विभागाध्यक्ष रहे,

उनकी परंपरा भी अत्यन्त दीर्घ रही और उस परंपरा के प्रो० चितरंजन ज्योतिषि, पं० बलवंत राय भट्ट **भावरंग,** प्रो० प्रदीप दीक्षित इत्यादि अन्य अनेक महान संगीतज्ञों के नाम जुड़ जाते हैं। वाराणसी के अतिरिक्त लखनऊ में जो उत्तर प्रदेश का प्राचीनतम् संगीत केन्द्र रहा, जहाँ दरबार में ठुमरी का विकास हुआ वहाँ के प्रचलित संगीतज्ञों में स्व० बेग़म अख़्तर, बी०एन०पाठक, पद्म भूषण डॉ० एस०एन० रातनजंकर, प्रो० एस०एस० अवस्थी, प्रो० अमरीश चन्द्र चौबे, प्रो० गणेश प्रसाद मिश्र आदि अनेक प्रतिभावान कलाकारों ने लखनऊ के संगीत जगत में स्थान बनाया। उसी प्रकार रामपुर की गायन परंपरा में आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति इत्यादि अन्य अनेक मूर्धन्य शास्त्रकारों व गायकों का संबंध उत्तर प्रदेश से ही रहा।

इसी सन्दर्भ में आगरे के दयाल बाग विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० सत्यभान शर्मा हैं जो प्रमुख संगीतशास्त्री व ध्रुपद–धमार और ख्याल के गायक है, जिन्होंने पुष्टिमार्गीय मन्दिरों की संगीत परम्परा में शिक्षा प्राप्त की एवं उसमें विशेष अध्ययन करके पुस्तकों का सृजन किया। अन्ततः मैं यही कहना चाहूँगी कि उत्तर प्रदेश की भूमिका गायन के क्षेत्र में अग्रगण्य है।

मैने अपने शोध प्रबंध को ग्यारह अध्यायों में विभाजित किया है। जिनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है–

प्रथम अध्याय :

"**विषय प्रवेश**" के अन्तर्गत मैंने भारतीय संगीत की गायन शैलियों के अन्तर्गत भारतीय संगीत की गायन शैलियों का क्रमिक विकास, उद्भव गीति, जाति गायन, प्रबन्ध, ध्रुपद, धमार इत्यादि, वर्तमान तक प्रचलित अधिकांश गायन शैलियों के बारे में वर्णन करने का प्रयत्न किया है। इस पृष्ठभूमि के उपरान्त शोध प्रबन्ध के विषय में प्रवेश करते हुये खंड 'ब' के अन्तर्गत हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के विकास में उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा एवं उसके योगदान की चर्चा की है, जिसके बाद श्रृंखला

रूप से अन्य अध्यायों में गायन शैलियों की वृहद चर्चा उत्तर प्रदेश के संबंध में कड़ी के रूप में जुड़ सकी है। इस अध्याय के अन्त में एक प्रमुख विचार विन्दु उभरकर सामने आया है कि आज के परिवेश में शास्त्रीय संगीत की वर्तमान स्थिति क्या प्रभावित हो रही है? किस प्रकार उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा को आगे बढ़ाया जाय?

द्वितीय अध्याय :

''**उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा के सन्दर्भ में ध्रुपद गायन शैली का योगदान**'' के अन्तर्गत ध्रुपद गायन का महत्व, उद्‌भव, विशेषताएँ और ध्रुपद की बानियों की पृष्ठभूमि में स्वामी हरिदास, तानसेन, इनकी शिष्य परम्परा और ध्रुपद के प्रमुख केन्द्र वृन्दावन, आगरा, रामपुर, अतरौली, सहारनपुर, फतेहपुर सीकरी, बनारस का बेतिया ध्रुपद घराना इत्यादि की चर्चा की है साथ ही कुछ प्रमुख ध्रुपद स्वरलिपि सहित भी लिये गये हैं और कुछ ऐसे कलाकारों का भी वर्णन किया है जिनका जन्म और शिक्षा तो उत्तर प्रदेश में ही हुआ किन्तु अन्य प्रदेशों की रियासतों के आमंत्रण पर जीविकोपार्जन के उद्‌देश्य से वे अन्य दरबारों से जुड़ गये।

तृतीय अध्याय :

शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय ''**सांगीतिक विरासत के रूप में धमार शैली का स्थान व योगदान**'' के अन्तर्गत मैंने ये स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि धमार गायन शैली के सन्दर्भ में ब्रज क्षेत्र की अद्वितीय भूमिका रही है अर्थात् धमार भी ब्रज भूमि के वृन्दावन क्षेत्र की देन है इसलिये धमार की भाषा भी हिन्दी मिश्रित ब्रज होती है। धमार की विषय–वस्तु बरसाना क्षेत्र से, जो ब्रज का है, सम्बद्ध है। इसके उपरान्त मैंने धमार गायन शैली की विशेषताएँ और धमार से सम्बन्धित स्थानों एवं घरानों में सहारनपुर, रामपुर, फतेहपुर सीकरी घराने और वृन्दावन क्षेत्र एवं यहाँ के कलाकारों का वर्णन करके धमार गायन शैली को उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित दिखाया है। धमार की परिभाषा, उसकी विषय–वस्तु, धमार के प्रकार एवं धमार की कुछ स्वरलिपियों को मैने इस प्रबंध में सम्मिलित किया है।

चतुर्थ अध्याय :

''सर्वाधिक प्रचलित गायन शैली के रूप में ख्याल का विकास व प्रचार'' के अन्तर्गत मैंने ख्याल का उद्भव, विकास, अर्थ, घरानों के रूप में ख्याल शैली का विकास, ख्याल के विविध घराने जैसे–आगरा, सिकंदराबाद का रंगीला घराना, अतरौली घराना, खुर्जा घराना, मथुरा का घराना, किराना घराना एवं सहसवान घराना, रामपुर घराना आदि का वर्णन किया है। जैसा कि सर्वविदित है कि ख्याल का विकास जौनपुर के शर्की सुल्तानों के दरबार से प्रारंम्भ हुआ। अतरौली घरानों की तरह आगरे घराने में भी ख्याल को प्रमुखता दी गई और फिर सहसवान और रामपुर घराने भी उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा में अत्यंत महत्वपूर्ण रहे। उत्तर प्रदेश में ही किराना घराना अत्यन्त प्रसिद्ध घराना हुआ और वाराणसी के ख्याल गायन से तो अनेक विधाओं का विकास हुआ, जिसकी परंपरा में बड़े रामदास जी, छोटे रामदास जी, श्यामसुन्दर मिश्र, राजन–साजन मिश्र आदि है। मैंने इस अध्याय के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के मूर्धन्य कलाकार गायकों जैसे अब्दुल करीम खाँ, उस्ताद फ़ैयाज़ खाँ, उस्ताद विलायत खाँ, श्री कृष्ण नारायण रातनजंकर, भास्कर राव बखले, गुलाम अब्बास खाँ, मुहम्मद खाँ, कुतुब अली खाँ, फिदा हुसैन खाँ इत्यादि का वर्णन किया है। अन्त में मैंने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि यद्यपि ख्याल आज की सर्वाधिक प्रचलित शैली है किन्तु ख्याल के घराने आज लगभग लुप्त प्रायः से है।

पंचम् अध्याय :

''उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में ठुमरी का स्थान व विकास'' के अन्तर्गत मैंने उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में समृद्धशाली परंपरा के रूप में ठुमरी की विशेष चर्चा की है। अधिकतर विद्वानों ने ये स्वीकार किया है एवं ऐतिहासिक तथ्य भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि ठुमरी के उद्भव, विकास तथा प्रचार में उत्तर प्रदेश की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। साक्ष्य के रूप में उत्तर प्रदेश के दो प्रमुख सांगीतिक

केन्द्र लखनऊ और बनारस में ठुमरी का रूप सँवारा गया। लखनऊ की ठुमरी गायकी का श्रेय पं० बिन्दादीन महाराज, नवाब वाज़िद अलीशाह और अन्य कलाकारों को है और लखनऊ उभरा हुआ ठुमरी अंग का रूप ही बाद में बनारस की पूरब अंग की ठुमरी का आधार माना जाने लगा।

इस अध्याय के अन्तर्गत मैंने ठुमरी का संबंध नृत्यकला से जोड़ते हुये कालांतर में नृत्य से पृथक होकर गीत की विशेष विद्या के रूप में ठुमरी का वर्णन किया है। साथ ही ठुमरी में प्रयुक्त रागों जैसे बरवा, पहाड़ी, काफी, भैरवी, देस, पीलू आदि में ब्रजभाषा का प्रयोग बताया है। ठुमरी की कुछ स्वरलिपियाँ भी देते हुये ठुमरी के कुछ प्रमुख कलाकारों का वर्णन किया है। फर्रूख़ाबाद निवासी ललनपिया का ठुमरी के क्षेत्र में विशेष योगदान है साथ ही काले खाँ उस्ताद अब्दुल करीम खॉ एवं वेगग अख़्तर की विशेष रूप से चर्चा की है।

षष्टम् अध्याय :

''टप्पा–शास्त्रीय संगीत की एक क्लिष्ट शैली एवं उत्तर प्रदेश में उसका विकास'' के अन्तर्गत मैंने लिखा है कि उद्‌गम की दृष्टि से यद्यपि इस शैली का पंजाब प्रांत से अटूट सम्बंध है किन्तु विकास और प्रचार की दृष्टि से उत्तर प्रदेश में लखनऊ और वनारस की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि टप्पा गायन शैली के प्रवर्तक गुलाम नबी शोरी मियाँ युवावस्था से ही लखनऊ आ बसे और बाद में वाराणसी आ गये, जहाँ टप्पा शैली का उन्होंने खूब प्रचार–प्रसार किया। इसके बाद मैंने टप्पा गायन की विशेषताएँ, लोकगीत के रूप में टप्पा, टप्पे के उपशास्त्रीय रूप का विकास, टप्पा गायन शैली के अंग, उसके घराने, टप्पा शैली का अन्य शैलियों पर प्रभाव और अन्त में टप्पे की कुछ स्वरलिपियाँ दी हैं।

सप्तम् अध्याय :

"गायन शैलियों के विकास में कुछ सांगीतिक परंपराओं का विशेष योगदान" के अन्तर्गत मैंने काशी की संगीत परंपरा, रामपुर की संगीत परंपरा, हवेली संगीत की परंपरा का विशद् वर्णन किया है। जैसे–काशी की संगीत परंपरा में जो प्रमुख विन्दु हैं वो है काशी का पियरी घराना, शिवदास –प्रयाग मिश्र घराना, श्री जगदीप मिश्र घराना, जयकरन मिश्र घराना, जिसके प्रतिनिधि शिष्य श्री बड़े रामदास मिश्र हुये। काशी की गायन परंपरा के अन्य विविध घराने और उनके प्रख्यात समकालीन संगीतज्ञ सुप्रसिद्ध गायिकाओं इत्यादि का वर्णन किया है।

रामपुर की संगीत परंपरा में प्रमुख केन्द्रों के साथ–साथ रामपुर की परंपरा से प्रभावित विविध घरानों की भी चर्चा की है जैसे– रामपुर से प्रभावित सहसवान घराना, ग्वालियर घराना, मैहर, आगरा घराना, महाराष्ट्र के संगीतकार और रामपुर, अवध के कलाकार और रामपुर इत्यादि का वर्णन किया है। इस अध्याय के अंत में उत्तर प्रदेश की अत्यंत महत्वपूर्ण एवं पुष्ट परंपरा हवेली संगीत के रूप में मन्दिरों की संगीत परंपरा का वर्णन किया है। हवेली संगीत की ये परंपरा उत्तर प्रदेश की संगीत परंपरा का आधार है जिसमें मथुरा, वृन्दावन, नाथद्वारा और कांकरौली के मन्दिरों को संगीत की दृष्टि से अधिक समृद्ध माना गया है और इस परंपरा के अवशिष्ट रूप आज भी विद्यमान है। पुष्टिमार्गीय मन्दिरों के संगीत का उद्‌गम व विकास तथा हवेली गान शैली के ध्रुपद और विष्णुपद का सोदाहरण वर्णन किया है। हवेली संप्रदाय के गायकों जैसे कुंभनदास, कृष्णदास, सूरदास, परमानंददास इत्यादि का वर्णन किया है।

अष्टम् अध्याय :

"आज के परिवेश में उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा में शिक्षण संस्थाओं व संगीत अकादमी का महत्वपूर्ण योगदान" के अन्तर्गत मैनें उत्तर प्रदेश की संगीत शिक्षण संस्थाओं द्वारा संगीत के प्रचार–प्रसार, यहाँ के सांगीतिक सम्मेलनों की परंपरा,

आकाशवाणी, दूरदर्शन एवं प्रेस, पुस्तकें तथा पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से इस प्रदेश की संगीत परंपरा के विकास में सहायता आदि का वर्णन किया है।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार द्वारा प्रत्येक प्रदेश में शिक्षा प्रणाली एवं पाठ्यक्रम का विस्तार किया गया। आज उत्तर प्रदेश में प्रादेशिक स्तर पर 'संगीत नाटक अकादमी', 'उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र' इलाहाबाद आदि का संगीत के प्रचार–प्रसार में विशेष योगदान है। साथ ही प्रदेश में अनेक विश्वविद्यालय एवं शिक्षण संस्थान इत्यादि संगीत के प्रचार–प्रसार में अद्भुत कार्य कर रहे हैं। संगीत संगोष्ठियाँ एवं प्रदर्शन भी इस प्रदेश में बहुत प्रचलित है। जगह–जगह संगीत की परिचर्चा, कार्यशालाओं, स्टूडियो रिकॉर्डिंग, नवोदित कलाकारों को प्रोत्साहन, पुरस्कार, इत्यादि के द्वारा संगीत के प्रचार–प्रसार वृद्धि हो रही है।

नवम् अध्याय :

''**उत्तर प्रदेश की वर्तमान सांगीतिक परंपरा में कुछ संगीत शास्त्रियों व कलाकारों का योगदान**'' के अन्तर्गत मैंने उन सभी महान् विभूतियों की संक्षिप्त चर्चा की है जिनमें वाराणसी, इलाहाबाद और लखनऊ का प्रमुख स्थान है। आज भी यहाँ गुणी कलाकार संगीत साधना में रत हैं और शिष्यों को विधिवत् शिक्षण दे रहे हैं। जिनमें श्री बलवन्त राय भट्ट **'भावरंग'**, प्रो० चितरंजन ज्योतिषि, प्रो० प्रदीप दीक्षित, प्रो० रामाश्रय झा, गीता बनर्जी, श्रीमती गिरिजा देवी, राजन–साजन मिश्र, डॉ० स्वतंत्र शर्मा इत्यादि के सांगीतिक योगदान की चर्चा मैंने की है।

दशम् अध्याय :

''**गायन शैलियों के सन्दर्भ में लोकसंगीत का महत्व**'' के अन्तर्गत मैंने उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोक संगीत की अनेक विधाओं जैसे–चैती, कजरी, सावन, रसिया, फाग व पूरबी आदि का वर्णन किया है। जिसमें बनारस, मिर्ज़ापुर, मथुरा, और ब्रज आदि स्थान अग्रणी रहा है। इस अध्याय को लिखते समय मैंने इस बात पर विशेष जोर

दिया है कि वास्तव में उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा इतनी विस्तृत, सहृदयी, उदार है कि शास्त्रीय संगीत के साथ–साथ इस प्रदेश ने लोकसंगीत को भी पूर्ण रूप से अपनाया और शास्त्रीय संगीत के समान ही यहाँ की लोकसंगीत की विधायें देश भर में प्रचलित है तथा लोकसंगीत के कलाकार देश के महानगरों के साथ–साथ बराबर विदेशों में भी आमंत्रित किये जाते हैं। साथ ही मैंने इस प्रदेश में प्रचलित कुछ लोक संगीत के पर्वों का भी वर्णन किया है जैसे **'बुढ़वा मंगल', 'गुलाब बाड़ी'** और ब्रज में फाग, होरी, रसिया के अनेक आयोजन अत्यंत प्रचलित है। आगरा और उसके समीप ही लोकसंगीत की एक आकर्षक विधा **'ख्याल लावनी'** का विकास हुआ जो हिन्दी उर्दू भाषा–भाषियों के मध्य अत्यंत लोकप्रिय हुई है। आज लोकसंगीत की ये सभी विधायें उत्तर प्रदेश की सांगीतिक परंपरा कोसमृद्ध कर रही हैं।

एकादश अध्याय :

'शोधकार्य का निष्कर्ष एवं उपलब्धि' के' अन्तर्गतमैंने भारतीय संगीत के क्षेत्र के विकास में उत्तर प्रदेश की अहम् भूमिका के बारे में बताने का प्रयास किया है साथ ही इस बात को प्रमुखता से दर्शाया है कि आज जो भी गायन शैलियॉ प्रचार–प्रसार में है उनमें से अधिकतम् शैलियों का मूल उत्तर प्रदेश में मिलता है। इसके अतिरिक्त शोध प्रबन्ध के ग्यारह अध्यायों के बारे में संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए निष्कर्ष एवं सुझाव दिये हैं।

अंत में कहा जा सकता है कि यद्यपि उत्तर प्रदेश ने इतने कलाकार दिये हैं, इतने घराने दिये हैं किन्तु मुझे यह अत्यंत खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि उत्तर प्रदेश की समृद्धशाली सांगीतिक परम्परा में ही संगीत की शिक्षा प्राप्त कर संगीत साधकों को कलाकार बनने के लिये उत्तर प्रदेश छोड़कर जाना पड़ रहा है। दिल्ली, मुम्बई आदि स्थानों में अपना स्थान बनाना पड़ रहा है। आज उत्तर प्रदेश में शास्त्रीय संगीत की वर्तमान स्थिति क्या है? जिस प्रदेश ने गायन, वादन, नृत्य के क्षेत्र में इतने घराने कायम किये हों, वहाँ वाराणसी को छोड़कर कहीं कुशल संगीतज्ञ नहीं रह गये।

लखनऊ संगीतज्ञों से शून्य हो गया है, काल के प्रवाह में राजाश्रय समाप्त हो जाने से संगीतज्ञ अपनी कला का अभ्यास करने के स्थान पर सामान्य विद्यालयां तथा संगीत शिक्षण की संस्थाओं में अध्यापन करना अधिक सुविधाजनक मानते हैं। सगीत विद्यालयां में भी कलाकार बनने की गुंजाइश नहीं है। केवल डिग्री/डिप्लोमा लेने–देने का ही धन्धा मात्र है। उत्तर प्रदेश के अनेक विश्वविद्यालयों में संगीत के विभाग और संकाय है। यहाँ लखनऊ में भातखंडे संगीत महाविद्यालय तथा इलाहाबाद में प्रयाग संगीत समिति है परन्तु पिछले अनेक वर्षों से इन विद्यालयों के माध्यम से उत्तर प्रदेश में कितने प्रतिष्ठित गायक और वादक आये। वाराणसी शनैः–शनैः क्यूँ वीरान हो रहा है? रामपुर में अब क्या बचा है? इलाहाबाद में शास्त्रीय संगीत की कितनी महफ़िले बची हैं?

ऐसा नहीं है कि प्रदेश में प्रतिभा का अभाव है। परन्तु उचित वातावरण न होने के कारण अच्छे कलाकार तैयार नहीं हो पाते। यह सही है कि राज्य सरकार संगीत के प्रचार–प्रसार तथा कलाकारों को सहायता देने में प्रयासरत है परन्तु प्रदेश की कोई सांस्कृतिक अथवा संगीत विषयक निश्चित नीति न होने के कारण शासकीय धन का सदुपयोग नहीं हो पाता। कलाकारों को यहाँ उचित मंच नहीं है। विदेश जाने के रास्ते दिल्ली, मुंबई, कलकत्ता के कलाकारों को तो है परन्तु उत्तर प्रदेश विशेषकर इलाहाबाद में वह सारे रास्ते अवरूद्ध है। आज जो मूल प्रश्न हमारे सामने है वह यह कि क्या इस संस्थागत प्रणाली से उत्तर प्रदेश के संगीत की महान और कलात्मक परंपरा सुरक्षित रह पायेगी? इन सभी प्रश्नों का समाधान हमें ढूँढ़ना है, चाहे वह प्रशासक हो, शिक्षक हो, कलाकार हो, विद्यार्थी हो अथवा अभिभावक। मैं निःसकोच रूप से कह सकती हूँ कि वर्तमान में उत्तर प्रदेश में संगीत का भविष्य संस्थागत शिक्षण पर आधारित है। अतः उत्तर प्रदेश की समृद्धशाली परंपरा को पुनर्जीवित करने के लिये आज नियोजन एवं नियंत्रण की अत्यन्त आवश्यकता है जिसके लिये हमें कुछ ठोस कदम उठाने ही होंगे जैसा कि–

सुझाव :

1. गुरूकुल पद्धति से संगीत के शिक्षण की व्यवस्था हो। होनहार छात्र–छात्राओं के लिये छात्रावासों की व्यवस्था हो, जिनमें उनको योग्य गुरूओं के साथ रखकर प्रशिक्षण दिया जा सके। आज बड़े कलाकारों की अधिक फीस होने के कारण ये शिक्षण के लिये उपलब्ध नहीं है। यदि ये कलाकार इन छात्रावासों के प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को उपलब्ध हो तो संगीत प्रशिक्षण की प्राचीन प्रणाली पुनर्जीवित कर अच्छे कलाकार तैयार होंगे। इस उद्‌देश्य को पूरा करने के लिये यदि समृद्धशाली वर्गों के सौजन्य से ऐसी एक या दो संस्था उत्तर प्रदेश में बनाई जा सके जिसका स्वरूप आश्रम जैसा हो, जहाँ प्रतिभाशाली विद्यार्थी बिना ऊँची फीस के इन कलाकारों से संगीत शिक्षा लें सकें। जिसके लिये कुछ ख्याति प्राप्त संगीतज्ञों को उत्तर प्रदेश में रहकर विभिन्न संगीत विद्याओं के उच्चकोटि के युवा कलाकार तैयार करने के लिये अनुबन्धित किया जाय। उदाहरण के लिये मैं यहाँ कलकत्ता की रिसर्च अकादमी की चर्चा अवश्य करूँगी, जहाँ उच्चकोटि के गुरूओं जैसे पं० वी०जी० जोग, गिरिजा देवी, उस्ताद निसार हुसैन खाँ आदि नेशिक्षा देकर अच्छे शिष्य तैयार किये। जिनमें मैं कुछ जैसे–अजय चक्रवर्ती रशीद खाँ, केतकी चक्रवर्ती आदि अच्छे कलाकार बनकर निकले हैं।

2. उत्तर प्रदेश में भातखंडे संगीत महाविद्यालय, प्रयाग संगीत समिति जैसी जो संगीत की उच्चस्तरीय शिक्षण के विद्यालय हैं, यहाँ पर सायःकाल कुछ घंटों के लिये अध्यापन समय निर्धारित होता हैं यदि शिक्षण स्तर को ऊँचा उठाने के लिये इन विद्यालयों का कार्यकाल प्रातःकाल से सायंकाल तक कर दिया जाय तो अवश्य इस दिशा में उन्नति हो सकती है।

3. उत्तर प्रदेश में अभी भी श्रेष्ठ कलाकार है किन्तु कोई समुचित प्रणाली न होने से इनसे शिष्य उतने लाभान्वित नहीं हो पा रहे हैं। अतः बंदिशों को दस्तावेजीकरण के माध्यम से सुरक्षित कर लेना चाहिये। यद्यपि 'उत्तर प्रदेश संगीत

नाटक अकादमी' में दस्तावेजीकरण की योजना है परन्तु कुछ वर्षों से वहाँ उथल–पुथल एवं राजनीति के कारण यह सारी योजनाएँ कार्यान्वित नहीं हो पा रही हैं।

4. बहुत से श्रेष्ठ व अच्छे कलाकार आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं हैं। अतः सरकार को चाहिये कि उत्तर प्रदेश की परंपरा को आगे ले जाने के लिये इन कलाकारों को ऐसी सुविधा प्रदान करें जिनसे इन कलाकारों के कैसेट्स, रिकॉर्ड तैयार हो सके, जिससे आम संगीत विद्यार्थी उनको सुन सकें। इसके अतिरिक्त इन कलाकारों पर वृत्तचित्र फिल्म भी बनाई जाय।

5. संगीत कला के लिये अलग से लाइब्रेरी हों, archives हों। जिस प्रकार दिल्ली और मध्य प्रदेश में है जिससे संगीत के विभिन्न शोधपरक विषयों पर चिन्तन हेतु सहायता मिल सके। किन्तु खेद है कि उत्तर प्रदेश में इस तरह की अलग से कोई सुविधा नहीं है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बदले हुये परिवेश में उत्तर–प्रदेश की सांगीतिक परंपरा, जिसका भविष्य संस्थागत–शिक्षण पर निर्भर हो गया है, की समृद्धि हेतु यदि उपर्युक्त सुझावों को अमल में लाया जाय तो निःसन्देह रूप से यह परंपरा अपनी गौरवशाली, समृद्धिशाली कड़ी से पुनः जुड़ सकेगी।

———◆———

संदर्भ ग्रन्थों की सूची

क्र०सं०	किताब का नाम	लेखक/लेखिका
1.	भारतीय संगीत का इतिहास	उमेश जोशी, मानसरोवर प्रकाशन महल, फिरोजाबाद 1957।
2.	उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास	पं० विष्णु नारायण भातखंडे, संगीत कार्यालय हाथरस, द्वितीय संस्करण।
3.	प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास	रांगेय राघव, इतिहास प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद।
4.	क्रमिक पुस्तक मालिका	पं० विष्णु नारायण भातखंडे, संगीत कार्यालय, हाथरस।
5.	मुसलमान और भारतीय संगीत	आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1974।
6.	वैदिक साहित्य का इतिहास	राजकिशोर सिंह, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1964
7.	संगीतशास्त्र	के० वासुदेव शास्त्री, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, 1961
8.	हमारा आधुनिक संगीत	डॉ०सुशील कुमार चौबे, उत्तर प्रदेश , हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1975
9.	भारतीय संगीत एक वैज्ञानिक विश्लेषण	डॉ० स्वतंत्र शर्मा, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली।
10.	पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धत्ति एवं भारतीय संगीत	डॉ० स्वतंत्र शर्मा, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली।
11.	भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण	डॉ० स्वतंत्र शर्मा, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली
12.	ख्याल गायन शैली विकसित आयाम	डॉ० सत्यवती शर्मा, पंचशील प्रकाशन, जबलपुर, 1994,

13.	भारतीय संगीत का इतिहास	ठाकुर जयदेव सिंह।
14.	भारत का इतिहास	हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, इलियट एण्ड डासन, भाग 5 का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक–डॉ० मथुरा लाल, शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा 1968
15.	घरानेदार गायकी	वा०ह० देशपांडे, अनुवादक–राहुल बारपुते, ओरिएण्ट लागमैन लिमिटेड, 1973
16.	प्राचीन भारत का संगीत	डॉ० धर्मावती श्रीवास्तव, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1967
17.	भारतीय संगीत का परिचय	पी० एस० त्रिपाठी, यंगमैन एंड कम्पनी, 1973
18.	भारतीय संगीत माला	डॉ० गणेशहरि रानाडे एवं पं०वि०ना० पटवर्धन, भारतीय संगीत प्रसारक मंडल, 1944
19.	संगीत प्रवीण दर्शिका	पं० नारायण लक्ष्मण गुणे।
20.	Glimpses of Indian Music	Vani Bai Ram, Kitab Mahal, Allahabad
21.	A historical Study of Indian Music	Swani Prajanananda Anandadhar Prakashan Calcutta, 1965.
22.	A story of Indian Music	Swani Prajanananda, Ramkrishna Vedanta Math, Calcutta, 1963,
23.	A history of Indian Music	O. Goswami, Asia publishing house, 1957.
24.	Introduction to the study of Indian music	E. Clements, Kitab Mahal, Allahabad.
25.	Music of india	S.S. Bandopadhyaya.
		D.B. Taropa-Rewala Sons & Co. Pvt. Ltd. 1958 .
26.	Music of India	H.A. Popley Y.M.C. Publishing house, New Delhi, 1978.

27.	Hindustani Music	G.H. Ranade, Popular Prakashan Mumbai. 1971.
28.	A treatise on music of Hindoostan	Capt. willard.

पत्रिकाएं

1.	संगीत	जून, 1969
2.	संगीत	जून, 1988
3.	संगीत	जून, 1976, डॉ० प्रेमलता शर्मा
4.	छायानट	73 वाँ अंक
5.	कला सौरभ	खैरागढ़, 1976-78
6.	संगीत कला विहार	जून–अगस्त, 1966